

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

मेरा यह चेहरा
धुलता है जाने किस अथाह गम्भीर, साँवले जल से,
झुके हुए गुमसुम टूटे हुए घरों के
तिमिर अतल से
धुलता है मन यह।

कोई छुपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता
छटपटा रही है छटपटा रही है।

परम अभिव्यक्ति
अविरत घूमती है जग में
पता नहीं जाने कहाँ, जाने कहाँ
वह है।

स्वोजता हूँ पठार... पहाड़...समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म-सम्भवा।

प्रतिबोध विशाखांक



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

उस पार से...

गजानन मुक्तिबोध

जमाने भर का कोई इस क्रूर अपना न हो जाए
कि अपनी जिंदगी खुद आपको बेगाना हो जाए।
सहर होगी ये शब बीतेगी और ऐसी शहर होगी
कि बेहोशी हमारे होश का पैमाना हो जाए।
किरन फूटी है जख्मों के लहू से: यह नया दिन है:
दिलों की रोशनी के फूल हैं- नजराना हो जाए।
गरीबुद्दहर थे हम; उठ गए दुनिया से; अच्छा है...
हमारे नाम से राशन अगर वाराना हो जाए।
बहुत खींचे तेरे मस्तों ने फाँके फिर भी कम खींचे
रियाजत खत्म होती है अगर अफसाना हो जाए।
चमन खिलता था वह खिलता था, और वह खिलना कैसा था
कि जैसे हर कली से दर्द का याराना हो जाए।
वह गहरे आसमानी रंग की चादर में लिपटा है
कफ़न सौ जख्म फूलों में वही पर्दा न हो जाए।
इधर मैं हूँ उधर मैं हूँ, अजल, तू बीच में क्या है?
फ़क़त इक नाम है, यह नाम भी धोका न हो जाए।

X

X

X

वो सरमस्तों को महफ़िल में गजानन मुक्तिबोध आया
सियासत जाहिदों की खंदए-दीवाना हो जाए।

(1964)

शमशेर बहादुर सिंह

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-1, अंक- 2, अक्टूबर-दिसम्बर 2014

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

व्यवस्थापन :

डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, अभिलाषा तिवारी,
जीवन सिंह, सुलेखा कुमारी, प्रतिमा सिंह,
नगीना लाल दास, आनंद प्रसाद नोनिया और अम्बर चौधरी

विशेष सहयोग :

पुनीत कुमार राय (छत्तीसगढ़), श्रीकांत पाण्डेय
(इलाहाबाद), लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी)
मनोज कुमार साव (उत्तराखंड), राजीव रंजन (दिल्ली)

आकल्पन : सोनू प्रजापति

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/- , आजीवन- ₹ 2500/-

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09836943231
Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

मुक्तिबोध विशेषांक

संपादन और प्रकाशन - अवैतनिक

पत्रिका में व्यक्त विचार से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं

‘मुक्तांचल’ से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र हावड़ा होगा।

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्ष	08 कृष्णदत्त पालीवाल :	गजानन माधव मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि
	24 प्रो. रविरंजन :	सौन्दर्यशास्त्र का मार्क्सवादी परिदृश्य और मुक्तिबोध
	29 रामनिहाल गुंजन :	मुक्तिबोध के प्रगीत-काव्य का संदर्भ
	33 डॉ. एम. श्याम राव :	आलोचकों के आइने में मुक्तिबोध
	43 देवनाथ सिंह आनंद गौतम :	मुक्तिबोध का आयाम
	49 डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय :	मुक्तिबोध काव्य का वैशिष्ट्य
ण	अनुशीलन	
	56 अतुल कुमार तिवारी :	मुक्तिबोध की कथा भाषा एवं संवेदना
	59 डॉ. सुनीता साव :	मुक्तिबोध की काव्य भाषा
	64 डॉ. पुनीत कुमार राय :	कथा शिल्पी मुक्तिबोध
सृज	68 सुलेखा कुमारी :	पत्रों के माध्यम से मुक्तिबोध
	विमर्श	
	72 विमल वर्मा :	क्लॉड ईथरली: त्रासदी का द्वन्द्ववाद
न	77 डॉ. जे. आत्माराम :	मुक्तिबोध के संदर्भ में रामविलास शर्मा के पूर्वाग्रह
	अन्तःपाठ	
सं	83 सुधीर रंजन सिंह :	अज्ञान के राक्षस के विरुद्ध: ब्रह्मराक्षस
	88 लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता :	‘कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं’: एक विश्लेषण
	92 डॉ. रामकिंकर पाण्डेय :	वह रहस्यमय व्यक्ति/ अब तक न पायी गयी मेरी परम अभिव्यक्ति है: ‘अँधेरे में’
चार	गवेषणा	
	98 प्रेमशंकर सिंह :	मुक्तिबोध के साहित्य चिंतन के स्रोत
	111 सुनील कुमार साव :	मुक्तिबोध के पाठकों की समस्याएँ
	117 सोनम सिंह :	वस्तु एवं रूप का अन्तर्सम्बन्ध एवं मुक्तिबोध

शोध	कविता	
	125 ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण':	एक हर्फनामा : मुक्तिबोध से जुड़ते हुए
समीक्षा	127 रामदरश मिश्र:	कुछ तो बचा है, लमहे, पैसे के समय में, अंगीठी, हँसी और दंश
	129 रविकांत :	रिटायरमेंट, कविता और जीवन, ब से बकरी
	131 देवेश पथ सारिया :	रेगिस्तान से नखलिस्तान, बावरी माँ
	132 अशोक 'अंजुम' :	ग़ज़ल
ण	133 अशोक मिजाज :	ग़ज़ल
	नई पहल नया कदम	
	134 राज कुमारी :	प्रतिकार
	कहानी	
सृजन	135 गजानन माधव मुक्तिबोध :	दो चेहरे
	137 सिद्धेश :	चाबुक
	140 सुरेश कांटक:	चकोह
	भाषान्तर	
संचार	146 इंदुप्रकाश कानूनगो	अजनबी (यिदिश कहानी) मूल कथाकार: आइजक बेशविस सिंगर
	गतिविधियाँ	
	151 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	154 अभिमत	
र	155 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	
	156 परिशिष्ट	विद्यार्थी मंच का घोषणा पत्र

संस्तुति

हिंदी साहित्य की सृजन यात्रा उन्नतसर्वाी सदी में भारतेंदु की 'अंधेर नगरी' से चलकर बीसवीं सदी में मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' तक प्रायः एक रेखीय रही है; इस अर्थ में कि रचनाकार एक सचेतक की भूमिका अदा करता है। चेताना उसका धर्म है, उसके समस्त सृजन के मर्म में चेताने वाली यही संचेतना सन्निहित होती है। जिस सामाजिक, राजनीतिक समस्या का संकेत 'अंधेर नगरी' में मिलता है उसी का विस्फोट 'अँधेरे में' नजर आता है। यह विस्फोट रचनाकार को तब सब से अधिक आलोड़ित करता है जब उसकी जान पहचान अपनी 'अब तक न पायी गयी परम अभिव्यक्ति' से होती है। छायावादोत्तर कविता के विकास क्रम में अवतरित कवि मुक्तिबोध सबसे अधिक पीड़ित, प्रखर और तनावपूर्ण भाष्य के प्रणेता रहे हैं। उनकी उद्घोषक पंक्ति 'मैं दूर हूँ' कविता में मुखर होती है- वे अपने को पूरी दुनिया से तथा दुनियावी बातों से असंग महसूस करते हुए कहते हैं 'तुम्हारी प्रेरणा से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है कि जो तुम्हारे लिए विष है, वह मेरे लिए अन्न है।' इतना ही नहीं पीड़ित इसलिए भी हैं कि "असफलता का धूल-कचरा ओढ़े हूँ/ इसलिए कि वह चक्करदार जीनों पर मिलती है/ छल-छद्म धन की/ किन्तु मैं सीधी-सादी पटरी-पटरी दौड़ा हूँ/ जीवन की।"- ऐसे में तनाव इसलिए रहता है कि 'कोई काम बुरा नहीं/ बशर्ते आदमी खरा हो/ फिर भी मैं उस ओर अपने को ढो नहीं पाता।' सदी बीत गई- नई सदी में सपनों का रंग कुछ खास चमकीला है। इतना कि आँखें मन की, तन की चुँधिया जायें। पिछली सदी में हम सपने बुनते थे- आज सपने बँटते हैं- वितरित होते हैं सपनों के गुच्छे- भीड़ बढ़ जाती है- क्रम टूट जाता है- सपनों का सैलाब ऐसा बेकाबू होता है कि बटोरने की धुन में सब कुछ बह जाता है। सारे गणित चूक जाते हैं कहीं इतना! इतना और इतना!! तो कहीं एक-एक निवाले को मुहाल। भाव के अभाव से जूझता समाज और उसका दर्पण साहित्य जिसमें प्रतिबिम्बित है बुद्धिजीवियों, रचनाकारों एवं सुधी जनों में बँटता पुरस्कार और मानदेय। साहित्य संस्कृति एवं कलाओं की दुनिया में भी 'संकल्प-धर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर' संवेदनशील रचनाकार की कलम से 'प्रकट होकर विकट' हो जाता है। हिंदी भाषा और आधुनिक साहित्य ने अपनी तीसरी सदी में मजबूत कदम रखा है। भारतेंदु से लेकर अब तक के डेढ़ सौ सालों का सृजन समय बहुरंगी एवं बहुआयामी है।

'मुक्तांचल' पत्रिका 'अभिव्यंजना' की अगली कड़ी है। इसके अकादमिक स्वरूप के बारे में कई तरह के सवाल जारी रहे हैं। मसलन, क्या पत्रिका सिर्फ विद्यार्थियों (छात्रों के अर्थ में) के लिए है। क्या पत्रिका में सिर्फ अध्यापक वर्ग ही लिखेगा या फिर बहुत चलताऊ सी सोच कि क्या यह पत्रिका लोगों की प्रोन्नति में सहायक होगी। अतः लोग किसी भी कीमत पर अपनी रचनाएँ प्रकाशित कराना चाहेंगे, फिर वही थ्योरी कि अगर नहीं तो फिर फायदा क्या और फायदा नहीं तो क्यों करें यह सब कुछ!

चिंतकों ने यह भी सुझाया कि अब अकादमिक जगत में सक्रियता की कोई प्रासंगिकता नहीं रही है। कुछ बंधुओं ने सीख दी कि तमाम पत्रिकाएँ जो 'बेस्ट सेलर' की दौर में हैं उनसे सीखें— पहले खरीदें तब बेचें— स्तर का जुगाड़ बनाएँ— इन सारे सवालों का जवाब इसी में है कि हम चक्कर दार सीढ़ियों को तोड़कर अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सीधी सड़क बनाना चाहते हैं। 'भ्रष्टाचार' आज हर मोर्चे पर हावी है। साहित्य— संस्कृति को उसने अपने वर्चस्व के बहाने चेरी बना लिया है। अकादमिक जगत भी उस 'अंधेरे' से मुक्त नहीं है। इस अंधकार को थाहने के लिए 'विद्यार्थी मंच' 'मुक्तांचल' के माध्यम से एक नये परिवेश को गढ़ने की कोशिश कर रहा है। इस कोशिश में जहाँ वरिष्ठ चिंतक एवं रचनाकार शामिल हैं वहीं पढ़ने— लिखने एवं शोध करने वालों की नई जमात भी। हमारे पास छल—छद्म से अलग वह विश्वास है जो काम करना सिखाता है, माँजता है और निपुणता की ओर ले जाता है। आज जरूरत है ऐसे परिवेश को तैयार करने की जो कम से कम ईमानदारी, नैतिकता और औचित्य की रक्षा कर सके। सारी भूल—गलतियाँ अगर 'जिरह बख्तर' पहन लेंगी तो फिर मानवीय मूल्य कहाँ ठहर पायेंगे।

इक्कसवीं सदी में साहित्य सृजन की नई उद्घोषणाओं से उत्प्रेरित है। पिछले दिनों के सचेतक सर्जनकार की परम्परा क्षीण होती जा रही है। कहानी हो या कविता बात दिल से न निकलकर दिमाग से निकलती है और थोपी हुई लगती है। जिस दिमाग से बातें चलती हैं वह भी बहुत शातिर है भारी पलड़े पर चढ़कर कागजी लड़ाई लड़ना आसान है। इन तमाशाई लड़ाइयों से इनाम—इकराम की उम्मीद लगी होती है मुक्तिबोध ने जिस 'आत्म सम्भवा' की गुहार की थी वह कहाँ है? कहाँ है वह 'लश्कर जो हार का बदला चुकाने आयेगा।' बहुत जरूरी है मित्रों को खोजना। 'मुक्तांचल' सभी संवेदनशील सर्जनकारों, चिंतकों एवं पाठकों को जोड़ने के लिए संकल्पित रहेगा। अभी तक जिन वरिष्ठ लेखकों, चिंतकों एवं रचनाकारों का रचनात्मक सहयोग हमें मिलता रहा है, वह अमूल्य है— 'विद्यार्थी मंच' एक मोर्चे पर खड़ा है— अंधेरे से लड़ना प्रत्येक युग में मुक्तिबोध की परम्परा से जुड़ना होगा। आइए, हम उजाले के लिए अंधेरे से लड़ने का संकल्प लें।


संपादक

गजानन माधव मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि

कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
समकालीन आलोचना के लब्ध प्रतिष्ठ हस्ताक्षर।
हिन्दी अकादमी से लेकर अनेकानेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित।
संप्रति: साहित्यालोचन के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय।

प्रगतिवाद के प्रखर और गम्भीर कवि-आलोचकों में मुक्तिबोध का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आलोचना-सिद्धांतों का इतिहास साक्षी है कि संसार भर में रचनाकार आलोचक आगे रहे हैं। ये रचनाकार नयी प्रवृत्तियों-विचारधाराओं, आंदोलनों आदि के लिए और कभी-कभार आत्मरक्षा के लिए समीक्षा का मार्ग चुनते हैं। पिछड़ते हुए आलोचक को रचनाकार-आलोचक रचना की सही दृष्टि एवं दृश्य से परिचित कराने के लिए नयी समीक्षा दृष्टि देता है। आस्थावादी रचनाकार मुक्तिबोध को छायावादी तथा प्रगतिवादी आलोचकों से शिकायत रही है कि वे कविता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में असमर्थ रहे हैं। प्रयोगवाद तथा नयी कविता का सही मूल्यांकन न हो पाने के लिए वे प्रगतिवादी आलोचकों से ज्यादा नाराज हैं क्योंकि उन्हीं से उम्मीद भी थी। वे जानते थे कि सच्चा मार्क्सवादी ही सही सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों की गहराई में जाकर इन नयी प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण कर सकता है। यह देखकर उन्हें अपार कष्ट है कि अपनी खींचातानी, सिद्धांत की थानेदारी, नासमझी के कारण प्रगतिवादियों ने नयी कविता का पूरा क्षेत्र अपने प्रतिपक्षियों को सौंप दिया है। आस्था से मार्क्सवादी मुक्तिबोध व्यक्तिवाद-कलावाद आदि पूँजीवादी पतनशील वृत्तियों के सिद्धांतकारों के पूरी तरह खिलाफ थे। नयी कविता में 'लघु मानव' वाला सिद्धांत उन्हें चैन नहीं लेने देता था। "किसी जमाने में प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद के निकट थी।" किन्तु प्रगतिवादियों की गलती की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा, "...इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी प्रवक्ताओं ने अपनी वही पुरानी छर्रे वाली बंदूक और वही पुराने तमंचे निकाले जिनकी आज कोई कीमत नहीं। संक्षेप में, उनके पास, प्रगतिवादी प्रवक्ताओं के पास मध्यमवर्गीय अन्धसिद्धांतवादी अहंकार तो था, किन्तु कला की सृजनशील प्रक्रिया में, कला संबंधी समस्याओं में वह सूक्ष्म गति नहीं थी जो एक जीवन-मर्मज्ञ तथा कला-मर्मज्ञ के लिए आवश्यक होती है, यही नहीं, लेखकों से, विशेषकर नये ढंग के लेखकों से वे तन कर रहते थे। सिद्धांतों के आयवरी टावर में रहकर (अपनी ठाठदार रोजी-रोटी का सवाल वे पहले ही हल कर चुके थे) वहाँ के बुजुर्गों से वे लेखकों के नयेपन पर और नये लेखकों के यूथ पर अपने तीर कमान का प्रयोग करते थे- खूँखार होकर।" ऐसी भयानक स्थिति से प्रगतिवादी समीक्षा को उबारने और पनपाने के लिए मुक्तिबोध को कला-संबंधी समस्याओं से सीधे जूझना पड़ा। उनका समस्त चिंतन इन्हीं समस्याओं को हल करने के लिए उनके आलोचना-साहित्य में प्रतिफलित है। नयी कविता से पूरी तरह सम्बद्ध मुक्तिबोध ने अपना सैद्धांतिक चिंतन

‘नयी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र’, तार सप्तक के कवि-वक्तव्य में व्यक्त किया है। गहन-चिंतन-मनन के बाद व्यावहारिक समीक्षा की कृति ‘कामायनी: पुनर्विचार’ भी लिखी गई है- जिसमें ‘कामायनी’ की गर्व-दर्शन पर आधृत विस्तृत व्याख्या है। इस व्यावहारिक समीक्षा में उन्होंने मार्क्सवादी कला-दर्शन की दृष्टि का खरा प्रमाण दिया है।

मुक्तिबोध की दृष्टि के संघर्ष का बड़ा हिस्सा नयी कविता के व्यक्तिवादी-कलावादी अन्तर्मुखी साहित्य सिद्धांतों से था। वे जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के सिद्धांतों पर प्रहार करना चाहते थे। नयी कविता में पनपनेवाले दो वर्ग-दो धाराएँ-अलग-अलग सिद्धांतों से परिचालित थीं। समीक्षक के टूटते जीवन-संबंध का इशारा देते हुए कहा, “गरीब जनता और खादीधारी नेता के बीच, क्लर्क और अफसर के बीच दूरियाँ और खाइयाँ मुँह फाड़े खड़ी हैं- किसान-मजदूर और पूँजीपति-जमींदार के बीच की दूरियों का तो क्या कहना। मानव-संबंध टूट-फूट गये हैं, उलझ गए हैं। समाज में शोषितों, उत्पीड़कों और उनके साथियों का जोर बढ़ गया है। नयी कविता के क्षेत्र में दो दल तैयार हो रहे हैं- एक वर्ग वह है जो उच्च मध्यवर्ग का अंग है, दूसरे वे हैं जो निचले गरीब मध्यवर्ग से संबंधित हैं। उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में वरन् साहित्य-संबंधी उनके सिद्धांतों में परिलक्षित होती है।”

इन दो धाराओं में- प्रथम के प्रतिनिधि अज्ञेय हैं, दूसरी धारा के प्रतिनिधि- मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने एक ईमानदार रचनाकार और आलोचक के रूप में अपनी सम्पूर्ण शक्ति को मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र के गढ़ने में अर्पित किया है- नयी दृष्टि के मूल में-

1. “जीवन और जगत के द्वन्द्व- जीवन के आंतरिक द्वन्द्व- इस सबको सुलझाने की, और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा रही।”

2. “क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।”

3. “मैं कलाकार की ‘स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति’ (माइग्रेशन इंस्टिक्ट) पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय,

उलझन भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। बिना उसके इस विशाल जीवन की परिसीमा, उसके तट-प्रदेशों के भूखण्ड, आँखों से ओट ही रह जायेंगे।” संपूर्ण जीवन को भीतर-बाहर से देखने-समझने की इस बलवती स्पृहा ने ही मुक्तिबोध के कवि और आलोचक का निर्माण किया है।

मुक्तिबोध के काव्य-चिंतन में कविता की व्याख्या उदात्त और विकासमान सामाजिक वस्तु मानकर की गई है। काव्य आत्मिक प्रयास होने पर भी मूलतः सामाजिक-सांस्कृतिक भूमि पर आधृत होता है। मुक्तिबोध ‘काव्य: एक सांस्कृतिक प्रक्रिया’ नामक निबंध में स्थापित करते हैं कि काव्य में सांस्कृतिक परंपरा का समाहार होता है और उसके मूल्य वैयक्तिक न होकर सामाजिक होते हैं। वे इसी अर्थ में प्रयोगवाद तथा नयी कविता को भी सांस्कृतिक परंपरा का अंग मानते हैं। नयी कविता के आत्म-संघर्ष में कवि मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष भी दुर्निवार रूप से जुड़ा रहा है। नयी कविता की प्रवृत्ति- पण्डितों, आचार्यों, आलोचक वरेण्यों को समझ में नहीं आ रही थी और वे बहस में प्रवृत्त थे- क्योंकि “जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के संबंध में, सिद्धांतों के बारे में बहस शुरू हो जाती है।” बहस को गलत दिशा में जाते देखकर मुक्तिबोध को स्वयं नयी कविता के सिद्धांतों तथा दृष्टियों का स्पष्टीकरण करना पड़ा। कारण “चिन्ता की बात यह है कि नयी काव्य प्रवृत्ति के क्षेत्र के भीतर से ऐसी कोई आलोचना अभी उठी नहीं है जो उस प्रवृत्ति की सीमाएँ बनाएँ और उसकी विस्तृत समीक्षा करें।” नयी कविता में कला के वस्तु और रूप के प्रश्न संवेदनशील कवि हृदय को उसकी आसपास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष की गहन चुनौती देते हैं। ये दो प्रकार की हैं- 1. तत्त्व संबंधी, 2. रूप संबंधी। नये कवि के हृदय में जो तनाव-घिराव है- वह कविता में फैलना चाहता है- इस प्रकार कविता कवि हृदय का आत्म विस्तार है। आत्म-विस्तार की मूल मनोवृत्ति ही कवि को मानव वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्षों की ओर प्रवृत्त करती है। ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध मानते हैं कि कविता

वैयक्तिक प्रयास न होकर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिभा से जुड़ा प्रयास है। तभी तो “कविता संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया घातों को प्रकट करना चाहती है।” ऐसा करने के लिए उसे न केवल अनुभूति पक्ष वरन् वस्तु पक्ष के उससे संबंधित परिज्ञान पक्ष के विकास की अपेक्षा है। मुक्तिबोध जानते हैं कि ज्ञान पक्ष संवेदना से हटकर काव्योपयोगी नहीं रहता। काव्योपयोगी वह तभी रहता है, जब वह कवि की मूल संवेदनशक्ति का हिस्सा बन जाता है।

आज के काव्य पर पुराने काव्य-लक्षण अपर्याप्त सिद्ध होते हैं। क्योंकि “कविता पुराने काव्य युगों से कहीं अधिक, बहुत अधिक अपने परिवेश के साथ द्वन्द्व स्थिति में प्रस्तुत है। इसलिए, उसके भीतर तनाव का वातावरण है।” इसीलिए उसमें ‘घिराव का वातावरण’ है। कवि-हृदय द्वन्द्वों का समूह है- वास्तविकता को हार्दिकता से नयी बौद्धिक-दृष्टि की सूक्ष्मता से समझने की जरूरत है। तभी जीवन-जगत् की व्याख्या के साथ ‘अन्तर्जीवन के भीतर के आंदोलन आरपार फैली हुई वास्तविकता के संदर्भ में व्याख्यायित-विश्लेषित और मूल्यांकित’ हो सकते हैं। मानव वास्तविकता के मार्मिक पक्ष बौद्धिक प्रतिभा के फलस्वरूप संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना से अधिक पुष्ट होंगे। अनुभूति ज्ञान प्रेरित संभावना से जुड़ सकेगी और युग की वास्तविकता का यथार्थ दर्शन कविता में व्यक्त हो सकेगा। कविता में वैविध्य युक्त, स्पन्दमय, वेदनामय चित्रण के लिए तत्त्व के साथ रूप-शक्ति भी चाहिए- ऐसी स्थिति में तीव्र मानसिक संवेदना घातों की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने वाली काव्य-शैली को अधिक सक्षम बनना होगा। कवि-हृदय सूक्ष्म संवेदनाओं को मूर्तिमान करने के साथ वास्तविक जगत् की लहर की वाणी दे सके। “पुरानी शास्त्रीय शब्दावली के कहा जाए तो उसे भाव-पक्ष के साथ विभाव-पक्ष का चित्रण करना होगा।” कह सकते हैं कि मुक्तिबोध का यह चिंतन आचार्य शुक्ल के काफी नजदीक है।

मुक्तिबोध मानते हैं कि नया कवि तीन क्षेत्रों में एक साथ संघर्ष करता है- 1. तत्त्व के लिए संघर्ष, 2. अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, 3. दृष्टि विकास का

संघर्ष। इसमें प्रथम का संबंध मानव वास्तविकता के सूक्ष्म अवलोकन से है- दूसरे का संबंध चित्रण सामर्थ्य से है और तीसरे का संबंध- सिद्धांत-दृष्टि-थियरी से है- विश्व दृष्टि के विकास से है- वास्तविकता की व्याख्या से है।

काव्य या कला का वस्तुत्व-अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का एक अंग है। जीवन जगत् के उद्वेलन से वस्तुतत्त्व 1. तरंगाणित, 2. मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित, 3. जीवन-मूल्यों तथा पूर्वोत्तर अनुभवों से आलोकित, 4. अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं। इस प्रकार काव्य समरूपों, अनुभवों, जीवन-मूल्यों से संश्लिष्ट, जीवन चित्रों को व्यापकता एवं गहराई से उपस्थित करता है। मुक्तिबोध कला के तीन क्षणों की चर्चा भी करते हैं-

1. तरंगाणित होकर जब अन्तर्तत्त्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं, तभी उनमें रूप आ जाता है- अर्थात् कल्पना-बिम्ब या स्वर-प्रवाह से वे संवृत्त हो उठते हैं, कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध-पक्ष अर्थात् ज्ञान-वृत्ति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन क्षण है- यह कला का प्रथम क्षण है।

2. उसके अनंतर, मानसिक दृष्टि जो इस तत्त्व रूप को देख रही थी, उसके रस में निमग्न-सी होने लगती है, साथ ही बोध पक्ष यानी ज्ञान वृत्ति की सक्रियता के फलस्वरूप वह तटस्थ भी हो जाती है, वह अन्तःप्रवेश करने लगती है, साथ ही वह बाहर से पर्यालोकन भी करती है। अतः रस का प्रवाह या भाव प्रवाह- अन्य समस्वभावी और समरूप अनुभवों को उस तत्त्व में मिला देता है- दूसरी ओर हृदय में संचित जीवन-मूल्यों की अर्थात् हमारे अन्तःकरण में स्थित आदर्शात्मक सत्ता की भी एक धारा इस तत्त्व में मिलने लगती है। कल्पना उद्दीप्त होकर, संवेदना से अलुप्त उस मूल तत्त्व की समरूप अनुभवों और जीवन मूल्यों से संश्लेषित करती हुई, एक संश्लिष्ट जीवन शाला उपस्थित कर देती है। यह कला का दूसरा क्षण है।

3. वेदनात्मक हेतु और संवेदनात्मक अभिप्राय किसी व्यापक मार्मिक जीवन महत्त्व से न्यस्त हो जाते हैं और हमारे लिए वह आत्मतत्त्व इतना महत्त्वमय मालूम होता है कि हम उसकी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाते हैं। इस छटपटाहट को जब हम शब्द, रंग तथा स्वर में अभिव्यक्त

करने लगते हैं, तब कला का तीसरा क्षण शुरू हो जाता है। अभिव्यक्ति के साधन, अर्थात् हमारे लिए भाषा सामाजिक है। इसके उसके शब्द-संयोग, भाव-परम्परा और ज्ञान परम्परा से पूर्व हैं। अतएव हमें अपने हृदयगत तत्त्वों को उनके मौलिक रूप, रंग और भार में स्थापित और प्रकट करने के लिए नये शब्द-संयोग बनाने या लाने पड़ते हैं। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो नवीन वक्रोक्तियों और भंगिमाओं का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही, कल्पना शक्ति भी नवीनतम रूप बिम्बों का विधान करती है, जिससे मनस्तत्त्व अपने मौलिक रूप में प्रकट हो सकें। कला के इन तीन क्षणों की चर्चा अपने आलोचनात्मक साहित्य में मुक्तिबोध ने अनेक बार की है। इस चर्चा में वे न भारतीय काव्यशास्त्र का सहारा लेते हैं, न पाश्चात्य काव्यशास्त्र का, दोनों को मिलाकर एक नया समाजशास्त्रीय काव्य-स्वरूप-प्रक्रिया का सिद्धांत बनाते हैं। यह सिद्धांत हिंदी साहित्यशास्त्र के लिए मौलिक तथा नवीन उपलब्धि है। यह सिद्धांत तत्त्व और रूप के गतिमान संबंधों पर बल देता है, कला के संघर्ष को दोहराता है तथा अभिव्यक्त-सौन्दर्य को ग्रहण करता है। इस प्रकार कविता मात्र आत्मोद्घाटन नहीं है, न ही आत्मप्रकटीकरण है, वह जीवन जगत् को समेटे हुए सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है। कविता में भावोद्देश्य व्यक्तिगत न हो कर सामूहिक होता है। मुक्तिबोध के शब्दों में “सच तो यह है कि मनुष्य जब काव्य में अपने आपको प्रकट करता है तब केवल आत्म-प्रस्थापना ही नहीं करता वरन् वह आत्म-औचित्य की स्थापना करता है। आत्म-औचित्य की स्थापना के द्वारा ही वह आत्म प्रस्थापना करता। फलतः वह अपने भीतर के विशिष्ट को बाहर के सामान्य से मिला देता है। यह ‘सामान्य’ ही जीवन-मूल्य हैं- जीवन-दृष्टियाँ हैं जो कवि ने बाह्य-विस्तृत जीवन में पायी हैं। इस विशिष्ट के सामान्य में मिलने का शुभ परिणाम यह होता है- आत्मबद्धता का घेरा टूट जाता है। नये संवेदना पुंज नये मूल्यों और दृष्टियों से मिलकर आनंद रूप हो जाते हैं- इस प्रकार काव्यानुभव-आनंदानुभव से अलग नहीं होता। किन्तु यह आनंदानुभव सामाजिक अनुभवों की व्यापकता पर टिका होता है। जितना ज्यादा सामाजिक अनुभवों का फैलाव होता है, उतना ही

यह व्यापक होता जाता है। क्योंकि कवि विशिष्ट को सामान्य बनाने के लिए निरंतर भाव-संशोधन तथा भाव-संपादन करता जाता है। “यह कवि की आंतरिक प्रक्रिया का एक अंग है। सच तो यह है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।” क्योंकि अभिव्यक्ति के आते ही भाव-पथ का समाजीकरण हो जाता है। कविता की यही दृष्टि हमें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की ओर ले जाती है। हमारी भाव संपदा, ज्ञान संपदा, अनुभव समृद्धि इस अन्तर्तत्त्व व्यवस्था का एक अंग है- इसी अर्थ में कला आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया है। उसमें बाह्य आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरण के बाह्यीकरण का एक निरंतर चक्र है। यह चक्र मननजन्य न होकर कर्मजन्य है। “जो हो, कला आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एक रूप है।”

काव्य बाह्य जीवन के साथ सामंजस्य में या उसके साथ द्वन्द्व रूप में उपस्थित होता है। इस प्रकार काव्य सामंजस्य और द्वन्द्व को लेकर चलता है। जीवन का आभ्यन्तर या बाह्यीकरण, विश्व व्यापी सामंजस्य या द्वन्द्व या दोनों के भिन्न रूप में आता है। किन्तु बौद्धिकता प्रधान नयी कविता में ‘सामंजस्य से अधिक द्वन्द्व ही है।’ अर्थात् यह रसाश्रित कविता न होकर विचाराश्रित कविता है। “आज का पद्याभास गद्य मुख्यतः यह बात व्यक्त करता है कि इसमें सुमधुर लयात्मक किन्तु गणिततन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं।” अतः कविता में व्यापक तथ्य विविध जीवनानुभवों की सम्पन्नता और उत्पीड़ित मानव के दुःख दर्द को वाणी मिलनी चाहिए। इसी अर्थ में कविता सामाजिक शोषण से-अत्याचार से मुक्ति का साधन है। नयी कविता जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि का ढेर नहीं है, नवीन सौन्दर्य का विकास एवं परिष्कार भी है। इसलिए समाजशास्त्रियों को चाहिए कि वे इस काव्य की ‘विद्रूपता’ पर ही न ठहरे रहें, उसके ‘सौन्दर्य-बोध’ के रहस्य का भी उद्घाटन करें। जब तक प्रगतिवादी आलोचना यह कार्य नहीं करती है, अधूरी है। यह भी समझना चाहिए कि “नयी कविता के विभिन्न कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। ...साथ ही नयी कविता में स्वयं कई भावधाराएँ हैं, एक भावधारा नहीं।” सच्चे आलोचक को नयी कविता की प्रतिक्रियावादी तथा प्रगतिशील धाराओं का नये ढंग से मूल्यांकन विश्लेषण

करना चाहिए।

मुक्तिबोध के काव्य-स्वरूप की व्याख्या से स्पष्ट है कि वे सामाजिक पक्ष के साथ कविता के भावात्मक सौन्दर्यात्मक पक्ष पर भी ध्यान देते हैं। वे उस हठी प्रगतिवादी की भाँति नहीं हैं जो केवल सामाजिक पक्ष का ही आग्रही है। पश्चिमी मार्क्सवादी आलोचक काडवेल कविता के सामाजिक पक्ष के साथ सांस्कृतिक-पक्ष के आग्रही रहे हैं। वे कविता के मानसिक पक्ष की भी विस्तार से चर्चा करते हैं। स्वयं जार्ज लुकाच के चिन्तन में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आधार के साथ ऐतिहासिक भौतिकवादी व्यापार सम्मिलित है। मुक्तिबोध ने इन दोनों विचारकों से आगे बढ़कर काव्य को सांस्कृतिक-प्रक्रिया कहने के साथ उसके जटिल सृजन-प्रक्रिया-व्यापार की एक तार्किकतापूर्ण व्याख्या भी की है। कविता के भाव-विभाव की व्याख्या मुक्तिबोध ने जिस ढंग से की है, वह भारतीय काव्यशास्त्र की नवीन दृष्टि का उद्घाटन है। काव्य स्वरूप के नये पक्षों के उद्घाटन में मुक्तिबोध प्रगतिशील चिन्तकों में सबसे आगे हैं। वैयक्तिक ईमानदारी उसके वर्ण्य-विषय की ईमानदारी है, “ज्ञानात्मक आधार को विस्तृत से विस्तृत करने, उसे अत्यन्त व्यापक बनाने, उसके आधार पर जीवन-स्वप्न विकसित करने, जीवन स्वप्न के अनुसार मानसिक प्रतिक्रियाओं को दिशा देने अर्थात् अपने ही अन्तःकरण का संशोधन सम्पादन करने में ही व्यक्तिगत ईमानदारी परिलक्षित होती है।” इसीलिए सच्चा कवि वस्तु या दृश्य या भाव से जब एकाकार हो जाता है तब सौन्दर्य-बोध उत्पन्न होता है। इसलिए सौन्दर्य-बोध ही जीवन-मूल्य-बोध है। मुक्तिबोध-वर्ण्य विषय के साथ ही उसके रचनात्मक ध्वंसात्मक प्रभाव की चर्चा विस्तार से करते रहे हैं। मनुष्य ही मार्क्स के दर्शन का केन्द्रबिंदु है और वही कलाकार का भी। यथार्थवादी सौन्दर्यशास्त्र की प्रधान समस्या यही है- मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रस्तुतीकरण। मुक्तिबोध भी इसी प्रस्तुतीकरण का समर्थन करते हैं। इस प्रकार काव्य-विषय को लेकर पाश्चात्य चिन्तक तथा हिंदी के प्रगतिवादी चिंतकों में गहरी समानता है।

प्रेरणामय मानवतावादी दृष्टि के समीक्षक मुक्तिबोध वर्ग-संघर्ष, जन-क्रान्ति, सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

तथा मानव की बृहत्तर संभावनाओं में निष्ठा रखते हैं। साहित्य में वे व्यक्तिवादी मूल्यों के खण्डन के साथ ही समाज-मूल्यों की लोकमंगलवादी कल्याण दृष्टि की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में काव्य-प्रयोजन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की सापेक्षता है। कलाकार प्रेरणामय मानवतावादी भाव-धारा से मानव के उत्कर्ष तथा ज्ञान के साथ शोषणकारी शक्तियों को ललकारता है, वह जन और जनता को दृष्टि या मूल्य देता है। रचनाकारों तथा समीक्षकों के आग्रहों तथा अनुरोधों को प्राप्त करके उनके अनुसार जीवन का आभ्यन्तीकरण नहीं करता। तो वह रचनात्मक शक्ति को कलात्मक प्रभाव में ढाल नहीं पाता। इसलिए जीवन-जगत् के संपन्न ज्ञान-बोध एवं भाव-बोध से लेखक एक अपना सौन्दर्यशास्त्र रचता है। इस ‘सौन्दर्यशास्त्र’ में लेखक की साहित्यिक दृष्टि के सभी बीज निहित रहते हैं।

मुक्तिबोध का मूल्य-संघर्ष स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के काल विशेषतः नयी कविता के काल में प्रचलित तथा प्रचारित प्रगति-विरोधी जीवन-मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष से है। नयी कविता में राजनीतिक-सांस्कृतिक स्तर पर प्रगतिशील मूल्यों की अभिव्यक्ति प्रगतिशील विचारधारा के मुक्ति-संघर्ष में हुई। प्रगतिवाद-प्रयोगवाद तथा नयी कविता के साथ-साथ जो सुविधाभोगी, अवसरवादी उठाईगीर मध्यवर्ग उदित हुआ, उसने व्यक्तिवादी-कलावादी प्रवृत्तियों और मूल्यों को साहित्य में स्थान दिया। मुक्तिबोध इन कलावादी-व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के प्रसार एवं कारणों की व्याख्या करते हुए सामंतवादी-साम्राज्यवादी-पूँजीवादी देशी-विदेशी शक्तियों के स्रोत तक पहुँचते हैं। ऐतिहासिक सामाजिक शक्तियों के कार्य-कारण संबंध की तार्किकता से वे इस मत पर विश्वास करते हैं कि नयी कविता में दो वर्ग हैं- 1. उच्च मध्य वर्ग 2. निम्न मध्य वर्ग। उच्च वर्ग स्वतंत्रता के बाद अवसरवाद, भ्रष्टाचार, पतन का शिकार हुआ है एवं इनका पूँजीवाद से गहरा रिश्ता है, इसी वर्ग ने पश्चिमी साम्राज्यवाद की शीतयुद्धकालीन भावधारा-विचारधारा को प्रश्रय देकर प्रचारित करना चाहा है। इसी धारा का उद्देश्य प्रगतिवादी विचारधारा के संघर्ष मूल्यों को गुमराह करके कलावादी मूल्यों की स्थापना करते हुए जनता को गुमराह

करना है। मुक्तिबोध ने लिखा, “स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत में एक और अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद और स्वार्थपरता की पार्श्व भूमि में नयी कविता के क्षेत्र में उसने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किए और कुछ सिद्धांतों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई। ये सिद्धांत और उनके हमले वस्तुतः उस शीत युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लंदन और वाशिंगटन से ली गई थी। नयी कविता के आसपास लिपटे हुए बहुत से साहित्यिक सिद्धांतों में शीत-युद्ध की छाप हैं।” जगह-जगह अपने निबंधों तथा डायरी में नयी कविता की इन व्यक्तिवादी-कलावादी धारा की चर्चा मुक्तिबोध ने बड़ी पीड़ा के साथ की है। इस मार्क्सवादी-सौन्दर्यशास्त्री ने सर्वप्रथम नयी कविता के प्रतिक्रियावादी साहित्यिक दृष्टिकोण के पीछे सक्रिय साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विचारधारा के शीत-युद्ध का सही रूप रखा है। इससे स्पष्ट है कि उनका मूल्य-संघर्ष साहित्य के साथ साहित्येतर क्षेत्रों में भी जारी था। उनकी दृष्टि के पीछे साहित्य के राजनीतिक, साहित्यिक और विचारधारात्मक प्रयोजन ही प्रमुख थे। मुक्तिबोध का कहना है, “ध्यान में रखने की बात है कि आगे चलकर, नई कविता के डिफेन्स में जब प्रगतिवादी दृष्टि का विरोध किया गया, तब सबसे पहले जीवन और काव्यानुभूति की समानान्तरता का सिद्धांत स्थापित किया गया। कहा गया है कि जीवन में प्राप्त होने वाली अनुभूतियाँ और सौन्दर्यानुभूति ये दो चीजें अलग-अलग हैं। बाह्यतः स्पष्ट-सी दीखने वाली इस बात के पीछे एक स्पष्ट-अस्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य था। वह यह कि कवि का काव्य जीवन और वास्तविक जीवन इन दोनों में अविच्छिन्नता और मौलिक एकता को कुहरिल कर दिया जाए। यह सिद्धांत एक बहुत ही खतरनाक मान्यता है। नयी कविता के बुर्ज से शीत-युद्ध चलानेवाले नीति-नियामकों का वह एक सोद्देश्य मानसिक विक्षेप है।” मुक्तिबोध ने इस ‘खतरनाक सिद्धांत’ के प्रेरक स्रोतों-प्रयोजनों आदि पर अपने साहित्य-सिद्धांतों में बहुत व्यापक स्तर पर विचार किया। एजरा पाउण्ड, इलियट की यह धारा अज्ञेय ने ‘त्रिशंकु’ नामक निबंध-

संग्रह के ‘रूढ़ि और मौलिकता’ निबंध में स्थापित की है। इस प्रकार कला में समाज-निरपेक्ष-सौन्दर्यदर्शन के नेता अज्ञेय जी ठहरते हैं। इस कला-दर्शन में रचना के स्वायत्त संसार, अनुभव की अद्वितीयता को आदर प्राप्त है। साथ ही यह विचारधारा कलाकार के स्रष्टा-मन और भोक्तामन का पार्थक्य मानती है। चूँकि स्रष्टा मन तथा भोक्ता मन में पार्थक्य है, अतः जीवनानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति में पार्थक्य है। यह मान्यता कलाकार के ‘एस्थेटिक इमोशन’ को महत्व देती है। कलाकार को सौन्दर्यपरक भावों की अभिव्यक्ति तक सीमित करने का प्रयास संसार भर के कलावादी आरंभ से ही करते रहे हैं और यही उनके चिंतन का आधार है। यह सिद्धांत मुक्तिबोध को मानवविरोधी तथा जीवन-विरोधी लगता है। इसलिए मुक्तिबोध जीवनानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति में पार्थक्य स्थापित करने वाले इस सिद्धांत को एक ‘खतरनाक सिद्धांत’ तथा पूँजीवादी साजिश मानते हैं।

मुक्तिबोध कलावादियों की इस मान्यता को लेकर भी चौकन्ने हैं कि जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति में समान्तरता होती है, एकता नहीं। ऐसी स्थिति में सौन्दर्यानुभूति मात्र कल्पना का खिलवाड़ है। सौन्दर्य का सामाजिक जीवन से संबंध नहीं है। उसी मान्यता के कारण स्वच्छन्दतावाद को गेटे रुग्ण प्रवृत्ति कहते थे। स्वयं छायावादी कवियों की इस धारणा का हिन्दी साहित्यशास्त्र में विरोध हुआ। इसी को लेकर ‘रस-सिद्धांत’ खतरे में पड़ा है। मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति की धारणा का जोरदार खंडन करते हुए कहा, “सौन्दर्यानुभव जीवन के सार-रूप का प्रगाढ़ मार्मिक अनुभव है। किन्तु वह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य के पास अपने से परे जाने, अपने से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ-साथ (और एक साथ) तन्मय होने का, विलीन हो जाने का, मानवीय गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनंद ले सकेगा।” इस दृष्टि को मुक्तिबोध शास्त्रीय ढंग से साधारणीकरण न कहकर मात्र सामान्यीकरण कहना ही पसंद करते हैं। एक सीमा और अर्थ में यह सामान्यीकरण कला के व्यापक सामाजिकीकरण का पर्याय है। यहाँ

मुक्तिबोध आचार्य शुक्ल की उस दृष्टि का समर्थन करते हैं जो जीवानुभूति तथा काव्यानुभूति के पार्थक्य को अस्वीकार करती है। इसी दृष्टि में आचार्य शुक्ल का लोक-मंगल-सिद्धांत और मुक्तिबोध का विश्व-चेतस्-सिद्धांत दोनों में व्यापक मानवतावाद का सिद्धांत निहित है।

मुक्तिबोध ने वैयक्तिक अनुभूति का खंडन करते हुए सामाजिक अनुभूति का समर्थन किया। वैयक्तिकवादियों के क्षणवाद-सौन्दर्यवाद पर आक्रमण करते हुए लिखा, “यह सौन्दर्यवाद कलाकार को क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिंदुओं में ही उसे समेट कर, बाँध कर रखना चाहता है, ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अन्तर्जीवन की प्रागधाराओं को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिंदुओं में अपने आप को तृप्त मान ले और शेष को भूल जाए।” ऐसी स्थिति में कलावादी मानव-कल्याण तथा सत्ता में विश्वास नहीं रखते हैं। उस क्षणवाद का कला के सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्वों से घोर विरोध है। इस प्रकार यह क्षणवाद सौन्दर्यवाद-व्यापक मानवतावाद का घोर शत्रु हो रहे हैं।

मुक्तिबोध का कहना है कि कलावादियों ने अनुभूति की अद्वितीयता, विशिष्टता तथा ईमानदारी का नारा भी प्रगतिशील मूल्यों के विरोध में उछाला है। इसलिए इस नारे का विरोध करते हुए लिखा, “अनुभूति की ईमानदारी का नारा देने वाले लोग असल में भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू केवल आत्मगत पक्ष के चित्रण को ही महत्त्व देकर उसे भाव-सत्य या आत्मसत्य की उपाधि देते हैं किन्तु भाव या विचार का एक आब्जेक्टिव पहलू अर्थात् वस्तुपरक पक्ष भी होता है।” मुक्तिबोध वास्तव में ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टि-प्रभाव से ही ‘अनुभूति की ईमानदारी’ में निहित भाववाद को पहचान लेते हैं तथा इस भाववाद का खंडन करते हुए कला के वस्तुवाद की स्थापना करते हैं। क्यों “भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुतः शुद्ध है- तभी तक वह भावना फ्राड नहीं है।” इसीलिए नयी कविता में होने वाले समस्त ‘फ्राड’ को मुक्तिबोध पहचानते हैं और पहचान करते हैं। इसी धारणा को ‘रचनाकार का मानवतावाद’ नामक निबंध व्यापक आयामों में विश्लेषित-विवेचित करता है। संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना

को एकमेक करके लेखक जीवन-विवेक विकसित करता है, “लेखक अपनी मूल्य भावना के अनुसार आभ्यन्तर भावों को प्रस्तुत करता है और उसके अन्तःकरण में एक मूल्यभावना होती है जो उसे किन्हीं विशेष भावों को प्रकट करने के लिए तैयार करती रहती है। दूसरे शब्दों में लेखक अपना एक एस्थेटिक्स तैयार कर लेता है।” इस बात को समझा कर ही मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी-सौन्दर्यशास्त्र का हिंदी में नये ढंग से निर्माण किया है। कलाकार के पास “अपना एक वैचारिक दृष्टिकोण रहता ही है जो एक मूल्यांकन कर्मी और नियंत्रणशील शक्ति के रूप में उसकी कलाकृति के रूप-तत्त्व और तत्त्व-रूप को नियमित करता है। अतएव, यह कहना गलत है कि लेखक के पास जीवन-जगत् की व्याख्या अर्थात् विचार-धारा का नितांत अभाव है।” इस प्रकार निश्चित रूप से कलाकार का एक पक्ष वैचारिक है- यही पक्ष संवेदनात्मक अनुभवात्मक पक्ष का नियंत्रण भी करता है और उसे शक्ति भी देता है। इसी शक्ति को लेकर आध्यात्मिक, समाज विरोधी तथा समाजवादी भावनाओं-विचारधाराओं में चुनाव करता है। प्रगतिशील जनवादी कलाकार व्यापक अर्थों में समाजवादी या मानवतावादी होता है। वह जागरण के मूल्यों को विकसित करने के लिए कला में बौद्धिक सिद्धांतवादी बनता है। इस यथार्थवादी दृष्टि से ही वह व्यक्तिवाद या जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि पर प्रहार करता है- सौन्दर्य के नये मानों को प्रतिष्ठित करता है तथा पुरानी सौन्दर्य-दृष्टि को लगातार बदलता है। इस अर्थ में कला ‘आत्मपरक प्रयास’ होने पर भी घोर सामाजिक प्रयास है। इसी अर्थ में आत्मपरक प्रयास ‘जीवन-सापेक्ष, वर्ग-सापेक्ष, युग-सापेक्ष, व्यक्ति-सापेक्ष’ कला प्रयास है। कला का उद्देश्य मनोरंजन न होकर मानव-कल्याण-दृष्टि है, “कलाकार जीवन को समस्त रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करता है, यही उसका महत्त्व है।” कबीर-प्रेमचंद और शमशेर इसी दृष्टि के बड़े कलाकार हैं। वे लिखते हैं, “जनता के साहित्य से अर्थ है- ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठित करता है, उसे अपने मुक्ति-पथ पर अग्रसर करता है। इस मुक्ति-पथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगातार अज्ञान से मुक्ति तक है।”

जनता की मुक्ति के लिए- क्रांतिकारी जीवन-मूल्यों का विकास और परिष्करण ही सच्चे साहित्य का प्रयोजन होता है।

मुक्तिबोध के ये विचार पश्चिम के सभी मार्क्सवादी विचारकों से समानता रखते हैं। काडवेल ने कहा है कि कविता मानवीय समझ, सहानुभूति और भाई-चारे का विस्तार करती है। राल्फ फाक्स मानते हैं कि रचना मानव को यथार्थ की समझ देती है। कला का भीतरी प्रयोजन भाव-परिष्कार और बाह्य-प्रयोजन मानव का विस्तार, मुक्ति कामना तथा सामाजिक-सुधार की प्रेरणा एवं अन्तः प्रेरणामय व्यापक मानवतावाद की महत्त्व-प्रतिष्ठा। जार्ज लुकाच के यथार्थवादी सौन्दर्य-दर्शन की भाँति ही मुक्तिबोध कला को उच्चतर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति मानते हैं। मुक्तिबोध ने काव्य तथा पाठक के बीच जिस 'सामान्यीकरण' की चर्चा की है- वह सामाजिक-सामूहिक आधार पर ही केन्द्रित है। पर्याप्त चिंतनगत भिन्नता होने पर भी काडवेल, सी. जी. युंग, एफ. आर. लीविस जैसे विचारक काव्य तथा पाठक के मध्य वर्तमान में विद्यमान सामाजिक, सामूहिक, निर्वैयक्तिक संबंध की स्वीकृति देते हैं।

आदिम अवस्थाओं से आधुनिक अवस्था के विकास तक मानव, कलाकार या सहृदय की चेतना तथ संवेदना में परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से लगातार परिवर्तन हुआ है एवं परिवर्तन से परिष्कार। जो कलाकार जितना ही जागरूक होगा, उसका सौन्दर्य-बोध समाज की गतिविधि से उतना ही जटिल होता जाएगा। उसमें जटिल भाव-बोध तथा वैयक्तिक संवेदनाएँ मिलती जाती हैं। मानवीय ऐन्द्रिकताओं की समृद्धि से 'बौद्धिक-बोधों' तथा 'जीवन-बोधों' में क्रमशः मानवीय बोधों का विकास हो जाता है। इस ढंग से स्थायी भाव भी मानवीय बोधों को ग्रहण करके मानवीकृत हो जाते हैं। मानव का सौन्दर्य-बोध इसी प्रक्रिया से विकसित हुआ है। अतः सौन्दर्यानुभूति को जीवनानुभूति का पर्याय मानना चाहिए। कलावादी चिंतक सौन्दर्यानुभव तथा जीवनानुभव के पार्थक्य को मानते हैं, जिस धारणा का मुक्तिबोध सीधा प्रतिवाद करते हैं। कलावादियों की यह मान्यता ही गलत है कि सौन्दर्य प्रतीति तथा सामाजिक दृष्टि में अंतर है। कलावादी कहते रहे हैं कि कला का

सत्य आत्मसत्य तथा कवि का कार्य आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यक्ति करना है, जिसका सामाजिक संघर्ष से कोई रिश्ता नहीं। इस मान्यता के विरोध में मुक्तिबोध ने कविता को सांस्कृतिक प्रक्रिया माना है। "विशिष्ट को सामान्य बनाने हेतु, कवि मन वेदनात्मक उद्देश्य से प्रेरित होकर निरंतर भाव-संशोधन तथा भाव-सम्पादन करता है। यह कवि की आंतरिक प्रक्रिया का एक अंग है। सच तो यह है कि कविता एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भाव-पक्ष का सामाजीकरण हो जाता है।" इस दृष्टि से कवि की रचना-प्रक्रिया भी सांस्कृतिक-प्रक्रिया है- रचना के मूल्य व्यक्ति-मूल्य न होकर सांस्कृतिक-मूल्य होते हैं। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादियों के आत्माभिव्यक्ति सिद्धांत, मनोविश्लेषणशास्त्रियों के अतृप्ति सिद्धांत, प्रभुत्व-सिद्धांत तथा सौन्दर्यशास्त्रियों के आध्यात्मिक-सौन्दर्य-दर्शन के सिद्धांतों का मुक्तिबोध ने बार-बार प्रतिवाद किया है। व्यक्ति के विरुद्ध समाज की धारणा को खंडित करते हुए लिखा है, "हमारा सामाजिक व्यक्तित्व ही हमारी आत्मा है। व्यक्ति तथा समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है। इस विरोध का अस्तित्व नहीं। जहाँ व्यक्ति समाज का विरोध करता दिखाई देता है, वहाँ वस्तुतः समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का। 'व्यक्ति विरुद्ध समाज' की इस विचार शैली ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खड़े किए हैं- जिनमें एक है सौन्दर्य-प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि। इस प्रकार कलावादियों को मुक्तिबोध ने उनके निहित अभिप्रायों को समझने के बाद ठोस उत्तर दिए हैं। अस्तित्ववादियों की अनास्थावादी और जीवन विरोधी दृष्टि का जार्ज लुकाच ने विरोध किया है। इसी प्रकार मुक्तिबोध ने इस निराशावादी दर्शन के समर्थकों को ललकारते हुए लिखा, "कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र में प्रचलित नयी काव्य-समृद्धि में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देखते। यदि हमें वैविध्यपूर्ण, परस्पर द्वन्द्वमय, मानव जीवन के (अपने अन्तर में व्यापित) मार्मिक पक्षों का वास्तविक प्रभावशाली चित्रण करना है, तो हमें जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि और उसके सेंसर त्यागने

होंगे तथा अनवरत रूप से, अपने ढाँचों और फ्रेमों में संशोधन करते रहना होगा। मनुष्य जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जो साहित्याभिव्यक्ति के अनुपयुक्त हो। जड़ीभूत सौन्दर्याभिव्यक्ति एक विशेष शैली को दूसरी शैली के विरुद्ध स्थापित करती है।” इस प्रकार कलाकार लगातार नया करता रहता है। श्रम विभाजन के अनुसार ही कलाकार का सौन्दर्यबोध भी बदलता है। इस प्रकार सौन्दर्य-सृजन वैयक्तिक होकर भी सामाजिक प्रक्रिया का अंग है। कला और राजनीति एक ‘सांस्कृतिक गति’ के भाग हैं। इसमें व्यक्त सौन्दर्य-बोध के रूपों की भिन्नता बिम्बों-प्रतीकों की भिन्नता है और इनमें ही सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप छिपे हैं। यही कारण है कि सभी युगों के काव्य नायक चाहे वे इन्द्र हों, कृष्ण हों, राम हों, शिवजी, मनु, होरी आदि हों- युग की सामाजिक सांस्कृतिक बोध के वे प्रतिबिम्ब होते हैं।

नयी कविता के कलावादी लेखकों ने साहित्य तथा समाज के संबंध को निर्धारित करने वाली कुछ ऐसी धारणाओं को भी प्रचारित किया जिसमें राजनीतिक विचारों की सीधी छाप थी। यह धारणा ही ‘व्यक्ति-स्वातंत्र्य की धारणा का सिद्धांत’ बनी है। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सिद्धांत वस्तुतः शीत युद्ध के काल में मार्क्सवादी दर्शन के विरुद्ध संघर्ष के लिए साम्राज्यवादियों-पूँजीपतियों का प्रमुख सिद्धांत था। मुक्तिबोध ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य सिद्धांत के मूल में शीत-युद्ध का प्रभाव देखकर लिखा, “व्यक्ति-स्वातंत्र्य की बात तो करते हैं, लेकिन वह स्वातंत्र्य जिस मानवीय लक्ष्य-आदर्श के लिए होता है या होना चाहिए, वह अपनी शून्य रिक्तता के धुँएँ में खो जाता है।” सौन्दर्यवाद के नाम पर भय समाया रहता है। इसलिए कलाकार को आत्मालोचन तथा आत्म-समीक्षा की आदत डालनी चाहिए। किन्तु यह न भूलो “कला न केवल एक आत्मपरक प्रयास है वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतंत्रता है। वह व्यक्ति-सापेक्ष है, जीवन-सापेक्ष है, युग-सापेक्ष। वह स्वतंत्र भी है।” किन्तु अन्तःकरण में संचित जो भाव तत्त्व हैं, जो जीवन-ज्ञान-व्यवस्था होती है और उसकी जो दृष्टि होती है, उससे कला के संवेदनात्मक उद्देश्य परिपुष्ट होते हैं, “इस प्रकार कला की स्वतंत्रता, लेखक के अन्तर पर,

लेखक के अन्तर में उपस्थित जीवतत्त्वों पर, कलाकार के अन्तर में उपस्थित भाव-दृष्टि तथा जीवन ज्ञान व्यवस्था पर निर्भर है, और उन्हीं से वह मर्यादित है।” मुक्तिबोध बार-बार कहते हैं, “कला की स्वतंत्रता जीवन-सापेक्ष है। वह जीवन जो भावरूप में अन्तःकरण में स्थित है।...कलाकार की यह स्वतंत्रता समाज-सापेक्ष और समाज-स्थिति-सापेक्ष है। लेखक की यह स्वतंत्रता समाज-सापेक्ष है, समाज-स्थिति-सापेक्ष है। पूँजीवादी देशों में साम्यवादी साहित्य पर न मालूम कितनी बार, साम्यवादी लेखकों पर न मालूम कितनी बार, प्रगतिशील चित्रकारों पर न मालूम कितनी ही अंकुश लगाया गया।” शीत युद्ध के दौरान छायावादी तथा प्रगतिवादी धारा ने भी यहाँ युद्ध किया। छायावाद के व्यक्तिवाद में नयी कविता के व्यक्तिवाद की भाँति समाज विरोधी तत्त्व न थे। नये कवि के व्यक्तिवाद की लेखक जो व्यक्ति तथा समाज के बीच विरोध देखते थे- पूँजीवादी विचारधारा से ग्रस्त रहे हैं। “उच्च मध्यवर्गीय आभिजात्य मानवतावादी आध्यात्मिकता व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी प्रणाली के नाम पर, साहित्य क्षेत्र से समाजवादी प्रभाव का उन्मूलन करना चाहती है।” हिंदी-साहित्य को इस शीत युद्ध का शिकार देखकर मुक्तिबोध लिखते हैं, “जीवन की समस्याएँ जटिलतर होती जा रही हैं। ये समस्याएँ भिन्न प्रकार की हैं... ऐसी स्थिति में शीत युद्ध के एक केन्द्र को यह चिन्ता सता रही है कहीं यह सन्तप्त मानव समाजवाद और भाग्यवाद का शिकार न हो जाए।” उस अराजकतावाद को साम्राज्यवादियों का सहारा मिल रहा है। इस प्रकार मुक्तिबोध व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर समाज विरोधी, मानव विरोधी व्यक्तिवाद की निन्दा करते हैं।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने ‘नयी कविता के प्रतिमान’ में जिस लघु-मानव सिद्धांत की स्थापना की है, उसे मुक्तिबोध व्यक्तिवाद का चरम पतन मानते हैं। वे इसे यथार्थवाद-प्रगतिवाद-विरोधी मानने के साथ ही जीवन की आस्था का विरोधी-सिद्धांत मानते हैं। मुक्तिबोध को उस सिद्धांत पर भी शीत युद्ध की पूँजीवादी विचारधारा की काली छाया मँडराती दृष्टिगत होती है। मुक्तिबोध ने लिखा, “यह मुख्यतः मानव मुक्तिवादी विचार-धाराओं के विरुद्ध है। उसकी तीखी नोक खासकर साम्यवादी धारणाओं के विरुद्ध

है- क्योंकि साम्यवादी धारणाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य चाहे तो अपना भाग्य-परिवर्तन कर सकता है। इसलिए यह सिद्धांत अस्तित्ववाद की कोख से जन्मा अनास्थावादी तथा प्रतिगामी सिद्धांत है।

मुक्तिबोध मानते हैं कि आधुनिकतावाद का सिद्धांत भी आभिजात्यवादी लेखकों ने पश्चिम के आधुनिक प्रतिगामी विचारकों से प्राप्त किया है। जार्ज लुकाच ने 'दि मीनिंग ऑफ कटेम्परेरी रियलिज्म' नामक पुस्तक को 'दि आइडियालोजी ऑफ मार्डर्निज्म' के एक अध्याय में मुक्तिबोध की भाँति इसे यथार्थवाद की विरोधी शक्ति कहा है। अस्तित्ववाद से प्रभावित यह विचारधारा मानती है कि मानव संसार में नितान्त अकेला तथा व्यर्थता-बोध के लिए फेंक दिया गया है। यह सही है कि आधुनिकतावाद एक विश्वव्यापी प्रवृत्ति रही है तथा इसमें प्रगतिशील तथा प्रगतिविरोधी दोनों की दृष्टियाँ भी रही हैं। आधुनिकतावादियों ने आस्था-अनास्था, त्रास, यंत्रणा, मोह-भंग, अकेलापन, विडम्बना, विद्रूपता, अमानवीकरण, संकट-बोध तथा मृत्यु-बोध को 'आधुनिक भाव-बोध' के नाम से प्रचारित-प्रसारित किया है। इसलिए इसे मुक्तिबोध देशी-विदेशी मार्क्सवादी चिंतकों की भाँति ही जीवन-विरोधी मानते हैं। प्रयोगवादी तथा नयी कविता के प्रति अपनी दुर्निवार प्रतिबद्धता तथा पक्षधरता सिद्ध करते हुए भी मुक्तिबोध उसके कलावादी व्यक्तिवादी मूल्यों की निन्दा करते हैं। वे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों की कमियों का संकेत करते हुए उनसे सुधार की अपील करते हैं। वे आधुनिकता की धारणा एवं व्याख्या को भारतीय सन्दर्भ में प्रस्तुत करते हैं। वे इस मनोवृत्ति से सहमत नहीं हैं कि पश्चिम से आने वाली प्रत्येक विचारधारा आधुनिक है। क्योंकि अमरीकी आधुनिकता तथा विचारधारा तो पूँजीवादी-महाजनी व्यवस्था की देन है। किन्तु प्रगतिशील अर्थ में आधुनिकता महान् जन-चेतना के सांस्कृतिक परिष्करण का रूप है।

कला सामाजिक वस्तु है जिसके उद्भव में सामाजिक-सांस्कृतिक कारण प्रमुख होते हैं। समाज एक लगातार विकसित-परिष्कृत होती हुई व्यवस्था का नाम है जो आर्थिक कारणों से नियंत्रित-परिचालित होती है। काडवेल ने इसी आधार से सर्वप्रथम कला-साहित्य के आविर्भूत कारणों

की चर्चा की है। हिंदी के अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों पर काडवेल की इस दृष्टि का दूरगामी प्रभाव है। मुक्तिबोध मानते हैं, "साहित्य के अन्दर, सांस्कृतिक भाव होते हैं। ... साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक-परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी संभव है जब सुननेवाले पर पड़नेवाले की अवस्था शिक्षित हो। यही कारण है कि मार्क्स का 'डास कैपिटल' लेनिन के ग्रंथ रोम्यां रोलां के, टालस्टाय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असंस्कृतों को न समझ में आ सकते हैं न वे उनके पढ़ने के लिए होते ही हैं। " 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के लिए साहित्य' से है और वह जनता कुछ ऐसी हो जो शिक्षा तथा संस्कृति के द्वारा कुछ स्टैंडर्ड प्राप्त कर चुकी है।"

भारतवर्ष में उठने वाली नयी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टियाँ ही आधुनिक दृष्टि के मूल में हैं। आज का भारतीय जीवन भी विश्व के झकोरों से हिला है, उसमें नयी तरंगें उठी हैं, पुराने घाट-पाट टूटे हैं। राजनीतिक-सांस्कृतिक जागरण भी उत्थान का एक पथ पूरा करता है। साहित्य में हमने शोपेनहावर, नीत्शे, हीगल, मार्क्स, रोम्यां रोलां, टालस्टाय, खैयाम, टैगोर, गांधी आदि से बहुत कुछ लिया है, "हिंदुस्तान भी विश्व की संस्कृति का उत्तराधिकारी है। उसकी संस्कृति भी विश्वात्मक होना चाह रही है।" इसलिए कला के उद्भव विकास में सामाजिक भूमिका का आधार प्रमुख है, "कोई भी नया साहित्यिक आंदोलन उस विशेष देश कालगत परिस्थितियों से पैदा होता है जिन्हें हम सामाजिक विकास की एक महत्वपूर्ण शृंखला कह सकते हैं।" इसलिए कला में परंपरा प्रयोग और प्रगति की स्थिति भी समाविष्ट रहती है। नयी कविता के आविर्भाव मूलक कारणों की खोज करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा, "लेकिन नयी कविता का कवि इस तकलीफ को आत्मकेन्द्री अर्थों में ही देख रहा था। वह इस करुणा की सामाजिक-व्याख्या न कर पाता था। अतएव : नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की बगावत थी।" इस प्रकार कला के पीछे सामाजिक-आर्थिक कारण प्रबल होते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होता है, कला की वस्तु तथा रूप में भी

परिवर्तन होता है। इस बात को मुक्तिबोध छायावाद-प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता के विश्लेषण से बार-बार समझाते हैं। इस दृष्टि पर काडवेल का सीधा प्रभाव है।

मुक्तिबोध ने पश्चिमी मार्क्सवादियों की भाँति कला एवं साहित्य के वर्गीय आधार पर पूरा बल दिया है। मुक्तिबोध अपनी दृष्टि का परिचय गहन अध्ययन-मनन के पश्चात् 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में देते हैं। मुक्तिबोध मानते हैं कि वर्ग-भेद अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण गहन-विश्लेषण से ही पकड़ में आता है। विभिन्न वर्गों में पारस्परिक संघर्ष चलता रहता है और वर्गों में असामंजस्य तनाव जन्मता है। मुक्तिबोध मानते हैं कि भारत की ऐतिहासिक स्थिति ऐसी रही है कि अमीर अधिक अमीर तथा गरीब अधिक गरीब होता गया है। "मध्यवर्ग की खाती-पीती शिष्ट श्रेणी और उसी वर्ग की गरीब श्रेणी में भयानक खाई पड़ी हुई है, जो दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। ये गरीब श्रेणी अब इस नतीजे पर पहुँच रही है कि उसका उद्धार सभी वर्गों की मुक्ति के साथ ही है।" इस असमानता ने समाज में वर्गीय तनाव पैदा किया है, "फलतः उच्च वर्गों के प्रति अविश्वास, घृणा, तिरस्कार और क्षोभ, साथ ही अपने वर्ग की दुःस्थिति में पड़े हुए लोगों की सहायता, प्रेम तथा नये आदर्शों का स्वप्न और अपनी दुःस्थिति के प्रति उग्र प्रतिक्रिया और विक्षेप इस गरीब मध्यवर्ग के स्थायी भावों में से है।" इस वर्ग के तदाकार लेखक अपनी परिस्थितियों से जूझता हुआ उसी वर्ग की भावस्थितियों को व्यक्त करता है। नयी कविता की दो धाराएँ दो वर्गों का प्रतीक हैं। "ये तनाव ऐतिहासिक तनाव है, ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि समाज के भीतर चलनेवाली परिवर्तन प्रतिक्रियाओं का वे महत्वपूर्ण अंग हैं। इन तनावों का मर्म समझना, उनको उनके वास्तविक सन्दर्भ में देकर संवेदनात्मक ज्ञान के हार्दिक माध्यम द्वारा काव्य में (अथवा उपन्यास आदि में) प्रकट करना लेखक का ऐतिहासिक कार्य है।" इसी तनाव से पुरानी नयी पीढ़ी में मूल्यों का संघर्ष पेचीदा हो गया है। नया निम्न मध्यवर्ग का लेखक सामन्ती मूल्यों से जूझता है।

मुक्तिबोध वर्गीय चरित्र के विश्लेषण के लिए मनोवैज्ञानिक

कारणों की खोज पर भी बल देते हैं- यह भी खोजना चाहिए कि बाहर से मार खाकर कलाकार क्यों अन्तर्मुखी हो जाता है? इसका उत्तर है- उसके अपने तनाव और संघर्ष उसे ऐसा करने को विवश करते हैं। क्योंकि वर्गीय चेतना का विस्तार बाह्य सीमा के साथ मानव के मनोलोक तक व्याप्त रहता है। कलाकार इस वर्गीय चेतना से मुक्त नहीं हो सकता। प्रसाद ने कामायनी जैसी जीवन की पुनर्चनावली कृति में फैण्टेसी के माध्यम से "अपने वर्ग की दृष्टि को ही दार्शनिकत्व प्रदान किया।" इस प्रकार 'कामायनी' पर अपने लगाव के कारण मुक्तिबोध ने विचार नहीं किया, बल्कि उसके पीछे सामाजिक-साहित्यिक, सांस्कृतिक-राजनैतिक कारण थे। कृति के वर्गीय आधार को लेकर मुक्तिबोध ने आलोचना का एक नया व्यवस्थित सैद्धान्तिक ढांचा ही उपस्थित किया। यह पद्धति रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचक या भाववादी आलोचकों के भूल सुधार से उपजी है।

अपने समीक्षा-सिद्धांतों में मुक्तिबोध ने प्रथम बार कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी पर बहुत बल दिया है। "यदि लेखक ईमानदार है, तो उसे अपने प्रति और अपने युग के प्रति अधिक उत्तरदायी होना होगा। अधिक साहस और ज्यादा हिम्मत से काम लेना है। अपनी सौन्दर्याभिरुचि के सेंसर्स के वशीभूत होना ठीक नहीं है। अनुभव वृद्धि के साथ-साथ, सौन्दर्याभिरुचि का विस्तार और पुनः संस्कार होना आवश्यक है।" मुक्तिबोध इसीलिए 'हानस्टी' तथा 'सिन्सियारिटी' दोनों को कलाकार की ईमानदारी में जरूरी बातें मानते हैं। इसलिए कलाकार की ईमानदारी वस्तु तथा रूप दोनों को लगातार संपादित-संशोधित करने की ईमानदारी है। लेखक में आत्मपक्ष से ज्यादा वस्तु-पक्ष पर जोर होना चाहिए। जब "चित्रण करते समय आत्मपरक पक्ष को प्रधानता दी जाती है, वस्तुपरक पक्ष को नहीं। इस रवैये का असर टेकनीक पर पड़ता है।" मुक्तिबोध ने छायावादी काव्य का एक दोष उसका घोर आत्मपरक हो जाना माना है- इसके विपरीत "नयी कविता ने प्रकृति तथा शिल्प में आत्मपक्ष तथा वस्तुपक्ष का समन्वय उपस्थित किया है।" मुक्तिबोध जो नयी कविता के सर्वाधिक सशक्त रचनाकार और प्रवक्ता रहे हैं- मानते हैं कि कुछ लोगों ने शिल्प मोह

में नयी कविता की भी एक लीक बना ली है। “वह भी एक ढर्रा है। ढर्रे में सब कुछ खपाया जा सकता है।” कलाकार की कला में व्यक्तिगत ईमानदारी वहीं लक्षित होती है, जहाँ वस्तु का वस्तुमूलक आकलन करते हुए लेखक उस आकलन के आधार पर वस्तु-तत्त्व के प्रति सही मानसिक प्रतिक्रिया करता है। यदि ऐसा नहीं करता है तो ‘फ्राड’ को जन्म देता है। “काव्य एक सांस्कृतिक संस्था है। वह व्यक्तिगत कमरा मात्र नहीं है। ऐसी स्थिति में सही विचारधारा से मानसिक प्रतिक्रिया को संपादित-संशोधित करना चाहिए। फिर भी लेखक पूर्ण निदान के साथ बड़ा ‘फ्राड’ करता है, किन्तु वहीं जहाँ लेखक ‘ईमानदारी से मूर्ख होता है’ ऐसी स्थिति में ‘व्यक्तिगत ईमानदारी का संबंध काव्य-संबंध मनोभूमिका से अधिक है।” लेखक के लिए आवश्यक है कि वह विश्व-दृष्टि का विकास करता हुआ पीड़ित जनता की मुक्ति के लिए संघर्ष करे-यह ज्ञानात्मक आधार भी उसकी ईमानदारी का अंग है। क्योंकि “व्यक्तिगत ईमानदारी का यह बहुत बड़ा तकाजा है कि लेखक निर्भिकतापूर्वक अपने अन्तर्निषेधों को सुधारे, उनका सामना करे। साथ ही, वह अपनी प्रकृति में और वस्तु की प्रकृति में प्रवेश करे। इस अन्तःप्रवेश के रास्ते में जो भी सामने आता हो, उसे जोर से हटा दे।” इस प्रकार वह वस्तु तथा रूप लगातार विकास-परिष्करण करता चले। काव्य में वस्तु-तत्त्व की प्रकृति का और कवि की प्रकृति दोनों का समाहार करने वाली कवि-दृष्टि ऐसी हो जो महत्वपूर्ण हो। क्योंकि इसी पर काव्य-सत्य, काव्य-प्रभाव तथा विचारधारा का सार निर्भर करता है। मुक्तिबोध के उपरोक्त विचार जार्ज लुकाच से मिलते हैं। इसी बात को जार्ज लुकाच ने ‘सामाजिक यथार्थ का सौन्दर्यशास्त्रीय परिणति’ जैसे प्रश्नों में व्यक्त किया है।

मुक्तिबोध ने रचना प्रक्रिया का विवेचन-भाववादी चिंतन की पद्धति से बहुत दूर तथा भिन्न होकर किया है। इसलिए वे रचना-प्रक्रिया के मानसिक व्यापार तक ही सीमित न होकर उसके वस्तुपरक आकलन पर आते हैं। यहाँ भी उनकी दृष्टि पर मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की धारणाओं का व्यापक प्रभाव है। रचना के आन्तरिक कारणों के साथ बाह्य कारण भी उनकी दृष्टि में आते हैं

जिन्हें भाववादी छोड़ देते हैं। मार्क्सवादी चिंतन रचना को क्षण-विशेष की उपज न मानकर प्रदीर्घ-मनःप्रक्रिया का परिणाम मानता है- इस क्षेत्र में रचना-प्रक्रिया पर सर्वाधिक मूल्यवान् चिंतन कवि मुक्तिबोध का है। मुक्तिबोध ने कवि-प्रतिमा के समानान्तर रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया, “प्रश्न यह है कि आखिर रचना-प्रक्रिया में इतनी दिलचस्पी क्यों? मेरे ख्याल से उसका उत्तर तो यह है कि उसके अन्तर्त्त्वों के विश्लेषण से सौन्दर्य संबंधी किसी सामान्य सिद्धांत पर आया जा सकता है।” कवि जीवन के विस्तृत क्षेत्र को साहित्य में लाने के लिए भी रचना करता है तथा नयी प्रवृत्ति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए भी रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया जा सकता है। स्वयं हिंदी में नयी कविता को ध्यान में रखकर ही रचना-प्रक्रिया का प्रायः विश्लेषण हुआ है। यह विश्लेषण आब्जेक्टिव हो- मुक्तिबोध इस संकल्प को लेकर इधर बढ़े, “रचना-प्रक्रिया, का उत्प्रेरक विश्लेषण मेरे ख्याल से अत्यंत कठिन है। ...रचना-प्रक्रिया, सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। कवि-स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु (या कहिए कथ्य) के अनुसार, वह बनती-बदलती है।” ऐसी स्थिति में रचना-प्रक्रिया के संबंध में मत-भिन्नता स्वाभाविक है-रचना प्रक्रिया का कोई निर्विशिष्ट सामान्य रूप नहीं है-फिर भी उस प्रक्रिया के कुछ तत्त्व सर्व-सामान्य हैं। संवेदनात्मक उद्देश्य, कल्पना, भावना, बुद्धि-तत्त्व-सर्वसामान्य है- इनके कार्य के बिना रचना-प्रक्रिया संभव नहीं। किन्तु इसके भिन्न-भिन्न योगों-अनुपातों से विशिष्ट रूप बनते हैं, “संक्षेप में, रचना-प्रक्रिया के भीतर, न केवल भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य होते हैं, वरन् वह जीवनानुभव होता है जो लेखक के अन्तर्जगत् का अंग है, वह व्यक्तित्व होता है। जो लेखक का अन्तर्व्यक्तित्व है, वह इतिहास होता है, जो लेखक का अपना संवेदनात्मक इतिहास होता है।” रचना-प्रक्रिया की यथार्थवादी व्याख्या में रचना का युग और इतिहास दुर्निवार रूप से जुड़ा होता है। सामाजिक-भावों के संपादन से लेखक बिम्बों, उपमानों, रूपों, चित्रों, निवेदन भंगिमाओं और विभिन्न लयों पर अधिकार प्राप्त करता है।” इन्हीं को समझाने के लिए मुक्तिबोध कला-सृजन के तीन क्षणों

की चर्चा करते हैं। स्वयं सी.जी. युंग कलाकृति को संश्लिष्ट मानसिक क्रिया की उपज मानते हैं। मुक्तिबोध इस युगीय विचार में रचनाकार के बाह्य प्रभाव तथा विचारधारा को और जोड़ देते हैं। इसी प्रकार के विचार सैम्युअल अलेक्जेण्डर ने व्यक्त किए हैं- यह संयोग कि मुक्तिबोध तथा अलेक्जेण्डर के विचार एक से हैं। कला के प्रेरणा-बिन्दु से निर्माण तक की चर्चा मुक्तिबोध की भाँति अलेक्जेण्डर भी करते रहे हैं।

मुक्तिबोध ने मनोविश्लेषणशास्त्र में स्वीकृत 'फैण्टेसी' को काव्य-रूप में ग्रहण किया है। लेकिन सैद्धांतिक रूप से उसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र में मिला लिया। स्वयं काडवेल ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' के 'दि साइके एण्ड फैण्टेसी' नामक अध्याय में फैण्टेसी पर विचार किया है। कवि के अनुभवों और इंद्रिय संवेगों के अन्तर्विरोध से कविता फूटती है। यह तनाव कवि से एक फैण्टेसी का संसार निर्मित कराता है- इस प्रकार उसका वास्तविक संसार से घनिष्ठ संबंध है क्योंकि उसी में से यह उपजती है। काडवेल ने फ्रायड तथा युंग की मान्यताओं को सामाजिक वास्तविकता की दृष्टि से विवेचित किया है। स्वयं मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को फैण्टेसी मानते हुए उसके विचार विवेचन में काडवेल की भाँति ही उसका समाजपरक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन किया।

सैद्धांतिक दृष्टि से मुक्तिबोध कला-सृजन के तीन क्षणों को फैण्टेसी में समेटते हैं, "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है उस अनुभव का अपने कसकते-दुःखते हुए मूल्यों से पृथक् हो जाना और एक फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपने आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा क्षण है उस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था की गतिमानता।" शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर व्यक्तित्व एवं जीवन का समस्त प्रवाह बहता है। इस प्रवाह में फैण्टेसी अनवरत विकसित-परिवर्द्धित होती रहती है। इसी प्रक्रिया में फैण्टेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण कर लेती है। इस प्रक्रिया में इतनी बदल जाती है कि उसे मूल रूप की प्रतिकृति कहना कठिन पड़ता है। किन्तु जो फैण्टेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक् होकर

अनुभव के भीतर की संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह वैयक्तिक होते हुए भी सही मायने में निर्वैयक्तिक हो जाती है। "फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व है।" आदिम प्रवाह में फैण्टेसी के नये रूप-रंग-बिम्ब-प्रतीक-मिथक आदि बदल जाते हैं। वास्तविक अनुभव और अनुभव की संवेदनाओं द्वारा प्रेरित फैण्टेसी- इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है। यह रोल ही सृजन की भूमिका है। "ध्यान रखो कि यह फैण्टेसी- इनमें अनुभव प्रसूत होते हुए भी अनुभव-बिम्बित होती है।" इसमें संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना, समायी रहती है। शब्दों का अर्थ-स्पन्दन उद्बुद्ध होकर फैण्टेसी में नयी भावधाराएँ बहा देता है-इनमें निर्वैयक्तिकता की भूमि निर्मित हो जाती है। "अर्थ-स्पन्दनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परंपरा होती है।" भाषा फैण्टेसी को काटती-छाँटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैण्टेसी भाषा को सम्पन्न तथा समृद्ध करती है। इस प्रकार फैण्टेसी वैयक्तिक न होकर सामाजिक प्रक्रिया का अंग बन जाती है। स्वयं मुक्तिबोध अपनी कविताओं में इसी दृष्टि से फैण्टेसी का प्रयोग करते हैं। मुक्तिबोध इस तथ्य से परिचित थे कि फैण्टेसी का शिल्प बुनियादी तौर पर भाववादी रोमैंटिक शिल्प होता है, लेकिन वह यह भी मानते हैं कि इस शिल्प के अन्तर्गत भी जीवन को समझने की यथार्थ दृष्टि होती है।

काव्य-मूल्यों के विवेचन की दृष्टि में मुक्तिबोध ने प्रगतिशील विचारधारा पर बहुत जोर दिया है। वे कला-चिंतक की वस्तुपरक धारणा में आनंद मूल्यों के स्थान पर कला के सांस्कृतिक परिष्कारपरक मूल्य, मानसिक परिष्कारपरक मूल्य, जीवन को आस्था के साथ गति देने वाले मूल्यों को साहित्य का उद्देश्य मानते हैं। पश्चिमी मार्क्सवादी तथा हिंदी प्रगतिवादी चिंतन की भाँति मुक्तिबोध ने कला के वस्तुगत आधार को सैद्धांतिक पीठिका के रूप में ग्रहण किया। इस दृष्टिकोण में उनकी समानता आचार्य शुक्ल से भी है जो भाव के साथ विभाव को महत्त्व देते हैं। मुक्तिबोध भी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को वैज्ञानिक मान-मूल्य बनाने की तैयारी करते रहे हैं और इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी काफी हद तक मिली है। वे साहित्यालोचन

की शास्त्रीय परम्परा से हटकर हिंदी-समीक्षा का नया साहित्य शास्त्र गढ़ना चाहते हैं- जिससे वे मार्क्सवाद की दृष्टि का पूरा आधार ग्रहण करते हैं। इसलिए वे पुराने प्रगतिवादियों को फटकार कर सही दिशा पर लाना चाहते हैं। इन्हीं से उन्हें उम्मीद है कि वे नये ढंग के मूल्यों को ग्रहण करते हुए साहित्य की सही समीक्षा-दृष्टि उत्पन्न करेंगे। उन्हें दिशा देने के लिए ही मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी साहित्य सिद्धांतों की भूमिका रूप में एक सम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्र या ठोस कला-दर्शन निर्मित किया है। इसीलिए वे 'रचना-प्रक्रिया', 'कलानुभव', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष', 'काव्य-एक सांस्कृतिक प्रक्रिया', 'सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि', 'नयी समीक्षा का आधार', 'अन्तरात्मा की पक्षधरता', 'समीक्षा की समस्याएँ', 'रचनाकार का मानवतावाद', 'नयी कविता की प्रकृति', 'प्रगतिशीलता और यातनाग्रस्त मानवता', 'मार्क्सवादी साहित्य का सौन्दर्य पक्ष-एक प्रत्युत्तर', 'साहित्य के दृष्टिकोण', 'समाज और साहित्य' जैसे ठोस सैद्धांतिक निबंध लिखते हैं। यह सैद्धांतिक चिंतन कवि फैज़ की भाँति मार्क्सवादी ढंग से 'एक साहित्यिक की डायरी' में भी चलता है। यहाँ भी वे भाववादी सौन्दर्यशास्त्र की कमियों को हटाकर यथार्थवादी समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र को संपादित-संशोधित करते हैं। कला के वर्गीय आधार को उठाते हुए वे उसके साथ ही सौन्दर्य-प्रतिमानों में 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' का प्रश्न भी उठाते हैं। कला तथा साहित्य में वस्तु और रूप के अन्तःसंबंध को स्वीकृति देकर भी वे कला के अन्तर्गत विषयवस्तु को ही नियामक शक्ति मानते हैं। रूपवादी कलावादी मान्यताओं का विस्तृत सन्दर्भों में खण्डन करने के बाद वे कला के वस्तुपरक मूल्यों की महत्त्व-प्रतिष्ठा करते हैं। वस्तु एवं रूप के आवयविक संबंध का भी 'फैण्टेसी' में निरूपण करते हैं। अतः आधुनिकतावादियों का यह आक्षेप खण्डित हो जाता है कि मार्क्सवादी समीक्षक वस्तु को महत्त्व देकर रूप की उपेक्षा करता है। मुक्तिबोध पर लुकाच के इन विचारों का भी प्रभाव प्रतीत होता है कि विषय-वस्तु की जटिलता नवीन कला-रूप की माँग करती है तथा उसी से नवीन काव्य-रूपों का जन्म होता है।

प्रगतिवादी समीक्षकों में मुक्तिबोध ने यह आवाज बार-

बार उठाई है कि रचना के कला-नियम किस सीमा तक अन्य नियमों से मुक्त होते हैं। एक कला की वह भी स्थिति है जब वह आर्थिक-सामाजिक नियमों से भी ऊपर उठ जाती है। जो मार्क्सवादी इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं, वे मात्र ऐतिहासिक भौतिकवाद की सिद्धांत दृष्टि से कला को परखते रहते हैं और न्याय नहीं कर पाते। आरंभ में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव इसी बात को न समझने के कारण भटक गये हैं। किन्तु यह भटकाव डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, नामवर सिंह या रमेश कुंतल मेघ में नहीं है। क्योंकि ये अच्छी तरह जानते-मानते हैं कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला आदि की भाँति साहित्य के भी कुछ अपने नियम हैं- साहित्य का अपना शास्त्र है, रस, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य, शब्द-शक्तियाँ, काव्य-दोष, छन्द-शास्त्र आदि पर वह अपने ढंग से विचार करता है। ये भी कला के साधन हैं- साध्य नहीं। कला की जड़ें युग-समाज में हैं- वहीं से उसे शक्ति मिलती है। इसीलिए मुक्तिबोध ने साहित्य की मर्यादा मानते हुए कलाकृति के भीतर ही उसके सौन्दर्य-प्रतिमानों को खोजने का आग्रह किया। इस मर्यादा के बाद समीक्षक रचना के बाहर भी जा सकता है और यह 'बाहर' भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि रचना-प्रक्रिया आन्तरिक तथा बाह्य का सामंजस्य रूप होती है। इस बात को ठीक से न समझने के कारण ही आचार्य शुक्ल छायावादी रचना-प्रक्रिया का विरोध करते रहे और उसे 'अभिव्यक्ति की लाक्षणिक प्रणाली' से अधिक न मान सके। बाहरी जगत् अन्तर्जगत् में महत्त्व-सूचनाएँ इकट्ठी करता है और 'उस अन्तर्जगत् में महत्त्व की रचनाएँ चाहिए। कलाकार को 'स्व' के घेरे से ऊपर उठकर अन्य के मर्म में प्रवेश करने की ताकत चाहिए। यही ताकत अनुभूत विशिष्टों का सामान्यीकरण करती है- इसे ही भारतीय आचार्य साधारणीकरण तथा पश्चिमी आचार्य निर्वैक्तिकता-संबंधी सिद्धांत मानते हैं। इस प्रकार निजबद्धता से छूटकर कलाकार आत्म-विस्तार करता है। किन्तु कला में 'निमग्नता तथा तटस्थता' रचनाकार और पाठक दोनों के लिए अनिवार्य शर्त है।'

मुक्तिबोध कलाकार को विश्व तेजस् प्राणी मानते हैं

जो जीवन को समग्रता में देखता और ग्रहण करता है तथा वह संवेदनशील विचारवान मानव भी होता है। कलाकार की कला जीवनानुभव सम्पन्नता को रखने के लिए निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है। इसीलिए लेखक विचारधारा के साथ एक मूल्य व्यवस्था भी कायम करता है— यही कलाकार की जीवन-दृष्टि भी है। मुक्तिबोध की भाँति रूसी समीक्षक ट्राट्स्की ने कहा है— “किसी कला रचना के स्वीकार या तिरस्कार का निर्णय सदैव मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर ही नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम कलात्मक-निर्मित की परख कला नियमों के आधार पर ही होनी चाहिए।” इसके बाद ही ऐतिहासिक भौतिकवाद से व्याख्या करना समीचीन है।

पाश्चात्य तथा भारतीय मार्क्सवादी कला समीक्षकों की भाँति मुक्तिबोध वस्तु तथा रूप के अन्तःसंबंध में विश्वास रखते हैं। इसी दृष्टि से कला का माध्यम कलावस्तु से अभिन्न है किन्तु काव्य-माध्यम की सजीवता रचना की सामाजिकता से संबंधित है। “अभिव्यक्ति प्राप्त होने पर, भाव-पक्ष का सामाजिकीकरण हो जाता है।” “वह सभी के अनुभव का विषय है कि मानसिक प्रतिक्रिया हमारे आभ्यन्तर में गद्य भाषा को लेकर उतरती है, कृत्रिम ललित काव्य-भाषा में नहीं। फलतः नयी कविता का विन्यास, गद्य-भाषा के अधिक निकट है। वैसे भी विचारों की भाषा आवेश-कल्पना से हटकर गद्य की भाषा होती चलती है। इस तथ्य की पुष्टि निराला तथा मुक्तिबोध की काव्य-भाषाएँ स्वयं करती हैं। इनमें ऊबड़-खाबड़ भाषा का भी एक भव्य-सौन्दर्य है। इस दृष्टि से भाषा तथा शैली के साथ कवि का मनोमय संसार जुड़ा होता है— जीवन का इतिहास भूगोल से जुड़ा होता है— संस्कृति-समाज से जुड़ा रहता है, “दूसरों शब्दों में शिल्प का विकास काव्य-व्यक्तित्व से, अटूट रूप से, जुड़ा हुआ है और शिल्प में व्यक्तित्व की क्षमता और सीमा, भाव और अभाव... ज्ञान और भ्रम सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं।”

मुक्तिबोध प्रतिक्रियावादी जन-विरोधी विचारधाराओं के मोहक शिल्प का विरोध करते हैं— इनमें कोरा चमत्कारवाद पैदा होता है। छायावादी कवि सौन्दर्य, दुःख, कष्ट, क्रोध, क्षोभ आदि का कल्पित चित्रण करते रहे और यहाँ ‘असलियत

लापता है।’ नयी कविता ने छटपटाहट के साथ जीवन-समस्याओं को, चित्रण पद्धति को बौद्धिक बनाया। सारांश यह है कि “कल्पना तथा शैली के संबंध में नयी कविता में वैज्ञानिकता बरती जाती है।” प्रभाव तथा भाव की अन्विति नयी कविता के टेकनीक की शर्त है। यह जीवन के वस्तुवादी यथार्थोन्मुख दृष्टि को लेकर जन्मी है—यही दृष्टिकोण मुक्तिबोध-बिम्ब, प्रतीक, मिथक, रूपक, भाषा, छन्द, आदि सभी में अपनाते हैं। नया कवि मन की भाव-स्थिति को प्रकृति के रूपात्मक उपादानों के द्वारा चित्रित करता है और आधुनिक प्रतीकों से मन की निगूढ़ भावों को व्यक्त करता है। नयी कविता भाव या अनुभूति को मूर्त सत्ता में पकड़ती है, अतः संप्रेषण माध्यमों में भी अमूर्तता का विरोध करती है।

मुक्तिबोध के मत से कवि वस्तु-तत्त्व के प्रति पूर्ण सचेत हो तथा भीतरी-बाहरी आग्रह तथा अनुरोधों के रूप में ही भाषा-शैली का चयन करे। उसमें ‘वास्तवपन’ होने से अर्थ-सम्भार बढ़ जाता है। इसी अर्थ में नयी कविता गद्य-भाषान्वित, मानसिक, किन्तु तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है। इस प्रकार भाषा एक सामाजिक क्रिया है और सांस्कृतिक-प्रक्रिया का अंग है। भाषा ही काव्यानुभवों की सम्प्रेषणीयता का माध्यम है। कवि अर्थ-अनुबंधों के नये सौन्दर्य-बोध तथा कलात्मक रूपांतरण के लिए शब्द-साधना करता है। यह शब्द-साधना भाषा-साधना में— भाव-साधना से भिन्न नहीं है। कवि शब्दों को नये ढंग से नये अर्थ देता है— नये बिम्बों, प्रतीकों-चित्रों की योजना करता है। इस प्रकार काव्य-माध्यमों में भाषा, छन्द, बिम्ब, प्रतीक, ध्वनि-योजना, पद-विन्यास आदि का महत्त्व है। मुक्तिबोध ने काव्य-माध्यम की मान्यताओं को अन्स्ट फिशर की भाँति ही व्यक्त किया है। फिशर भाषा को सामूहिक कार्य-प्रक्रिया का प्रतिफल मानते हैं और भाषा को काडवेल की भाँति सामाजिक-वस्तु भी। सम्प्रेषण के आधार पर भाषा तथा काव्य-भाषा में अन्तर भी छिपा नहीं है।

समग्रतः मुक्तिबोध रूपवाद-कलावाद का खण्डन करते हुए मार्क्सवादी वस्तुवाद का समर्थन काव्य-माध्यम में करते हैं। मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ की वस्तुवादी आलोचना की और उसके कलात्मक सौन्दर्य का कार्य छोड़ दिया।

कलात्मक सौन्दर्य से ज्यादा यथार्थबोध की मूल्य-दृष्टि को महत्त्व दिया है।

संक्षेप में, मुक्तिबोध ने भाववादी-कलावादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिमानों का खण्डन करते हुए मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के वस्तुपरक प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस सैद्धांतिकता ने नयी वैचारिकता से मूल्य-भावना को पुष्ट किया तथा कृति एवं कृतिकार के वर्गीय चरित्र को स्वीकृति देते हुए कला की निरपेक्ष स्वायत्तता का खण्डन किया। शीतयुद्ध से प्रभावित उच्च मध्यवर्ग के सिद्धांतों का क्षणवाद, धनवाद, अस्तित्ववाद, हीगलीय सौन्दर्यवाद, अमरीकी आधुनिकतावाद, स्वच्छन्दतावाद आदि का खण्डन किया तथा अनास्था के स्थान पर आस्थावादी जीवन-मूल्यों को प्रश्रय दिया। व्यक्तिवाद-पूँजीवाद पर टिका 'लघु मानव का सिद्धांत' भी उन्होंने बार-बार खण्डित किया है। कला के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों-मानों की प्रतिष्ठा के लिए मुक्तिबोध ने विश्व भर की प्रतिगामी शक्तियों की आलोचना की है। उन्होंने रचना-प्रक्रिया, कलानुभव, सौन्दर्य-दृष्टि के साथ ही अनुभूति की ईमानदारी को भी काव्य-प्रतिमान बनाया। रचना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया न होकर उनके लिए एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। हिन्दी साहित्यशास्त्र पर उनका मनोमंथन, नवीन युग की साहित्यिक प्रतिक्रियाओं की यह समझ, शास्त्रीयतावाद से हटाकर सचेतनतावादी मूल्यों की ओर प्रवृत्त करती है। उन्होंने उन कवितावादियों में अज्ञेय धारा के समर्थक कवि आलोचकों के इलियटीय सिद्धांतों को प्रतिक्रियावादी कहते हुए खण्डन किया तथा पुराने प्रगतिवाद के समीक्षकों के दोषों पर उँगली रखते हुए नयी समीक्षा-दृष्टि के निर्माण का प्रयास किया। उन्होंने मार्क्सवादी-समाजवादी आधार के बावजूद आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धांतों की दृष्टि का समर्थन किया है। उन्होंने रस की शब्दावली का नये ढंग से इस्तेमाल किया और आचार्य शुक्ल की भाँति ही काव्यानुभूति तथा जीवनानुभूति में पार्थक्य नहीं किया। इनमें पार्थक्य करने वालों पर मुक्तिबोध ने जोरदार प्रयास भी किए क्योंकि इस व्यक्तिवादी दृष्टि को वे बहुत घातक मानते हैं। इसमें उन्हें साम्राज्यवादी शक्तियों की साजिश की गंध

आती है। उनके चिंतन ने हिंदी के मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है। पश्चिम के मार्क्सवादियों से प्रभावित होकर भी यह चिंतन भारतीय है, यही इसकी विशेषता है।

पाश्चात्य साहित्य, साहित्यालोचन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र, सौन्दर्यवाद, मार्क्सवाद आदि का मुक्तिबोध ने गंभीर अध्ययन किया था। उन सभी का प्रभाव उनके समीक्षा-दर्शन पर है। मुक्तिबोध ने रचना के साथ ही आलोचना के प्रतिमान भी प्रस्तुत किए। रचना-आलोचना के इस मूल्य को मुक्तिबोध ने स्वयं कमाया है। डॉ. नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' नामक पुस्तक की भूमिका में मुक्तिबोध के अवदान को स्वीकारते हुए कहा, "यह तथ्य अनदेखा नहीं किया जा सकता कि कविता के नये प्रतिमान के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं। मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया में कभी-न-कभी प्रायः सब के सामने आदि काव्य का यह प्रश्न उपस्थित होता है : कोन्वस्मिन साम्प्रतं लोके...? उत्तर में मुझे मुक्तिबोध ही दिखे...। नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्य-मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन संभव हो सका।"

मुक्तिबोध के आस-पास की समीक्षा-दृष्टि जीवन विमुखता और जीवन निरपेक्षता के कारण सत्यनारायण की कथा मालूम होती थी, उसे मुक्तिबोध ने भयानक सैद्धांतिक कलह की ध्वंसात्मक भूमिका से निकालकर समाज-सापेक्ष मूल्यों की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने कलात्मक समाजशास्त्रीय दृष्टि से पुराने मानों में नवीन तत्त्वों का समावेश और नये मानों में नवीन दृष्टि का अनुप्रवेश किया है। संक्षेप में, वे उग्र सिद्धांतवादी अहंकार से पीड़ित न होकर, लक्ष्योन्मुख उदार मानवतावाद से प्रेरित हैं। उनके आलोचना-सिद्धांतों से स्पष्ट है कि जितनी आवश्यकता लेखकों को 'ईमानदारी' की है, उतनी की समीक्षक को 'चरित्र' की रहती है।

संपर्क: ए 102/3 एस. एफ. एस. फ्लैट्स, साकेत, नई दिल्ली-110017, मो. 9910978680

सौन्दर्यशास्त्र का मार्क्सवादी परिदृश्य और मुक्तिबोध

रवि रंजन

हिंदी विभाग, केंद्रीय विश्वविद्यालय के ख्यातिलब्ध आचार्य, समकालीन आलोचना में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। साहित्यालोचना पर आपकी 'साहित्य का समाजशास्त्र' और 'सौन्दर्यशास्त्र; व्यावहारिक परिदृश्य आलोचना का आत्मसंघर्ष', 'अनमिल आखर', 'भक्ति काव्य का समाजशास्त्र और पद्मावत' सहित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र साहित्य और कला में अभिव्यक्त सौन्दर्यबोध के स्रोत तथा उनके स्वरूप के सामाजिक संदर्भों के मद्देनजर उन पर वस्तुपरक ढंग से प्रकाश डालता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सारतत्त्व उसकी वस्तुपरकता तथा समाजवादी मानवता में निहित है। मार्क्स-एंगेल्स के लिए सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता का दृढ़ता के साथ प्रतिपादन इसलिए भी जरूरी हो गया था क्योंकि उनके पहले के तमाम भाववादी विचारक सौन्दर्य को हमेशा किसी अतीन्द्रिय लोक की सत्ता मानकर उसकी सामाजिक उपलब्धि को नजरअंदाज कर देने की प्रवृत्ति से परिचालित थे। ऐसे, आज भी कला, साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय शुद्ध सौन्दर्यवादी विचारकों की कमी नहीं है जो सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास रखते हैं। मुक्तिबोध ने ऐसे लोगों की धारणा का खंडन करते हुए लिखा है कि "आदर्शवादी भाववादी सौन्दर्यशास्त्री सौन्दर्य को मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं के ही रूप-रूपांतरों को मूलभूत तथा चरम मानकर चलने वाले साधारण रूप से, उसको किसी अतीन्द्रिय सत्ता का आत्मप्रकाश भी मानते हैं। इन आदर्शवादी भाववादियों में अनेक पंथोपपंथ हैं। वे मानव इतिहास की भी उसी ढंग से व्याख्या करते हैं जिस प्रकार वे जगत् की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। फलतः उनके लिए इतिहास, समाजशक्ति मनुष्य के परिवेश के रूप में उपस्थित होती है। वे उसे वह मूलभूत क्रिया नहीं मानते, जो मनुष्य को प्रारंभिक पाशव स्तर से उठाकर मानव स्तर तक तथा उससे भी लगातार उसकी उन्नति करती हुई आ रही है, जिसने उसकी आत्मा को वास्तविकता दी है।" इस संदर्भ में दो टूक निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि- "शुद्ध साहित्यिक सौन्दर्य, मात्र सौन्दर्य निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करने वाले लोग या तो स्वयं धोखे में है, अथवा धोखा देना चाहते हैं।"

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र मनुष्य को उसकी सामाजिक चेतना के ही अंग-अवयव के रूप में स्वीकार करता है। जाहिर है कि मार्क्स-एंगेल्स की रचनाएँ अरस्तू के 'पोयटिक्स' या क्रोचे के 'एस्थेटिक्स' की तरह किसी सुव्यवस्थित 'सौन्दर्यशास्त्र' का निर्माण नहीं करतीं। परवर्ती विचारकों ने अपने अकाट्य तर्कों से यह सिद्ध कर दिया है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र मार्क्स-एंगेल्स के साहित्य विषयक निष्कर्षों की प्रतिध्वनि के बजाय उनके द्वारा प्रवर्तित द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर निर्मित है। 'ए कन्द्रीब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी' की प्रस्तावना में मार्क्स ने लिखा है कि- "अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित संबंधों में बंधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते

हैं। उत्पादन के ये संबंध, उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन संबंध का पूर्ण समाहार ही समाज का आर्थिक ढाँचा है— वह असली बुनियाद है जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है।”

मार्क्स के उपर्युक्त कथन को केन्द्र में रखकर ही लुकाच, काडवेल, ब्रेख्त, रोजर गारोदी, फिशर आदि चिंतकों ने सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत समस्याओं पर यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया है। ये तमाम विचारक भाववादी विचारकों को कला-साहित्य के स्वायत्त एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व जैसी धारणा के विपरीत उसे श्रम की ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत विकसित हुआ मानते हैं जिसके तहत कला-साहित्य और उसके मनोगत संघटकों का विकास होता रहा है। मार्क्स की धारणा रही है कि श्रम प्रक्रियाओं के अंतर्गत ही मनुष्य में सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ ‘संगीतधर्मा कान’ तथा—‘रूपद्रष्टा आँख’ की चेतना जगी और इनका विकास हुआ। इसी प्रकार एंगेल्स ने भी ‘वानर से नर’ बनने की प्रक्रिया में ‘हाथ’ की भूमिका को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हुए स्पष्ट किया है कि इसी की बदौलत “रायफल की सी चित्रकारी, थोवल्डसन की सी मूर्तिकारी तथा पागानीनी का—सा संगीत आविर्भूत हो सका।” एंगेल्स के इस वक्तव्य का विश्लेषण करते हुए डॉ. रमेश कुंतल मेघ अपनी पुस्तक—‘साक्षी है सौन्दर्य प्राशनिक’ में लिखते हैं—“एंगेल्स ने सौन्दर्य सृजन को सबसे पहली समाजशास्त्रीय शर्त उस युग से मानी जब वनमानुषों के चौपायेपन का विकास होकर उनसे मनुष्यों का आविर्भाव हुआ और जब हाथ स्वतंत्र हो गया। हाथ केवल परिश्रम का उपकरण ही नहीं, श्रम का परिणाम भी हुआ। मानवीय हाथों ने ही उत्कर्ष की भव्य ऊँचाइयाँ प्राप्त की और सुन्दरतम सौन्दर्य-सृजन किये, हाथों ने ही धनुष-बाण तथा स्पूतनिकों और अपोलो यानों का निर्माण किया, हाथों ने ही गोम्मटेश्वर की

भीमकाय प्रतिमा गढ़ी, हाथों ने ही कांगड़ा के चित्र बनाये और हाथों ने ही ‘राम की शक्तिपूजा’ लिखी। अतः हाथों में सौन्दर्य-सृजन की बाह्य प्रक्रिया, कौशल समेत प्रतीक बनी।”

मनुष्य एवं संसार के दूसरे प्राणियों के द्वारा किये जाने वाले उत्पादन की प्रक्रिया के बीच मूलभूत अंतर को स्पष्ट करते हुए मार्क्स-एंगेल्स कहते हैं कि “अन्य जीवनधारी अपनी आवश्यकताओं एवं माप के अनुरूप ही उत्पादन करते हैं किंतु मनुष्य अपने अतिरिक्त अन्य जीवजातियों के माप और आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन करना जानता है। मनुष्य सौन्दर्य नियमों के अनुसार ही सृजन करता है।” इसके अलावा मनुष्य द्वारा उत्पादन-प्रक्रिया की एक और विशेषता यह है कि वह सारा कुछ केवल उपयोगिता को ही ध्यान में रखकर नहीं करता बल्कि उपयोगिता से परे जाकर अपने संतोष, सुख एवं आनंद के लिए भी काम करता है और कई बार, ‘स्वांतः सुखाय’ किया गया उसका कार्य ‘बहुजन हिताय’ भी सिद्ध होता है। उपयोगिता से परे जाकर कार्य करने की मनुष्य प्रवृत्ति के मूल में सौन्दर्यतत्त्व की प्रेरणा को स्वीकारते हुए मार्क्स उसे मानवजाति का ऐसा क्रियाकलाप मानते हैं जिसे मनुष्य सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत आत्मोपलब्धि की दिशा में सदा प्रगति के रूप में संपन्न करता है।

मार्क्स के सौन्दर्य-तत्त्व विषयक उपर्युक्त मंतव्य को और अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए यहाँ मुक्तिबोध को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा जिन्होंने हिंदी में कदाचित् पहली बार मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में सूत्रवाक्य प्रस्तुत करते हुए ‘एक साहित्यिक की डायरी’ में लिखा था कि “कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैन्टेसी का धारण कर लेना मानो वह फैन्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।” कहना न होगा कि रचना-प्रक्रिया को लेकर भाववादी रचनाकारों/विचारकों द्वारा साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में उहापोह पैदा करने वाले जो भारी-भरकम वक्तव्य दिये जाते हैं उनकी रहस्यमयता

को तोड़ने में मुक्तिबोध का यह वक्तव्य कितना कारगर रहा है। इसी प्रकार सौन्दर्यानुभूति के सन्दर्भ में भी उनकी धारणा भाववादी विचारकों के मुकाबले ज्यादा साफ और मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण है। सौन्दर्यानुभूति को वास्तविक जीवन की मनुष्यता बताते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं... “अपने से परे उठने और परे जाने की यह जो प्रवृत्ति है, उसी की एक विशेष शाखा है सौन्दर्यानुभूति। यह सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की विशेषता नहीं है, वरन् यह उन सबकी विशेषता है जिन्हें हम मनुष्य कहते हैं। वह मनुष्यत्व का एक लक्षण है।... घर में दिन भर मेहनत करने वाली माँ और पत्नी, मारा-मारा फिरने वाला नवयुवक, अपने माँ-बाप का बोझ हल्का करने के लिए नौकरी ढूँढ़ने वाली बेटी- इनको मानव जीवन का यह रस प्राप्त होता रहता है। इसीलिए वे जीते हैं, अपने लिए और दूसरों के लिए। सौन्दर्यानुभूति केवल कलाकार की निधि नहीं है। वह वास्तविक जीवन में, वास्तविक भावना और कल्पना का उच्चतर स्तर पर ऐसा एकाएक उत्स्फूर्त और विकसित विस्तार है, जिसमें मनुष्य की व्यक्तिसत्ता का विलोपन हो जाता है। किंतु आत्मबद्ध दशा का यह परिहार वास्तविक जीवन में, वास्तविक जीवन का ही अंग है, जिसकी सहायता के बिना वास्तविक जीवन अधिक सुखकर तथा सुगम नहीं होगा, जिसके बिना यथार्थ मानव संबंध अधिक स्निग्ध और सार्थक नहीं होंगे, जिसके बिना हम दूसरों में घुलमिल सकने के आनंद को सघन नहीं करेंगे। संक्षेप में, सौन्दर्यानुभूति की अधिकतमता और बारंबारता जिस व्यक्ति में अधिक होगी वह अधिक मनुष्य होगा।..... अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्य क्षमता से उसका पूरा और सीधा संबंध है। अपनी एक कविता में जब मुक्तिबोध कहते हैं कि-

समस्या एक

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों के

सभी मानव

सुखी, सुंदर व शोषणमुक्त

कब होंगे।

तो स्पष्ट ही यह एक ऐसे मानवतावादी कवि की चिंता है जो आत्मबद्ध दशा का परिहार कर मनुष्य-मात्र को ऐसी स्थिति में देखना चाहता है जिसमें कि उसे मानवोचित जीवन जीने की तमाम अनिवार्य शर्तें उपलब्ध हों। रचनाकार

का यह स्वप्न, उसकी यह उदात्त अनुभूति और कुछ नहीं, सौन्दर्यानुभूति ही है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता को स्वीकारते हुए मुक्तिबोध ने ‘मानसिक द्रवण के क्षण को सौन्दर्यानुभूति का क्षण’ माना है। उनके अनुसार सौन्दर्यानुभूति के दो लक्षण हैं- आत्मबद्ध दशा का परिहार तथा आनंदात्मक अनुभव।

जब ‘नयी कविता’ के बुर्ज से एक जमाने में कला-संस्कृति के क्षेत्र में शोषक वर्ग की सौन्दर्याभिरूचि के पोषक रचनाकारों द्वारा जनपक्षधर रचनाओं को सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से विद्रूप करार दिया जाने लगा तो इसका प्रतिवाद करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा था- “ये सौन्दर्यवादी लोग भूल गये हैं कि बंजर काले स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अंधेरे में उगे छोटे से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। विशाल व्यापक मानव-जीवन में पाये जाने वाले भयानक संघर्ष के रौद्र रूप तो उनकी सौन्दर्याभिरूचि के फ्रेम से बाहर आये थे। आप मुझे क्षमा करेंगे अगर मैं यह कहूँ कि ‘नयी कविता’ में आवेश के पंख काट दिये गये, कल्पना को अपने पिंजरे में पालकर रखा गया। उसे मानव-जीवन को मूर्त और साक्षात् करने वाली रचनात्मक-शक्ति के रूप में उपस्थित नहीं किया गया, क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की भद्रजनोचित सौन्दर्याभिरूचि के फ्रेम के खिलाफ जाती थी।”

कहना न होगा कि वह “भद्रजनोचित सौन्दर्याभिरूचि” और कुछ नहीं सांस्कृतिक क्षेत्र में किसी युग विशेष में ऐतिहासिक तथा आर्थिक-राजनीतिक कारणों से वर्चस्व प्राप्त कर लेने वाले अभिजनों की वर्गाभिरूचि ही है, जो संस्कृतकर्मियों को अपने विभिन्न हथकंडों द्वारा अनुकूलित करने की निरंतर चेष्टा करते रहते हैं। जो कवि-लेखक सत्ता-व्यवस्था के द्वारा प्रदान किये जाने वाले विभिन्न पुरस्कारों एवं सुविधाओं के प्रलोभन से अपने बचाकर अनुकूलन से जूझते हैं, उन्हें अनेकानेक विपन्न परिस्थितियाँ झेलनी पड़ती हैं और जो रचनाकार इस सत्तानुकूल का शिकार हो जाते हैं, उनकी सौन्दर्याभिरूचि प्रायः जड़ीभूत हो जाने को अभिशप्त होती है। अपनी कविताओं में ऐसे समझौतापरस्त शब्दकर्मियों की बखिया उधेड़ते हुए मुक्तिबोध कहते हैं -

1. राजनीति, साहित्य और कला के प्रतिष्ठित महासूर्य

बड़े-बड़े मसीहा

सरकस के जोकर से रिझाते हैं निरंतर

नाचते हैं कूदते हैं

शोषण में सिद्धहस्त स्वामियों के सामने।

2. दुनिया को हाट समझ

जन-जन के जीवन का मांस काट

रक्त-मांस विक्रय के

प्रदर्शन की प्रतिभा का

नया ठाट,

शब्दों का अर्थ जब

नोच-खसोट लूट पाट।

(मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, पृ. 44)

कला, साहित्य, संस्कृति ही नहीं; मानव-सक्रियता के किसी भी क्षेत्र से जुड़ा मनुष्य जब व्यवस्थानुकूल के इस शैतानी ढाँचे में फिट होने से इंकार कर देता है तो भले ही यह कुछ लोगों के लिए 'सिनिकपन' हो किंतु उसका इंकार वस्तुतः व्यवस्था द्वारा निर्धारित एवं स्वीकृत तमाम मूल्यों एवं मानदण्डों के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्नचिन्ह खड़ा करता है। ये मूल्य-मानदण्ड सामाजार्थिक और राजनैतिक ही नहीं, सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय भी होते हैं जिन्हें प्रतिबद्ध कवि बेहिचक नकार देता है-

नामंजूर उसको

जिन्दगी की शर्म की सी शर्त नामंजूर।

(मुक्तिबोध रचनावली, भाग 2, पृ. 391)

अदोल्फो सांचेज वास्कवेस ने 'सौन्दर्य बोध के खोत और स्वरूप के बारे में मार्क्स के विचार' का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि-"सौन्दर्यशास्त्र को मार्क्स महान योगदान मनुष्य और यथार्थ के बीच एक विशिष्ट संबंध के रूप में सौन्दर्यबोध के बारे में उनकी वह धारणा है जिसके अनुसार सौन्दर्यबोध प्रकृति का रूपांतरण करने और मानवीय वस्तुओं का जगत निर्मित करने की प्रक्रिया में ऐतिहासिक और सामाजिक रूप से विकसित हुआ है।" अपने इसी निबंध में आगे वे मनुष्य की सौन्दर्य-संवेदना तथा सौन्दर्यपरक संबंध के सामाजिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे उपयोगितावाद से पृथक् बताते हैं- "सौन्दर्य-संवेदना तभी प्रकट होती है जब मानवीय संवेदना इस हद तक समृद्ध हो

चुकी होती है कि वस्तुएँ प्रमुखतः और सारतः मानवीय यथार्थ, सारभूत मानवीय शक्तियों का यथार्थ बन जाती हैं। वस्तुओं के गुणों को सौन्दर्यपरक गुणों के रूप में तभी देखा जाता है जब उन्हें प्रत्यक्ष उपयोगितावादी अर्थ में नहीं समझा जाता, जब वे खुद मनुष्य की अभिव्यक्ति और उसका सार हो जाते हैं। खास तौर पर कला-रचना आमतौर से वस्तुओं के साथ बनने वाले सौन्दर्यपरक संबंध मानवता के समूचे इतिहास के फल हैं और इसके साथ ही ये दोनों उन सर्वाधिक विकसित साधनों में हैं जिनसे मनुष्य वस्तु जगत में अपने को स्थापित करता है।" किंतु, इसका मतलब यह नहीं कि मार्क्सवादी विचारक साहित्य, कला आदि को अनुपयोगी मानते हैं। '1844 की आर्थिक एवं दार्शनिक पाण्डुलिपि' में मार्क्स ने साफ लिखा है कि श्रम के किसी ऐसे उत्पाद की कल्पना भी नहीं की जा सकती जो भौतिक अर्थ में अनुपयोगी हो। भाववादी तथा यांत्रिक भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र से भिन्न मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र श्रम के उच्चतर रूप में कला साहित्य आदि को मनुष्य की सौन्दर्यबोधात्मक क्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में मान्यता देता है जिसकी मानवीय और सार्वभौम उपयोगिता होती है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार साहित्य एवं कला-सृजन मनुष्य द्वारा संपन्न ऐसा सांस्कृतिक क्रिया-व्यापार है जो कुदाल को कलम से ओछा मानने के बजाय श्रम में सौन्दर्य की सत्ता देखता है। काव्य-क्षेत्र में उपलब्ध इस बात के अनेकानेक प्रमाणों में एक मुक्तिबोध एवं केदारनाथ अग्रवाल की नीचे उद्धृत काव्य पंक्तियाँ हैं, जिनमें शारीरिक श्रम एवं शब्दकर्म के बीच द्विभाजकता को साफ तौर पर नकारा गया है।

1. विचार आते हैं

लिखते समय नहीं बोझ ढोते वक्त पीठ पर

सिर पर उठाते समय भार

परिश्रम करते समय

चांद उगता है व

पानी में झलमलाने लगता है

हृदय के पानी में।

-मुक्तिबोध

2. छोटे हाथ परिश्रम करते,

ईंटों पर ईंटे धरते हैं।

मधुमक्खी से तन्मय होकर

मधुकोषों से घर रचते हैं

/ / /
छोटे हाथ गुनी-ग्यानी हैं,
मौलिक ग्रंथों को रचते हैं
/ / /

मानव की सुन्दरतम कृतियां

मानव को अर्पित करते हैं। -केदारनाथ अग्रवाल

इस संदर्भ में अंततः लुकाच को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा जिन्होंने 'समाजवादी मानवता' को 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र' का सार बताया है- "समाजवादी मानवता ही प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्र एवं वस्तुवादी ऐतिहासिक चेतना का सार है। यह वस्तुवादी चेतना सामग्रिक भाव से मूलाधार का संधान करती है किंतु पुष्प के अह्लादकारी सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं करती, बल्कि ठीक इसके विपरीत इतिहास की वस्तुवादी चेतना एवं प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्र इस मूलाधार एवं फल के सजीव संपर्क को अविच्छेद मानने के पक्ष को मजबूत बनाता है।" एक अन्य स्थान पर लुकाच ने साफ लिखा है कि "मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र उस प्रश्न का हल ढूँढ़ लेता है, जिससे महान लोग एक अरसे से उलझ रहे हैं। (और जो प्रश्न छोटे लोगों की समझ में इसलिए नहीं आता था कि वे लोग छोटे थे) यह प्रश्न है, किसी कलाकृति के स्थायी सौन्दर्यमूल्य को उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का अंग बनाना जिससे वह कृति अपनी पूर्णता और सौन्दर्यमूल्य में ही वस्तुतः अविभाज्य होती है।.... चूँकि महान कलाकार गतिहीन वस्तुओं और स्थितियों को नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि प्रक्रिया की दिशा और रूझान को व्यक्त करने की कोशिश करता है, इसलिए उसे इस प्रक्रिया के स्वरूप की अच्छी समझ होनी चाहिए और इस प्रकार की समझ बिना पक्षधरता के नहीं आ सकती।"

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र' कला का विरोधी नहीं कलावाद का विरोधी है। वह 'शैलीवाद' का विरोधी तो है किंतु शैली के किसी प्रकार-विशेष से उसका विरोध नहीं है। इसी तरह 'प्रकृतवाद' से विरोध होने के बावजूद वह किसी प्रकृत-सत्य को विरोधी नहीं है। वह कला-साहित्य आदि के क्षेत्र रूपवादी

रूझान का जितना विरोधी है, सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता में विश्वास रखने के बावजूद 'वस्तुवाद' से उतना ही अलग है। सौन्दर्य को लेकर वह किसी भी प्रकार के अमूर्तन या अतिन्द्रियता की धारणा को स्वीकार भले न करता हो पर कला-साहित्य के लिए सौन्दर्य तत्त्व को अपरिहार्य मानता है। निराला के एक काव्यांश के विचारसूत्र लेकर यदि कहें तो वैज्ञानिक यथार्थवादी लेखक की रचनादृष्टि में 'चारु चयन' की वही अनिवार्य भूमिका है जो हरे पत्ते में जल की, पुष्प में सुरभि की, फल में बीज की तथा उपवन में पक्षियों के कलरव को होती है-

"पल्लव में जल, सुरभि सुमन में

फल में दल, कलरव उपवन में

लाओ चारु चयन चितवन में"

-निराला

किंतु इस संदर्भ में यह पहले स्पष्ट कर देना जरूरी है कि आज के बदलते माहौल में हम 'चारुता' की पुरानी धारणा से चिपककर नहीं रह सकते। यदि इस कड़वे सत्य से हम मुंह चुरायेंगे वो हमारी 'चारुता' कभी 'प्रियषुसौभाग्यफला' नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में तो हम उस जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि के शिकार हो जायेंगे जिससे मुक्ति का आह्वान करते हुए सन् 1936 में ही प्रेमचंद ने कहा था-"हमें हुस्न का मेयार तब्दील करना होगा" क्योंकि-"अभी तक उसका मेयार अमीराना, ऐशपरवाना था।" उन्होंने 'जीवन संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष' देखने की जो राय दी थी वह आज भी हमारे लिए उतनी ही प्रासंगिक है। यह सुखद है कि हमारे समय-समाज के लगभग सभी महत्वपूर्ण शब्दकर्मों अपने जमाने की 'हाइपर रियालिटी' से पूरी तरह वाकिफ हैं। ब्रेख्त की शब्दावली में कहें तो वे 'अंधकार के युग में भी अंधकार के बारे में कविता' लिख रहे हैं। इस ख्रोत सामग्री से ही मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को अपने भावी विकास के लिए ऊर्जा प्राप्त हो सकती है। इसको नजरअंदाज करके या इससे कटकर यदि कोई सौन्दर्यशास्त्र विकसित होता है तो वह ब्रेख्त के शब्दों में कालान्तर में 'उत्पादन का शत्रु' ही सिद्ध होगा, उसकी भूमिका सृजन-विरोधी होगी।

संपर्क : 09000606742

मुक्तिबोध के प्रगीत-काव्य का संदर्भ

रामनिहाल गुंजन

गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-1964) का लेखन 1935 में आरंभ हुआ था, जब वे माधव कॉलेज, उज्जैन में अध्ययनरत थे। 1938 में बी.ए. करने के बाद 'निष्क्रिय मास्टरी' करने लगे। उसके बाद की स्थिति के बारे में मुक्तिबोध ने 1943 में अज्ञेय को 'तारसप्तक' में प्रकाशनार्थ अपनी कविताएँ भेजने के साथ ही अपने वक्तव्य में लिखा था- "नौकरियाँ पकड़ता-छोड़ता रहा। शिक्षक, पत्रकार, पुनः शिक्षक, सरकारी और गैर सरकारी नौकरियाँ, निम्न मध्यवर्गीय जीवन, बाल-बच्चे, दवा-दारू, जन्म-मृत्यु।" यह वक्तव्य मुक्तिबोध के जीवन-संघर्ष बकौल निराशा 'दुख ही जीवन की कथा रही' का सूचक है। महज 45 वर्ष का जीवन जीने वाले मुक्तिबोध को, अंततः यह कहने को विवश होना पड़ा-

'ओ मेरे आदर्शवादी मन

ओ मेरे सिद्धांतवादी मन

अब तक क्या किया

जीवन क्या जिया!!'

यह सही है कि मुक्तिबोध की- 'जिंदगी निष्क्रिय बन गई तलघर' सी-अनुभूति अकारण नहीं थी। उनके सामने का परिदृश्य भी साफ था, जिसमें 'बौद्धिक वर्ग क्रीतदास बना फिरता था'। इसी को लक्ष्य कर पचास वर्ष पहले उन्हें 'अंधेरे में' जैसी कविता की रचना करनी पड़ी और यह कहना पड़ा था-

भव्याकार भवनों के विवरों में छिप गये

समाचार पत्रों के पतियों के मुख स्थूल।

गढ़े जाते संवाद,

गढ़ी जाती समीक्षा,

गढ़ी जाती टिप्पणी जन-मन-उर-शूल।

बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास

किराये के विचारों का उद्भास।

बड़े-बड़े चेहरों पर स्याहियाँ पुत गई,

नपुसंक श्रद्धा

सड़क के नीचे की गटर में छिप गई,

कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध द्वारा चित्रित परिवेश आज के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश से मिलता-जुलता है। इसलिए जबकि मुक्तिबोध का जन्म- शती-वर्ष भी निकट है, ऐसे में उनकी लंबी कविताओं के पुनर्पाठ और मूल्यांकन की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता। चूंकि मुक्तिबोध ने लंबी

कविताओं के साथ-साथ प्रगीत काव्यों की भी रचना की है। अतः उनके प्रगीत काव्यों की विवेचन करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। दरअसल मुक्तिबोध की काव्य-संवेदना और संरचना की चर्चा अक्सर जिस प्रसंग में की जाती है वह परंपरित संदर्भ से भिन्न है। फिर भी मुक्तिबोध जिन कारणों से साहित्य की दुनिया में अधिक चर्चित हुये वे उनकी काव्य संरचना और संवेदना के साथ-साथ जीवनानुभवों के व्यापक संसार में उद्घाटित होने वाले वस्तुगत परिप्रेक्ष्य है। शमशेर बहादुर सिंह ने 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में लिखा है- "मुक्तिबोध के सारे प्रयोग विषय-वस्तु को लेकर हुए हैं" स्पष्ट है मुक्तिबोध ने जो भी प्रयोग किए, उनके पीछे उनका अभिप्राय कथ्य को विविध रूपों में संप्रेषित करना रहा है। फिर भी संप्रेषणीयता के नाम पर कंटेंट (काव्यतत्व) की बलि देने के पक्ष में वे कभी नहीं रहे। उल्लेखनीय है कि उन्होंने यह प्रयोग कविता और कहानी, दोनों क्षेत्रों में किया। यहाँ उनके काव्य-प्रयोग, खासकर प्रगीत-काव्य पर चर्चा अभीष्ट है।

मुक्तिबोध ने अपनी लंबी कविता के अंत की चर्चा करते हुए लिखा है कि चूँकि लंबी कविताएँ पूर्णता में रचित होती हैं, जिनमें संश्लिष्ट और गतिशील यथार्थ व्यक्त होता है। इसके विपरीत छोटी कविताएँ प्रायः अपूर्ण होती हैं। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः लंबी कविताएँ ही रही हैं। उनके शब्द हैं- 'यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुंफित होते हैं, साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है और उसके तथ्य भी परस्पर गुंफित हैं। यही कारण है कि मैं छोटी-छोटी कविताएँ लिख नहीं पाता हूँ और जो छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती हैं।' (एक साहित्यिक की डायरी, पृष्ठ सं. 27) लिहाजा मुक्तिबोध की लंबी कविता की रचना-प्रक्रिया तीन बातों को लेकर संपन्न होती है- विषय-वस्तु, रचना की पूर्णता और कविता के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विविध प्रयोग।

यों प्रयोग की दृष्टि से मुक्तिबोध की कविता के भीतर प्रगीत-रचना एक नवीन प्रयोग है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसका अभिप्राय काव्य-संवेदना का प्रभावशाली संप्रेषण रहा है। यही कारण है कि मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में लयबद्धता, संपूर्णता और अर्थ की अन्विति

का बराबर ध्यान रखा है। इसी क्रम में वे अपनी कविताओं को प्रगीतात्मक संरचना प्रदान करते हुए उसके भीतर लयबद्ध संवेदना की सृष्टि करते हैं। यह सही है कि मुक्तिबोध ने उस अर्थ में गीत की रचना नहीं की, जिस अर्थ में स्वतंत्र गीतों की रचना संपन्न होती है। दरअसल जिन अर्थों में निराला की काव्य संवेदना एक स्तर पर पहुँचकर प्रगीत का रूप ग्रहण कर लेती है, लगभग उन्हीं अर्थों में मुक्तिबोध की संवेदना प्रगीत-काव्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। निराला की कविता 'तोड़ती पत्थर' जो एक अगीत है, किंतु जो लयबद्धता, अर्थ की अन्विति और संपूर्णता की दृष्टि से एक प्रगीत-काव्य का ही उदाहरण है-

चढ़ रही थी धूप
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप
उठी झुलसती हुई लू
रुई ज्यों जलती हुई भू
गर्द चिनगी छा गई
प्रायः हुई दुपहर
वह तोड़ती पत्थर।

निराला अगीत में भी गीत की सृष्टि करते हैं। उनकी इसी विशेषता को लक्ष्य कर डॉ. रामविलास शर्मा ने एक जगह लिखा है- 'निराला (कविता में) गीत रचते हैं, कविता में भाषण भी करते हैं।' मुक्तिबोध की प्रगीतात्मक और वर्णनात्मक कविताओं के साथ भी यही तथ्य प्रकारान्तर से घटित होता है। वैसे मुक्तिबोध ने छंदोबद्ध कविताएँ भी लिखी हैं, और प्रयोग के बतौर लंबी कविताओं के भीतर भी प्रगीत की रचना की है। इस प्रसंग में ग्रेवियल ग्रियर्सन का यह कथन गौरतलब है, जिसके अनुसार 'प्रगीत कविता का एक प्रयोग है।' दूसरी ओर अमरीकी आलोचक आइबर विंटर्स के अनुसार 'छोटी कविता ही मूलतः प्रगीत काव्य होती है।' लिहाजा लंबी कविताओं में प्रगीत काव्य की गुंजाइश नहीं रहती है। इसलिए प्रयोग के जरिये उनकी संभावना को रेखांकित करने के उद्देश्य से मुक्तिबोध को लंबी कविताओं में प्रगीतमूलक संवेदना को व्यंजित करने की आवश्यकता महसूस हुई। इस दृष्टि से मुक्तिबोध की 'भूल-गलती', 'पता नहीं', 'मुझे पुकारती हुई पुकार', 'मुझे नहीं मालूम', 'कल जो हमने चर्चा की थी', 'एक

स्वप्न कथा', 'अंधेरे में', 'जब वृद्धा माँ के अंतर की' आदि कविताओं से गुजरते हुए सहज ही इस तथ्य का अहसास किया जा सकता है कि मुक्तिबोध जहाँ जीवन के खुरदुरे यथार्थ के रू-ब-रू होकर अनेकानेक गतिशील और संघर्षधर्मी तत्त्वों के संपर्क में आते हैं, वहाँ उनके जीवन में भी एक लय, एक गति पैदा होती है, जिसकी व्यंजना प्रायः उनकी कविताओं में होती है। यह लय और गति जन-जीवन के छंदों के साथ मिलकर एक अभूतपूर्व प्रगीत-काव्य की सृष्टि करती है। यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविताओं को पढ़ते हुए जहाँ पाठक हॉरर और विस्मय की जड़ीभूत स्थितियों से गुजरने लगता है वहाँ कविता की आंतरिक लय, जो प्रगीतात्मक होने के साथ-साथ गतिशील होती है, उसका प्रभाव पाठक को सहसा उस हॉरर से मुक्ति का अहसास दिलाता है। मुक्तिबोध की कविताओं में अक्सर यह अहसास एक नये सौंदर्यबोध की रचना करता है। इसलिए उनकी काव्य संवेदना को समग्रता में देखते हुए उसकी प्रगीतात्मकता गौर करने योग्य है—

कितनी ही गर्वमयी
सभ्यता-संस्कृतियाँ
डूब गयीं।
कांपा है, थहरा है,
काल-जल गहरा है,
शोषण की अतिमात्रा
स्वाथों की सुख-यात्रा
जब-जब सम्पन्न हुई
आत्मा से अर्थ गया, मर गयी सभ्यता।
भीतर की मोरियाँ अकस्मात् खुल गयीं।

उपर्युक्त पंक्तियाँ 'एक स्वप्न-कथा' शीर्षक कविता की हैं। कविता में जो लय के साथ-साथ वस्तु की अर्थवत्ता है, वह गौरतलब है। इसमें सहज लयमयता पूरी कविता में एक प्रगीतात्मक प्रवाह पैदा करती हुई लक्षित की जा सकती है। इस कविता की रचना मुक्तिबोध ने देश और समाज के सांस्कृतिक दृष्टि से हो रहे अधःपतन को लक्ष्य कर की थी, जिसमें कवि को कहीं अपनी विजय और पराजय को लेकर अंतर्द्वन्द्व की स्थिति का तीव्रता से अहसास होता है तो कहीं 'जमाने की गहरी शिकायतें/खूरेज किस्सों से निकले नतीजों' से उसका साक्षात्कार होता है। इसी

प्रकार 'भूल-गलती' कविता परतंत्र भारत में राजनीतिक भूल-गलती करने वालों के सत्तासीन हो जाने पर लिखी गई थी—

भूल-गलती
आज बैठी है जिरह बख्तर पहनकर
तख्त पर दिल के;
चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक;
आँखें चिलकती हैं नुकीले तेज पत्थर-सी
खड़ी है सिर झुकाये
सब क्रतारें।
बेजुबाँ बेबस सलाम में,
अनगिनत खम्भों व मेहराबों-थमे
दरबारे-आम में।

कविता में जो व्यंग्य की धार है, वह प्रखर से प्रखरतर हो गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्तिबोध कविता में प्रगीतात्मक संवेदना के जरिये एक प्रकार की त्वरा की भी सृष्टि करते हैं। इस अर्थ में किये गये उनके सारे प्रयोग उनकी रचनाओं को नाटकीयता और एक भिन्न अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। दूसरे, ये प्रयोग मुक्तिबोध की काव्य-यात्रा की एक अलग पहचान भी निर्धारित करते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि वे विविध काव्य शैलियों के प्रयोग के जरिये भारतीय समाज की सामाजिक और राजनीतिक विडंबनाओं पर तेज व्यंग्य-प्रहार भी करते चलते हैं। इसलिए उनके लिए काव्य-प्रयोग सिर्फ प्रयोग के लिए नहीं है। वे उसका यथावसर सार्थक उपयोग करते हैं। कुछेक उदाहरणों द्वारा इसे सुनिश्चित किया जा सकता है—

1. कल जो हमने चर्चा की थी
हिय की उष्मा के उफान-से निकल रहे थे
सही-सही बातों के उत्तर।
हम ज्वालामुखियों के मुँह में उतर रहे थे
(कल जो हमने चर्चा की थी।)

2. वह आसमान तो झुकने दो
उसके मुख पर
इस समय बात के पूरे नहीं/अधूरे तम,
कमजोर...प्रखर होना बाकी
अब बूटों-दबा दीन ढेला
कैलाश-शिखर होना बाकी

कैलाश-शिखर पर बैठेंगे।

(मेरे सहचर मित्र)

3. पता नहीं, कब, कौन, कहाँ किस ओर मिले

किस साँझ मिले, किस सुबह मिले!!

यह राह ज़िन्दगी की

जिससे जिस जगह मिले। (पता नहीं)

4. मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं

प्रलम्बिता अँगार रेख सा खिंचा

अपार चर्म

वक्ष प्राण का

पुकार खो गयी कहीं बिखरे अस्थि के समूह

जीवनानुभूति की गंभीर भूमि में''

(मुझे पुकारती हुई पुकार)

5. करुणा के दृश्यों से हाय! मुँह मोड़ गये,

बन गये पत्थर;

बहुत-बहुत ज्यादा लिया,

दिया बहुत-बहुत कम;

मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम!!

(अंधेरे में)

इन पंक्तियों में प्रगीत-काव्य के कई अंश प्रस्तुत हैं। वैसे ये कविताएँ अपनी समग्रता में पूरे-के-पूरे प्रगीत-काव्य के उदाहरण हैं। ये संपूर्णता में जो व्यापक फलक प्रस्तुत करते हैं, उसको देखते हुए यह बात स्पष्ट रूप से लक्षित की जा सकती है कि कवि देश की सीमा से ऊपर उठकर संपूर्ण विश्व की व्यापक मानवता के हित में 'ज्वालामुखियों के मुँह में उतरने और दबे-कुचले लोगों के कैलाश-शिखर' होने की बात सोचता है। चिंतन की इसी दिशा में बढ़ते हुए वह अपने सहचर मित्रों की तलाश करता है तथा इस आह्वान के प्रति भी सजग है, जो कहीं खो गया है। दूसरे, वह उस शोषक-वर्ग को बार-बार कोसता है, जिसमें मानवीय करुणा की पूरी तरह ह्रास हो चुका है, जो समाज और देश को कम-से-कम देता है तथा उससे ज्यादा-से-ज्यादा लेता है और इसका खामियाजा पूरे देश की जनता को भुगतना पड़ता है।

यों इन कविताओं से गुजरने पर जो तथ्य सामने आता

है, वह यह है कि मुक्तिबोध की अधिकांश कविताओं की संरचना प्रगतिमूलक है। 'अंधेरे में' कविता के अंतिम हिस्से में जहाँ कवि बार-बार 'कहीं आग लग गयी/ कहीं गोली चल गयी' की आवृत्ति करता है, वहाँ आकस्मिक रूप से कविता में नाटकीय व्यंग्य पैदा होता है तथा इसमें कविता के प्रगीतात्मक अंत की सूचना मिलती है। एक अन्य कविता- 'जब वृद्धा माँ के अंतर की' प्रगीत-काव्य का सबसे अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। पूरी कविता में पराधीन, जर्जर भारतमाता और जन-जागरण का चित्र है। गुलाम देश की जनता अपनी देश की आजादी के लिए पूरी तरह तैयार हो गयी तो लगता है जैसे पूरा एशिया ही जाग उठा हो-

जब वृद्धा माँ के अंतर की

धुँधली लौ के अंतर में से

उल्का निकली, तारे टूटे,

तभी एशिया जाग उठा था!

छाती के भीतर की ज्वाला

जब बाँकी शमशीर हुई थी।

इस प्रकार मुक्तिबोध के काव्य-संसार से गुजरते हुए इस सच्चाई का अहसास बार-बार होता है कि वे अपनी अनेक आयामी कविताओं के जरिये जिस ऊँचाई को प्राप्त करने के आकांक्षी थे, उसका मूलभूत आधार उनकी काव्य-संवेदना की प्रगीतात्मक संरचना रही है। दूसरे, मुक्तिबोध अपने वर्तमान और भविष्य की आँखों से इतिहास के जिन संदर्भों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वे बहुत कुछ ऐसे ही प्रगीत-काव्यों के आधार पर संभव हुई प्रतीत होती है। इसी प्रसंग में एक बात और ध्यान देने की है और वह यह कि मुक्तिबोध अपनी जनपक्षधरता को हर हालत में कायम रखने की कोशिश करते हैं, चाहे वह राजनीतिक चिंतन का क्षेत्र हो या लेखन का। यही कारण है कि मुक्तिबोध का कहीं सिर झुका भी है तो सिर्फ दोस्तों के लिए। बहुत संभव है शमशेर की ये पंक्तियाँ मुक्तिबोध के लिए ही लिखी गयी हों-

यह सलामी दोस्तों को है मगर

मुड़ियाँ तनती हैं दुश्मनों के लिए।।

संपर्क: नया शीतल टोला, आरा, पिन- 802301 (बिहार)

आलोचकों के आइने में मुक्तिबोध

डॉ. एम. श्याम राव

एसोशिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)

हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय

जो अपने लिए सारी दुनिया की वेदना का जहर ले, जो दूसरों को प्यार की सरिता में नहलाता रहे, जीवन जीने के लिए जो अपनी कविता को औजार बनाये और दूसरों के लिए अपनी ज़िन्दगी हारता रहे ऐसे व्यक्ति को 'मुक्तिबोध' के सिवा और दूसरा क्या नाम दिया जा सकता है? वे जिस घर में जन्मे थे उस घर के संस्कार उन्हें रास नहीं आये। संस्कारों की जकड़न उन्हें अपनी गिरफ्त में नहीं ले सकी। परम्परागत संस्कार अधिक से अधिक उनके व्यक्तित्व का स्पर्श मात्र ही कर सके। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को अपनी विचारधारा से एक नई आभा प्रदान की। फलस्वरूप बंधी बंधाई सरहदें स्वयं टूटती गईं। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व ने अपने प्रारंभिक संस्कारों और विस्फोटक प्रतिभा के तीव्र द्वंद्व से सारी रूढ़ियों को तोड़कर एक नया रूप प्राप्त किया था। यह बात हिन्दी के अन्य कवियों के साथ भी घटित हुई चाहे नागार्जुन हो या त्रिलोचन सबके व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया में यही द्वंद्व मूलभूत तत्त्व है। मुक्तिबोध प्रतिभा की अद्वितीय ऊर्जा से मंडित थे और अपनी परिस्थितियों से निरंतर टकराते हुए उसे निखारते हुए आगे चले गये। वास्तव में प्रतिभा अपने आप में सब कुछ नहीं है, किन्तु मूलतः उसे आदि बीज तो कहा ही जा सकता है। यही प्रतिभा कलाकार को दर-दर भटकाकर घाट-घाट का पानी पिलाती है। प्रतिकूलता में यही प्रतिभा जड़ और मानव विरोधी समाज के लिए चुनौती बन जाती है। मुक्तिबोध का पूरा लेखन इसी मनःस्थिति और परिस्थिति की सम्मिलित उपज है। हिन्दी साहित्य जगत में न जाने कितनी प्रतिभाओं को दर-दर भटकना पड़ा। इसी में निराला भी एक हैं। मुक्तिबोध जीवन भर इसी संघर्ष के दौरान अपनी रचना की अखंड ज्योति जलाते रहे। वे निम्न मध्यवर्ग की छटपटाहट और परेशानियों से जुड़ना चाहते थे। इसी छटपटाते व्यक्तित्व को लेकर मुक्तिबोध अंधेरे में गर्म रास्तों पर निकल पड़ते थे। समझौता उन्हें नापसंद था। यही कारण है कि वे न तो परिस्थितियों से समझौता कर सके और न सांसारिक व्यावहारिकता से अपना ताल-मेल बैठा पाये। बचपन ज़रूर कुछ आराम से गुजरा, पर किशोरावस्था में ही जैसे-जैसे समझ बढ़ती गई, मुक्तिबोध अपने घर परिवार की दुनिया से बाहर के अनुभवों और अपने समय के महत्वपूर्ण लेखकों से प्रभावित होकर सन् 1935 से लिखना आरंभ करके 1964 तक अर्थात् मृत्यु पर्यन्त लिखते रहे। उनकी कविताएँ उनकी ज़िन्दगी की प्रतिलिपि हैं। मुक्तिबोध ज़िन्दगी से कविता और कविता से ज़िन्दगी को जोड़कर अभिव्यक्त करने वाले प्रतिबद्ध कवि थे। वस्तुतः 'मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में सभी मानव सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त कब होंगे'— कहने वाले मुक्तिबोध स्वयं पिसते रहे। टूट-टूट कर खड़ा, खड़ा होकर पुनः असंगतियों व त्रासदियों का शिकार होता रहा, किन्तु न तो हारा न कभी झुका ही। 'ना मंजूर उसको

जिन्दगी की शर्म की-सी शर्त ना मंजूर' कहने वाले मुक्तिबोध हारते और झुकते भी तो कैसे? उनका व्यक्तित्व विद्रोह के साँचे में ढला था, ऊपर से नीचे तक अपनी निजता का कायल था।

मुक्तिबोध की कविताएँ इसी निजता के कायलपन से लिखी गई हैं। इसलिए उनकी कविताएँ एकदम कल्पना-प्रसूत कोरे भावावेश की सृष्टि नहीं हैं बल्कि उनमें एक वैचारिक युगबोध मिलता है। वे नई कविता के मुश्किल और सबसे कठिन कवि हैं। लेकिन इस मुश्किलताहट और खुरदुरेपन के बीच उनकी कविताओं में आधुनिक संवेदनशीलता का सौन्दर्य बखूबी झलकता है। डॉ. सुवास कुमार के अनुसार मुक्तिबोध की कविता सामाजिक संबंधों से जुड़ी और प्रासंगिक रहती है। इनमें समकालीन आधुनिक दबावों, संश्लिष्टताओं और खतरों से स्पष्टता, सादगी और निर्भीकतापूर्वक निपटने का दृढ़ संकल्प व्यक्त होता है। यह कविता संशय, दुविधा, हताशा, अकर्मण्यता आदि भावों को वैज्ञानिक तर्क बुद्धि से परास्त करती है। परिवेश के प्रति ईमानदार संघर्ष और सच्चाई कवि-कर्म संलग्नता मुक्तिबोध के काव्य व्यक्तित्व को उखड़ने और बिखरने से बचाती है। मुक्तिबोध के लिए कविता कोरी कलाबाजी नहीं, एक अव्यर्थ हथियार है। मुक्तिबोध का रचना-कौशल धैर्य और कभी न खत्म होने वाले वैचारिक संघर्ष के सिल-सिले का बोध कराता है। प्रत्येक रचना में पेंच-दर-पेंच कोई तिलिस्म खुलता चलता है। 'पिस गया वह भीतरी/ औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच' मुक्तिबोध का यह कहना अकारण नहीं है। यह तो भाव-तर्क और कार्य का समीकरण न होने के कारण है। यदि वह कभी भाव संगत हुआ तो तर्क संगत नहीं हुआ अगर तर्क संगत हुआ तो वह कार्य संगत नहीं हो पाया। वह ब्रह्मराक्षस का सजल उर शिष्य नहीं बन पाया था। प्राप्त ज्ञान को व्यावहारिकता प्रदान न कर सका। यदि वह ऐसा कर पाता तो उसकी मुक्ति अवश्य हो जाती। उसकी यही इच्छा थी कि- "मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य/ होना चाहता/ जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य, उसकी वेदना का स्रोत/ संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक/ पहुँचा सकूँ।" वास्तव में मुक्तिबोध की नियति भी यही रही कि वे अभिशप्त,

प्रताड़ित और निर्वासित होकर जीते रहे। अपने अनुभव को संगत व पूर्ण निष्कर्षों तक नहीं ले जा सके। श्रीकांत वर्मा की टिप्पणी है कि - मुक्तिबोध स्वयं ही 'ब्रह्मराक्षस' थे और स्वयं ही ब्रह्मराक्षस के शिष्य भी थे। एक ज्ञान पिपासु की तरह मुक्तिबोध ज्ञान का अर्जन कर उसे समग्रता में दूसरों को समर्पित करने के लिए लालायित रहे। 'ब्रह्मराक्षस' कविता का सम्पूर्ण कथ्य यही है कि कवि अतीत की बौद्धिक चेतना को वर्तमान को सौंपना चाहता है। इसलिए कि इसी समर्पण में उस उपलब्ध ज्ञान की सार्थकता है। कुबेरनाथ राय का विचार यह है कि - ब्रह्मराक्षस अतीत की बौद्धिक चेतना है। 'ब्रह्मराक्षस' मुक्तिबोध का भोक्ता 'स्व' है जो अचेतन के या अवचेतन के 'केआँस' में कैद है और उसकी मुक्ति से उसी की बलि-प्रक्रिया के मध्य उसके सजल उर सर्जक 'स्व' का जन्म होता है। बावड़ी और कुछ नहीं निरंतर वर्तमान 'समूह-मन' या 'इतिहास मन' ही है। इससे स्पष्ट होता है कि यह कविता आत्मान्वेषण की कविता है। यही आत्मान्वेषण और आत्म साक्षात्कार 'अँधेरे में', 'मेरे सहचर मित्र', 'चम्बल की घाटी में' और 'चकमक की चिनगारियाँ' आदि कविताओं में भी स्पष्ट दिखाई देता है। 'अँधेरे में' कविता में जो अभिधार्थ संकेतित है, वह हमारे देश की स्थिति का आज्ञादी से पहले और बाद का पूरा नक्शा है। इसमें मध्यवर्ग के उस आदमी के आत्म-संघर्ष को शब्दबद्ध किया गया है जो एक ओर तो सामाजिक व्यवस्था और विकृतियों के विरुद्ध जेहाद छेड़ता है और दूसरी ओर अपनी सुविधाओं को भी छोड़ने को तैयार नहीं है। 'अँधेरे में' कविता में दो रक्तालोक स्नात पुरुष हैं। पहला वह जो जिन्दगी के अँधेरे कमरों में चक्कर लगा रहा है और दूसरा वह जो बाहर तालाब की लहरों में अपना चेहरा देखता हुआ अन्दर आने के लिए सांकल बजा रहा है। सत् चित वेदना के कवि मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' कविता में रक्तालोक स्नात पुरुष के माध्यम से अनेक संकेत दिये हैं। यह 'रक्तालोक स्नात पुरुष' मानवीय संस्कृति के विकास हेतु संघर्षरत संस्कृति-पुरुष का प्रतीक है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार- यह संघर्षरत है, इसलिए उसकी पीठ पर नहीं, वक्ष पर घाव है। वह सकर्मक है, शक्ति का पुंज है, किन्तु फटेहाल है, क्योंकि

वह करुणा से युक्त होकर समाज के शोषित जनों का प्रतिनिधि बनता है। खुद उसे रोटी-पानी का अभाव रहता है। वह साधारण जन होकर साधारण जन का साथ देता है- 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत' हमारे देश काल को देखते हुए यह संस्कृति पुरुष मध्यवर्ग के आदर्शवादी दृढ़ चरित्र और जीवन की सुविधाओं से समझौता न करने वाले व्यक्ति का प्रतीक है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार 'अँधेरे में' कविता अस्मिता की तलाश है तो चंचल चौहान⁷ के अनुसार यह कविता अस्मिता की खोज की कविता न होकर आत्म विलय और आत्म विस्तार की कविता है। 'अँधेरे में' कविता की संरचना 'एन्टी थीसिस' के आधार पर हुई है। ध्यान से देखें तो वह अँधेरे से प्रकाश की ओर, व्यक्ति से समूह की ओर, अस्मिता से आत्म विलय की ओर, स्वात्म से निःस्वात्म की ओर, आत्म निर्वासन से आत्मविस्तार की ओर, 'मैं' से 'हम' की ओर यात्रा करती है। इसका विकास इन्हीं विरोधों के कारण हुआ है। लेकिन 'अँधेरे में' कविता में मुक्तिबोध ने अस्मिता की खोज की जो महागाथा लिखी है, उसका स्वरूप पश्चिम की 'क्राईसिस ऑफ आयडेंटिटी' (crisis of Identity) वाला नहीं है। वे निराशा की नई दकियानूसी में इसलिए भी नहीं फँसे क्योंकि इसके विश्वव्यापी राजनीति के समाजवादी स्वरूप से वे वाकिफ़ थे। और दूसरी बात उन्होंने जिस 'जन' के साथ रहकर अपनी कविताओं को जनमय बताया था। वह 'जन' मध्यवर्ग के सुविधा भोगी संसार की बहस का विषय नहीं था। उनकी कविता में वृक्ष, आकाश, तालाब, गुफा, सब उनके व्यक्तिगत जीवन की कटु सच्चाइयाँ हैं। वस्तुतः मुक्तिबोध के काव्य में फंतासी का महत्त्व केवल नाटकीय और असरदार शिल्प के संदर्भ में ही नहीं है। वह उस गहरी चुनौती का प्रतीक है जिसे मुक्तिबोध ने कवि की हैसियत से स्वीकारा था। आत्म साक्षात्कार की भूमिका पर लिखित 'अँधेरे में' कविता मुक्तिबोध के सर्जनशील अंतःकरण के आयतन का 'एक्सरे' है। कवि का आत्मान्वेषण बड़ी हिम्मत के साथ अनेक संघर्ष करता हुआ अपनी आत्मा की छवि का साक्षात्कार कर सका। मुक्तिबोध का कवि यहाँ आत्मनिर्वासित होकर अस्मिता की खोज नहीं करता बल्कि संघर्षरत होकर विपरीत स्थितियों से गुजरते हुए अन्तर्बाह्य

से संघर्ष करता हुआ अपनी अस्मिता का आत्मविस्तार करता है। मुक्तिबोध के संदर्भ में एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उनमें आत्म-संघर्ष है तो 'संकल्पधर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर' भी है। उनकी पुस्तक 'भारतः इतिहास और संस्कृति' पर सरकार ने जब प्रतिबंध लगाया तो मुक्तिबोध को बहुत गहरा सदमा पहुँचा था। वह कई दिनों तक खोए-खोए से रहे। दरअसल उनका सदमा राजनीति की भयंकर प्रतिक्रिया का परिणाम था। अपनी पुस्तक के जल्दीकरण को वे लेखक की विचार-स्वतंत्रता और लेखन स्वतंत्रता के लिए खौफनाक मानते थे, क्योंकि सरकार ने वह निर्णय सांप्रदायिक दबाव में आकर लिया था। इन सभी का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर पड़ा और 'अँधेरे में' कविता में प्रकट हुआ। 'अँधेरे में' कविता को लेकर हिन्दी आलोचकों में मुक्तिबोध के संबंध में मतभेद रहे हैं। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि मुक्तिबोध को 'अँधेरे में' कविता के नायक से अलग करके देखना असंभव है। अर्थात् 'अँधेरे में' का नायक स्वयं मुक्तिबोध हैं। शर्मा जी यह भी कहते हैं कि मुक्तिबोध सिजोफ्रिनिया नामक एक मानसिक रोग से ग्रस्त थे। सवाल है कि किसी मानसिक रोगी में क्या कवि का मस्तिष्क अपनी पूरी क्षमता से कार्यरत रहता है? क्या वह आत्मसंघर्ष के द्वारा किसी समस्या का समाधान करने की स्थिति में होता है? इसका सीधा जवाब है कि सिजोफ्रिनिया से ग्रस्त व्यक्ति न तो सोच सकता है न ही आत्मसंघर्ष के द्वारा किसी समस्या का समाधान कर सकता है। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा का यह भी आरोप मुक्तिबोध के संदर्भ में तर्क संगत नहीं लगता। डॉ. रामविलास शर्मा के ठीक विपरीत डॉ. नंदकिशोर नवल का कहना है कि- 'अँधेरे में' का काव्य नायक एक बड़ी हद तक उन मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधि है, जिन्हें देश-दशा का पता है और जो अपने दायित्व से परिचित हैं, लेकिन जो अपनी परिस्थितियों और संस्कारों की घेरेबंदी तोड़कर संघर्ष के मार्ग पर कदम बढ़ाने में अपने को समर्थ पाते हैं। उनका आत्मसंघर्ष उनकी इसी स्थिति की देन होता है, विभाजित व्यक्तित्व सिजोफ्रिनिया रोग का लक्षण नहीं है। यहाँ डॉ. नामवर सिंह का कथन भी अनुचित नहीं लगेगा क्योंकि उनके अनुसार- निश्चय

ही यह काव्य नायक मुक्तिबोध का प्रतिरूप नहीं है, और न इसे मुक्तिबोध समझने का भ्रम ही होना चाहिए। यह कवि की काव्य-सृष्टि है बल्कि काव्य-सृष्टि में से एक ठीक उसी तरह जैसे 'एक साहित्यिक की डायरी' का 'मैं' और 'क्लाड ईथरली', 'पक्षी और दीमक', 'विपात्र' आदि कहानियों का 'मैं'। सच पूछा जाए तो मुक्तिबोध का संपूर्ण सृजन एक बहुत ही गहरे अर्थ में चरित्रात्मक है। उन्होंने जिस वस्तुगत यथार्थ का चित्रण किया है, वह उनकी निजी पीड़ा से युक्त है। 'लकड़ी का बना रावण', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'चकमक की चिनगारियाँ' और 'चम्बल की घाटी में' आदि महत्वपूर्ण कविताओं में मुक्तिबोध की क्रांति चेतना कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष (सांकेतिक) शैली में अभिव्यक्त होती है। 'अँधेरे में' कविता में भी अनेक स्थलों पर वर्ग संघर्ष और क्रांति भावना व्यक्त हुई है। 'मार्शल ला', 'प्रोसेशन' आंदोलनों के जत्थों का जो वर्णन इस कविता में किया गया है, वह क्रांतिधर्मी कवि-दृष्टि का ही निरूपक है। वस्तुतः मुक्तिबोध के काव्य में वर्ग-संघर्ष और क्रांति चेतना का स्वर अधिक गहरा है। जगदीश कुमार का कहना बिल्कुल सही है—मुक्तिबोध की विश्व-दृष्टि द्विआत्मक भौतिकवादी है और जीवनादर्श है सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन और उसकी वाहक जनक्रांति। इसी आदर्श के अनुकूल उनका काव्य जन चरित्र और रक्तप्लावित है। क्योंकि मुक्तिबोध की कविता में ज़िन्दगी कहानी बनकर नहीं उभरी। वह ज़िन्दगी को एहसास की हरारतों में अनुभव करते हैं। मुक्तिबोध का यह अन्दाज अपना है। कवि कभी संवेदन शून्य नहीं होता, वह जो कुछ देखता और भोगता, अनुभव करता, उसे शब्दबद्ध करता है। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा के शब्दों में वास्तव में एक कवि किसी स्थिति के कागजी सबूत और दस्तावेज का कायल नहीं होता। उसकी संवेदनशीलता ही उसे सब कुछ अनुभव करा देती है। यह एहसास ही जब परंपराओं और रूढ़ियों में मर जाता है, तब कला, काव्य, संगीत समस्त लम्बित संवेदनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार से इस एहसास को ज़िन्दा रखने के लिए ही एक कवि या संवेदनशील व्यक्ति निरंतर अपने को नये संदर्भों और अनुभूतियों की खराद पर चढ़ता रहता है। यह बात

जाहिर है कि मुक्तिबोध प्रखर राजनीतिक चेतना सम्पन्न कवि थे, परंतु उनकी कविता का संसार शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्ति का आत्मसंघर्ष है, जिसमें उनका अपना आत्मसंघर्ष भी निहित है जो उनकी कविताओं में अनेक रूपों से अभिव्यक्ति हुआ है। 'अँधेरे में' कविता का आत्मसंघर्ष मध्यवर्गीय संस्कारों और सर्वहारा चेतना के बीच का संघर्ष है तो ब्रह्मराक्षस का आत्मसंघर्ष व्यक्ति और समाज, आत्म और विश्व तथा भीतर और बाहर के बीच का है। 'भूल-गलती' शीर्षक कविता में व्यक्त आत्मसंघर्ष ईमानदारी और खुदगर्जी के बीच का है। इसमें मध्यवर्गीय व्यक्ति के आत्मसंघर्ष को बहुत नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि वे कविता में फंतासी शिल्प को अपनाते हैं तो उसका अर्थ भी खोलते हैं। 'भूल-गलती' के प्रारंभ में ही कहते हैं कि—

“भूल-गलती

आज बैठी है जिरहबख्तर पहनकर

तख्त पर दिल के;

चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक,

आँखें चिलकती हैं नुकीले तेज पत्थर-सी;

खड़ी हैं सिर झुकाये

सब क्रतारें

बेजुबाँ बेबस सलाम में,

अनगिनत खंभों व मेहराबों— थमे

दरबारे—आम में।”

इस कविता में आनेवाला सुल्तान कोई और नहीं बल्कि मध्यवर्गीय व्यक्तियों की स्वार्थ भावना है, जो सुरक्षा का कवच पहनकर दिल के तख्त पर बैठी है। मध्यवर्गीय व्यक्ति आत्मसंघर्ष में उलझा हुआ है। उसके अंदर ईमानदारी की भावना भी है, जो खुदगर्ज होने और समझौता करने से इनकार करती है। यहाँ दो भावनाओं के बीच संघर्ष है जो मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन के अंदर चल रहा है। इसे मुक्तिबोध ने अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए नाटकीय शैली को अपनाया है। यहाँ प्रसिद्ध आलोचक मुक्तिबोध के गहरे अध्येता नंदकिशोर नवल की बात ध्यान देने योग्य है— मुक्तिबोध व्यक्ति के व्यक्तिगत व चरित्र-निर्माण में उसके निजी प्रयासों को भी महत्व देते हैं, बल्कि ऐसा

मानते हैं कि उसके बिना अभीष्ट प्राप्ति संभव नहीं। इसी कारण दूसरे प्रगतिशील कवियों की कविता जहाँ आत्मसंघर्ष से शून्य है, वहाँ मुक्तिबोध में तीखा आत्मसंघर्ष है। वे मध्यवर्ग से आनेवाले कवि थे और बेहतर समाज के निर्माण में मध्यवर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका मानते थे। इसलिए मध्यवर्ग और मध्यवर्गीय व्यक्ति का आत्मसंघर्ष उनकी कविता का महत्वपूर्ण विषय है। लेकिन मुक्तिबोध का कवि आत्मसंघर्ष ही नहीं करता बल्कि वह आत्मालोचन करते हुए आत्मविस्तार भी करता है और अन्त में सर्वाहारा से जुड़ जाता है।

मुक्तिबोध ने निम्न मध्यवर्ग की चेतना में व्याप्त आत्म-संघर्ष को कई कविताओं में नाटकीय ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'ब्रह्मराक्षस' कविता में भी व्यक्त संघर्ष इसी प्रकार का निम्न मध्यवर्गीय आत्मसंघर्ष है। लेकिन कवि का यह आत्मसंघर्ष व्यक्तिगत न होकर वह समष्टिगत संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ जगदीश शर्मा की एक बात द्रष्टव्य है— कवि के इस आत्मसंघर्ष को व्यक्तिगत संघर्ष मानना उचित नहीं होगा। कवि ने जिस दुविधाग्रस्त बौद्धिकता को आत्मालोचना के स्वर में प्रकट किया है, वह वस्तुतः आत्मालोचन न होकर वस्तुस्थिति का आकलन ही है। मुक्तिबोध ने बाह्यबोध की संवेदनात्मक परिणति की स्वीकृति करते हुए 'डायरी' में उन्होंने अपने कल्पित कलाकार मित्र के द्वारा कहलवाया है कि— आसमान का चित्रण सधे न सधे, सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन के सत्य के अधिक निकट होगा। उतना चित्रण मुझसे सध भी जाएगा। मुक्तिबोध अपने समय की वैयक्तिकता को मानवीय तथा संघर्षशील रूप देने के लिए हमेशा बेचैन थे। इसलिए उनके आत्मसंघर्ष का रूप निजी न होकर सामाजिक था। उसका उद्देश्य वस्तुगत यथार्थ और आत्म जगत में द्वंद्वात्मक एकता स्थापित करना था। शंभुनाथ के शब्दों में कहें तो— मुक्तिबोध का आत्म संघर्ष एक व्यक्ति का नहीं सिर्फ कविता का भी नहीं अंतर्विरोधों से भरे समूचे युग जीवन का आत्म संघर्ष है, क्योंकि इसका सीधा रिश्ता उस वस्तुगत संसार से है, जिसके साथ मनुष्य का किसी तरह का संबंध अस्तित्ववादी स्वीकार नहीं करता। मुक्तिबोध में द्वंद्वों के बीच संतुलन

की जबर्दस्त कोशिश है। विद्रोह और धैर्य, सहिष्णुता और बेचैनी, दुःस्वप्न और युटोपिया के समस्त विरोधों को साधते हुए चलते हैं। यहाँ प्रमोद वर्मा की उक्ति याद आती है कि— मुक्तिबोध जैसी कविता कोई भी लिख सकता है, बशर्ते कि वह मुक्तिबोध जैसी ज़िन्दगी जिये। जो ऐसी ज़िन्दगी नहीं जीता, वह मुक्तिबोध जैसी नाटकीयता तो लिख सकता, कविता नहीं। हम जो नाटकीयता मुक्तिबोध में पाते हैं, वह प्रसाद में नहीं दीखती, जबकि प्रसाद ने जहाँ कामायनी जैसी फंतासी युक्त कृति लिखी वहाँ भी नाटकीयता नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि कवि त्रिलोचन शास्त्री मुक्तिबोध को 'प्रसाद के स्कूल के कवि' मानते हैं। लेकिन प्रसाद और मुक्तिबोध में बहुत पार्थक्य है। प्रसाद में दुःख का संदर्भ भौतिक न होकर आध्यात्मिक है जबकि समस्त सांसारिक पीड़ाएँ और संघर्ष मुक्तिबोध में मौजूद है। इस संदर्भ में प्रभात कुमार त्रिपाठी का कहना है कि अनुभव के तीव्रतम दबाव से प्रसाद ने जहाँ भी सौ फीसद कविता लिखी है वहाँ भी नाटकीयता नहीं है, नाटकीय गति नहीं है, यह करुणा का थका चरण है, अवसाद गीत है, क्योंकि प्रसाद करुणा की शक्ति नहीं खोज रहे थे, मोक्ष खोज रहे थे, संघर्ष के रास्ते नहीं, बल्कि समन्वय के रास्ते। मुक्तिबोध तो सृष्टि रचना चाहते थे, कोई बाजार नहीं। मुक्तिबोध की रचनाकांक्षा एक बिके, थके, टूटे आदमी की रचनाकांक्षा नहीं थी, अतः उनकी कविता की गति एक स्वतंत्र और शक्तिशाली व्यक्ति के रचनानुभव की उपज है। 'कामायनी' में प्रसाद जी ने ज्ञान, कर्म और इच्छा के सामंजस्य का रहस्यवादी निदान प्रस्तुत किया है। मुक्तिबोध ने इस सामंजस्य को 'आत्म संगठन' कहकर उसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि— यह आत्म संगठन वस्तुतः जीवन संगठन है। यह जीवन संगठन साक्षात् सामाजिक, राजनैतिक मानवीय संघर्ष में सम्पूर्ण योग के बिना असंभव है। 'अंतरात्मा और पक्षधरता' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध ने लिखा है कि— अंतरात्मा के आग्रह और अनुरोध हमेशा आगे-आगे ही रहेंगे और लेखक उनका अनुगमन करेगा और उनका अनुगमन करते हुए भी यह सोचता रहेगा कि अपने-अपने आग्रह लक्ष्यों को उपलब्ध नहीं किया। वह इस चिंतन से दुःखी भी होगा, दुःख प्रकट भी करता रहेगा। मुक्तिबोध

निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति थे। अपने जीवन में उन्होंने आर्थिक अभावों को बहुत करीब से जाना था। इस वर्ग में रहते हुए भी मुक्तिबोध एक सक्रिय व्यक्ति थे। इस वर्ग के बहुत सारे व्यक्तियों से मुक्तिबोध इस अर्थ में भिन्न थे कि वे एक नागरिक के अतिरिक्त कवि, लेखक, अध्यापक और जागरूक पत्रकार भी थे। कुल मिलाकर अर्थाभाव तथा रूढ़ियों, संस्कारों के बीच असंतुष्ट रहकर जीने वाले निम्न मध्यवर्ग के वे ऐसे प्रतिनिधि थे जो स्थितियों का विश्लेषण करने में सक्षम होता है। अपनी तथा समूचे वर्ग की स्थिति को चुपचाप निष्क्रिय भाव से स्वीकार कर लेने के बदले, वे उसका विश्लेषण करने तथा बेहतरी के लिए उस पर सोचते-विचारते थे। यह उनके स्वभाव की मूलभूत नैतिकता की कचोट थी, जिसके कारण वे तकलीफ़ के बावजूद सोचना बंद कर ही नहीं सकते थे। अपनी तकलीफ़ों, कुण्ठाओं, आकांक्षाओं के सहित मुक्तिबोध इसी अर्थ में महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने अपने इन अनुभवों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में पहचानकर उनके मूलों तक जाने की निरंतर कोशिश की। शंभुनाथ के अनुसार- मुक्तिबोध ने जो जिया और देखा वही लिखा। उनके प्रखर आत्म-व्यंग्य में एक आधारभूत ईमानदारी थी। तभी उनकी कविता हमें विश्वसनीयता से संस्कारने के लिए अपनी आत्मा की ऊँचाइयों की ओर ले जाने के लिए, अपनी तरह बेचैन और संघर्षशील बनाने के लिए किसी कॉमरेड की तरह हाथ मिलाकर चलती है। यह हमारे सामने चुनौती है कि उसका जलता हुआ गरम हाथ कितनी देर तक अपने हाथों में थामें रखने का साहस रखते हैं। वस्तुतः यही गर्माहट मुक्तिबोध की वर्ग चेतना की कसौटी है। उन्होंने अपने आत्मानुभव से स्थिति को ढाँपने-मूँदने की कोशिश नहीं की है।

मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद जो लोग उनके मूल्यांकन कर्म में संलग्न रहे, उन लोगों ने चाहे व्यक्तिगत परिचय के कारण हो, सहानुभूतिवश या उनकी कविताओं को संकलित संपादित करने में भागीदारी के कारण हो, उनमें से अधिकांश ने जाने अनजाने अपने-अपने नजरिये से, मुक्तिबोध संबंधी तथ्यों को और मूल्यांकन को भी गलत ढंग से पेश किया। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि उनकी मृत्यु के बाद वे हिंदी साहित्य के सिरमौर बन गये। फिर भी काफ़ी समय

तक उनका जो मूल्यांकन सामने आया, उसमें भी अनेक बातों को या तो एकदम भुला दिया गया या विपरीत दिशा में खड़ा कर दिया गया। प्रायः मुक्तिबोध की कविता को स्वतंत्रता-पूर्व और पश्चात् के आधुनिक जन इतिहास से एकदम जुदा करके मात्र कविता के रूप में समझने की कोशिश में उसे खिलवाड़ की चीज बना दिया गया। इस रूप में उनकी कविता में अजूबापन, अजीब रहस्यात्मकता, भयानकता, जटिलता, बिम्ब बहुलता, नाटकीयता, अजीबो-गरीब शब्द और रूप विधान आदि खोजा गया और इसी आधार पर उनकी प्रशंसा भी की गई, क्योंकि ऐसे मूल्यांकनकर्ता इन्हीं सब काव्य गुणों के कायल थे। अगर कुछ लोगों ने आधुनिक इतिहास की चर्चा भी की थी तो उसकी अपनी भ्रष्ट व्याख्या के तहत ही। जिनके लिए आधुनिक युग का इतिहास ही असंगत, अंधकारमय, नरक, असंबद्ध, जटिल और रहस्यमय हो वे लोग मुक्तिबोध का मूल्यांकन और उनकी व्याख्या सही कैसे कर सकते हैं? मुक्तिबोध की कविता में भी उन्हें इसी इतिहास की तस्वीर नज़र आई। श्रीकांत वर्मा ने आधुनिक युग की अपनी विशिष्ट परिभाषा से गुजरते हुए अस्तित्ववादी अर्थों में मनुष्य के संकट व मृत्यु के एहसास को ही आदर्श कविता की कसौटी मानकर कहा है कि-मुक्तिबोध की कविता भी इसी संकट और मृत्यु का एहसास कराती है तथा 'अँधेरे में' कविता में न कोई कौशल है न संगति बल्कि यह रिक्तता तनाव से भरी गई है। आज हम श्रीकांत वर्मा की कोटि के आलोचकों द्वारा मुक्तिबोध के मूल्यांकन के प्रयासों पर गंभीरता से विचार करते हैं तो लगता है मानो यह मूल्यांकन मुक्तिबोध को विस्थापित करने का एक षडयंत्र हो। इस तरह के षडयंत्रों से भरे मूल्यांकन को किसी प्रकार का साहित्यिक दर्जा नहीं दिया जा सकता चाहे वह शाब्दिक रूप से कितना ही चमत्कारी क्यों न हो। मुक्तिबोध की कविता की सहानुभूति और उनकी केन्द्रीय समस्या को यदि उन्हीं के शब्दों में कहा जाये तो तर्क संगत होगा।

मुझ पर क्षुब्ध बारूदी धुएँ की झार आती है

व उन पर प्यार आता है

कि जिनका तप्त मुख

सँवला रहा है

धूम लहरों में
 कि जों मानव भविष्यत्-युद्ध में रत हैं
 जगत की स्याह सड़कों पर! कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ
 कविता में
 सभी प्रश्नोत्तरी तुंग प्रतिमाएँ
 गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से
 कि वे सब प्रश्न कृत्रिम और
 उत्तर और भी छलमय
 समस्या एक
 मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
 सभी मानव
 सुखी, सुन्दर व शोषण मुक्त
 कब होंगे।

ये पंक्तियाँ ही काफी हैं श्रीकांत वर्मा के मुक्तिबोध संबंधी मूल्यांकन के भ्रमजाल का पर्दाफाश करने के लिए।

हम देखते हैं कि एक छोर पर श्रीकांत वर्मा हैं तो दूसरे छोर पर मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा। डॉ. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की समीक्षा करते हुए लिखा है कि मुक्तिबोध मनोविश्लेषण शास्त्र, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। मुक्तिबोध की कविताओं से विभिन्न उद्धरण देकर रामविलास जी ने अपने द्वारा सिद्ध किया कि असल में उनका काव्य इन विभिन्न धारणाओं से निर्मित संकरजातीय सुन्दर रूप चित्र है। डॉ. रामविलास शर्मा को मुक्तिबोध के काव्य में अन्तर्मुखता, आत्मग्रस्तता के वर्णन नज़र आए नहीं कि उन्होंने झट से निर्णय दे दिया कि यह अस्तित्ववाद है। कुंडलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, अनहद जैसे शब्द प्रतीकों का प्रयोग मिला तो तुरंत उसे रहस्यवाद कहने में देरी नहीं लगी और आत्ममंथन के रूप में मनोविज्ञान तो सर्वत्र है ही। अगर कविता में ऊब, थकान का आना ही अस्तित्ववाद है तो यह ऊब और थकान निराला में भी दिखाई देती है। लेकिन शर्मा जी को वहाँ अस्तित्ववाद नज़र नहीं आता। दूसरी बात कबीर के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली इडा, पिंगला, सुषुम्ना, अनहद को देखकर रामविलास शर्मा जी ने मुक्तिबोध को रहस्यवादी करार दिया। लेकिन मुक्तिबोध जब कबीर द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग

करते हैं, तो उसे उसी अर्थ में नहीं करते जिस अर्थ में कबीर। हर बड़ा कवि अपनी रचनाशीलता को अपनी परम्परा से जोड़ने की कोशिश करता है, उसी कोशिश में अपनी परम्परा को बढ़ाने, गतिशील बनाने में अपनी समझ को प्रकट करता है। अर्थात् परंपरा की जमीन में ही नया पौधा जन्म लेता है। इसलिए मुक्तिबोध जब कबीर की शब्दावली का प्रयोग करते हैं, तो नये अर्थों को व्यक्त करते हैं। निराला तुलसीदास के पुष्प वाटिका प्रसंग का जो उपयोग 'राम की शक्ति पूजा' में करते हैं तो उसके कारण एक नई सौन्दर्याभिव्यक्ति संभव होती है। लेकिन निराला पुरानपंथी है ऐसा कोई नहीं कहता। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' से जुड़े होने के कारण निराला को कोई मध्यकालीन मानसिकता का भक्त कवि नहीं कहता। उसी प्रकार मुक्तिबोध भी अगर कबीर की शब्दावली का आधुनिक संदर्भ में उपयोग करते हैं तो उन्हें रहस्यवादी कहना सरासर भूल है। हाँ ये मानी हुई बात है कि कलात्मक स्तर पर उनकी कविताओं में रहस्य है लेकिन रहस्यवाद नहीं। एक स्तर पर रहस्यवाद निराला के यहाँ भी है। लेकिन रामविलास शर्मा, जो निराला और कबीर के रहस्यवाद की प्रगतिशील भूमिकाएँ देखते हैं, मुक्तिबोध को इसी 'अपराध' के लिए दंडित करते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध के यहाँ कबीर के शब्द हैं, लेकिन नये प्रसंग में और नये अर्थों में हैं, उसी अर्थ प्रसंग में नहीं जिस अर्थ में कबीर में हैं। इसलिए मुक्तिबोध को रहस्यवादी कहना सही नहीं है। ऐसा लगता है जब डॉ. रामविलास शर्मा को मुक्तिबोध की कविता में जन-संघर्ष और क्रांति के चित्र और वर्णन भी मिल गये तो उन्हें वहाँ मार्क्सवाद की स्थिति भी स्वीकार करनी पड़ी। मुक्तिबोध मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित होकर भी हिंदी साहित्य की जनवादी-परम्परा के सशक्त रचनाकार हैं। उनकी मार्क्सवादी बौद्धिकता कृत्रिम या यांत्रिक नहीं है, वरन् वह अध्ययन, चिंतन और अनुभव से प्राप्त होने के कारण ज्ञानलोक प्रदान करती हैं। अनुभूति के बोध से संयुक्त करती हुई उसे परिष्कृत करती है तथा चेतना को उच्चतर स्थिति में ला देती है। साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टि को मुक्तिबोध अत्यंत कलात्मक कुशलता के साथ उपस्थित करते हैं। साहित्यिक रचना तथा सामाजिक वैचारिकता

को अन्योन्याश्रित रूप में स्थापित करने का प्रयत्न निःसंदेह मुक्तिबोध की 'सामाजिक साहित्यिक ईमानदारी' का सबूत है। इसलिए मुक्तिबोध को अस्तित्ववादी और रहस्यवादी कवि के रूप में स्थापित करना अतिरेकी आग्रह का ही परिणाम है।

मुक्तिबोध के समूचे साहित्य को यदि विश्लेषण का आधार बनाया जाय तो उनके विकास का क्रम स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः तभी सही अर्थों में उनकी शक्ति और सीमाओं का सच्चा मूल्यांकन भी संभव है। उनके भाववादी अवशेषों, अवैज्ञानिक निष्कर्षों और कमजोर पक्षों के संकेत भी सामने आएँगे। मुक्तिबोध ने अपने जमाने की प्रगति विरोधी अभिरुचियों और मूल्यों से जोरदार मोर्चा लिया, पर ऐसा उन्होंने साहित्यिक प्रतिमानों के सहारे किया। उनकी शिल्प संरचना में ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जो निश्चित रूप से उनकी निजी मानसिकता से भी आंतरिक रूप से सम्बद्ध हैं, जिनके कारण उनका साहित्य विशिष्ट होने के साथ कहीं-कहीं किंचित अस्पष्ट और जटिल भी हो गया। इसके बावजूद भावों और विचारों के जनतान्त्रीकरण की दिशा ही उनके साहित्य का प्रधान पक्ष है, जिसे कम करके आँकना मुक्तिबोध के साथ अन्याय होगा। कला-दृष्टि के पीछे विशेष जीवन-दृष्टि या राजनीतिक दृष्टि से प्रतिबद्ध होने की अनिवार्यता पर मुक्तिबोध बल देते हैं। वर्गों से परे शुद्ध कला की स्थिति के वे तीव्र विरोधी हैं। उन्होंने साहित्य को शोषण और अत्याचारों के पहाड़ों को चीर कर नई प्राणधारा बहाने के दायित्व से जोड़ा और कविता को 'जबाबी गदर' के रूप में खड़ा करना चाहा। मुक्तिबोध संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना की परस्पर संबद्धता और सामंजस्य को अनिवार्य बतलाते हैं क्योंकि बुद्धि संवेदनात्मक ज्ञान को व्यापकता और विस्तार देती है, उसे प्रामाणिक बनाती है। रचना के वस्तुवादी पक्ष या बाह्य के आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तरीकृत रूप को कविता के रूप में आने की प्रक्रिया की मुक्तिबोध ने विस्तृत व्याख्या की है। संवेदनात्मक उद्देश्य या अभिप्राय इस प्रक्रिया के परिचालक होते हैं। इसलिए मुक्तिबोध की सिद्धांत चर्चा को स्तरीयता प्राप्त है। मुक्तिबोध की कविताओं में व्यक्ति और वस्तु का जैसा द्वंद्वत्मक आख्यान निर्मित हुआ है,

वैसा हिन्दी में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। जन-चरित्र के विविध और व्यापक संदर्भों को साधे वस्तु के रूप में चुनकर, मध्यवर्गीय द्वंद्व के केन्द्र में रखते हुए उन्हें वस्तुगत द्वंद्व से एकीकृत करने का प्रयत्न अपनी रचनाओं में किया है। यद्यपि सर्वहाराकरण की आकांक्षा में निजी द्वंद्व तीव्र हो उठता है, लेकिन वर्णन में वस्तुगत संदर्भों के दमदार सार्थक चित्रों के विधान की कहीं कतई उपेक्षा नहीं हुई है। स्वयं जटिल जीवन-विधान के विविध गत्यात्मक आंदोलनों से जुड़े मुक्तिबोध कविता की गत्यात्मक प्रकृति को भी जनचरित्र से संबद्ध करने के पक्षधर रहे हैं। जीवन के दैन्य व अपमान की क्षोभपूर्ण भयंकर चिंता और आदमी को पागल बना देने वाले यथार्थ को मुक्तिबोध ने खुद भोगा और संघर्ष किया था। अतः मुक्तिबोध में शोषण के आधार पर टिकी हुई सभ्यता और व्यवस्था के व्यूह में फँसे प्राणियों के प्रति गहरा अपनापन, सहानुभूति और प्यार है। मुक्तिबोध की कला दृष्टि में व्यक्ति और समाज के बीच में कोई खाई, कोई अंतर्विरोध नहीं है। बल्कि समाज का द्वंद्वत्मक स्वरूप कविता में प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है। स्वयं ऐसा करके मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं को एक ओर अनियंत्रित वैयक्तिकता से तथा दूसरी ओर यांत्रिक सामाजिकता से बचा लिया। लेकिन मुक्तिबोध के मूल्यांकन के संदर्भ में अनेक अपवाद और संदेह खड़े किये गये। उनमें 'रहस्यवाद', 'अस्तित्ववाद', 'विभाजित व्यक्तित्व', 'मार्क्सवाद से भटकाव', 'आत्मान्वेषण' आदि तत्त्व संदर्भ से काटकर देखे गये। ऐसे एकांगी मूल्यांकन से न तो मुक्तिबोध की मानवीयता का अर्थ ही उद्घाटित होता है, न उनके काव्य के साथ ही न्याय हो पाता है। यह स्थिति तब और जटिल हो जाती है जब आलोचक मुक्तिबोध को अनेकानेक छोटे-मोटे 'वादों के घेरे' में बंद कर देना चाहते हैं। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद साहित्य में फिर से जो यथार्थवादी, जनवादी उभार आया, उसमें अनेक नये जनवादी समीक्षक भी सामने आये, जिन्होंने नये सिरे से विशेषकर मुक्तिबोध के साहित्य के मूल्यांकन के प्रयास किये। इन प्रयासों में अपने से पूर्व के मूल्यांकन के प्रति आक्रोश के साथ ही यह बोध भी विद्यमान है कि सामाजिक प्रतिबद्धता पर आधारित 'मानों' के बिना मुक्तिबोध के

साहित्य को तो क्या साहित्य मात्र को भी नहीं समझा जा सकता। मुक्तिबोध संबंधी पिछले मूल्यांकन के प्रति आक्रोश इसलिए था, क्योंकि जनवादी समीक्षकों को लगा था कि एक तो गलत मान-मूल्यों के आधार पर मुक्तिबोध के साहित्य का विश्लेषण किया गया, दूसरे जान-बूझकर उसे डिस्टार्ट करने की कोशिश भी की। आलोचकों ने मुक्तिबोध के मूल्यांकन संबंधी जो वाद-विवाद खड़े किये वे या तो कुछ शब्दों और अवधारणाओं के ईर्द-गिर्द चक्कर लगा रहे थे या मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया की जटिलता का सामना करने में असमर्थ हो गलत निष्कर्षों पर छलांग मार रहे थे।

मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया के संबंध में आलोचकों ने भिन्न-भिन्न रूप से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। किसी ने मुक्तिबोध की कविता 'अधूरी' कहकर चुप्पी साध ली तो किसी ने 'पथ ढूँढ़ने वाली बेचैन मन की कविता' कहकर उसकी विस्तृत व्याख्या करने की कोशिश की। डॉ. नामवर सिंह ने उसे 'नाटकीय संरचना' की कविता बताया तो डॉ. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की कविता की संरचना को 'स्वप्न पद्धति' से जोड़ दिया। रामविलास जी का मुक्तिबोध के प्रति यह आरोप भी सही नहीं लगता क्योंकि कविता केवल यथार्थवादी पद्धति में ही नहीं लिखी जाती। कविता लिखने की अनेक पद्धतियाँ हैं और मुक्तिबोध ने कइयों का प्रयोग किया है। रामविलास जी कविता रचने की जिस एक मात्र सही पद्धति को स्वीकारते हैं या महत्वपूर्ण मानते हैं, वह यथार्थवादी पद्धति जो अनेक पद्धतियाँ कविता रचने की हो सकती हैं, उसमें यथार्थवादी पद्धति एक पद्धति है—एकमात्र पद्धति नहीं। स्वप्न पद्धति का उपयोग कविता में जब होता है तो यह जरूरी नहीं कि कविता यथार्थ विरोधी हो ही। देखना चाहिए कि कोई कवि स्वप्न की पद्धति का उपयोग क्यों करता है? वह रचना क्या करना चाहता है? या कैसी कविता बनाना चाहता है? या कविता में क्या व्यक्त करना चाहता है? जब मुक्तिबोध स्वप्न पद्धति का उपयोग करते हैं, तो एक तो वे अपने समय के समाज, उसकी जटिलताएँ और उसकी विविधताएँ जो आपस में गुंथी हुई भी हैं, उन सबको समग्रता में व्यक्त करना चाहते हैं। समग्रता में व्यक्त करने के लिए मुक्तिबोध

को फंतासी और स्वप्न पद्धति उपयोगी लगती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया पर एकदम ध्यान नहीं दिया गया कि उसका स्वरूप क्या है? उनकी कविता की बनावट क्या है? इस पर विचार करना चाहिए। अनेक लोगों को शक है कि मुक्तिबोध की लम्बी कविताएँ एक ही रचना-मुद्रा में रची हुई एक समग्र एकल कविता नहीं हैं। ऐसे लोग दो प्रकार के हैं। एक वर्ग के मुताबिक मुक्तिबोध ने एक ही थीम उठाकर बीस पंक्तियाँ लिखीं तो एक अधूरी कविता हो गई। बाद में वे फिर से शुरुआत करते थे, शुरुआत से संतुष्ट नहीं होने पर सोचते थे ठीक है ऐसी ही स्थिति में पड़ी रहे। इस तरह मुक्तिबोध की लंबी कविताएँ दरअसल अनेक अधूरी कविताओं का समूह है। दूसरे वर्ग का कहना है कि मुक्तिबोध की कविता में एक अभिव्यक्ति की लय है। लय सामंजस्य (Rhythm) है। लय समग्र हुआ करती है। कविता असमग्र होती है। इसलिए मुक्तिबोध की कविता को युनिटरी पोएम (Unitary poem) या एलेक्टिक पोएम (Electric poem) विभिन्न दर्शनों को ग्रहण करने वाली ग्रहणशील 'उदार कविता' कहें या न कहें लेकिन 'समाहार' की कविता कह सकते हैं। मुक्तिबोध ने अपने विचारों को सम्प्रेषित करने के लिए फीलिंग्स (feelings) को संवेद्य बनाया और संवेदनाओं को उद्घाटित (Reveal) किया। अनेक कविताओं को रचने के लिए अनेक अधूरी शुरुआतों की और इस तरह से एक लम्बी कविता बन गई। स्वप्न (Dream Work) को कविता में समाविष्ट (Incorporate) करने की कोशिश मुक्तिबोध ने की। वास्तव में जो स्वप्न देखता है वही उसका खण्डन करता है। जो मनोवांछित है, विशुद्ध है, वहीं 'विशुद्ध ड्रीम वर्क' फंतासी के रूप में सामने आता है। मुक्तिबोध की कविता निकट परिधि (Closed Circuit) की तरह है। मुक्तिबोध की रचना में कथ्य शिल्प कारण होते हैं। वे जिस प्रक्रिया से गुजरते हैं, वह भी प्रकट होती है। रचना-प्रक्रिया भिन्न कवियों में भिन्न होती है। दिनकर और केदारनाथ अग्रवाल वोकल टाईप (Vocal type) के हैं, तो मुक्तिबोध आर्टिस्टिक टाईप (Artistic type) के हैं। वे जिस कंदरा से चलते हैं, उसे दिखाते हैं और साथ लेकर चलते हैं। मुक्तिबोध और

शमशेर दोनों के काव्य-द्रव्य का गुण (Content or Matter) एक ही है। लेकिन दोनों में एक खास प्रकार का भेद भी है। इस भेद की ओर संकेत करते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह कहते हैं कि मुक्तिबोध सम्प्रेषण को कथ्य में और कथ्य को सम्प्रेषण में प्रकट करते हैं। मुक्तिबोध धातु वैज्ञानिक हैं, उन्हें हीरे की पहचान है और लोहे की पहचान है। शमशेर हल्की-फुल्की चीजें चुनकर सजाकर लाएँगे, मुक्तिबोध खोद कर लाते हैं। मुक्तिबोध के लिए कहाँ से लाया जा रहा है, उसका अर्थ है। कोयले की खदान से निकाला हीरा और गन्धक में फर्क है। किन संदर्भों में ये कच्चा लोहा (Iron-Ore) है किन संदर्भों में ये धातु है ये बताते हैं मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने ज्ञान क्षेत्रों को रचनात्मक संदर्भ प्रदान किया है। प्रायः मुक्तिबोध फंतासी की पद्धति का उपयोग करते हैं तो लेकिन कई बार फंतासी के भीतर एक ओर स्वप्न पद्धति का उपयोग करते हैं दूसरी ओर यथार्थवादी पद्धति का भी उपयोग करते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने मुक्तिबोध की कविता को 'नाटकीय संरचना की कविता' कहा है। मुक्तिबोध की कविता की बनावट की एक विशेषता यह भी है कि वे लम्बी और नाटकीय संरचना की कविता लिखते हुए उसके भीतर प्रगीत को भी ले आते हैं। उसके बनावट की एक और महत्वपूर्ण बात है- अन्तर्वस्तु की विविधता और रूप की विविधता को सँभालने की गजब की क्षमता मुक्तिबोध की कविता की संरचना में है। उसका एक कारण यह है कि मुक्तिबोध उपन्यास की संरचना की तरह कविता लिखते हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में- मुक्तिबोध की सारी लंबी कविताएँ प्रायः औपन्यासिक संरचना की कविताएँ हैं। उपन्यास की संरचना में ही ये क्षमता होती है कि उसमें विभिन्न स्वरो, विभिन्न वर्गों, विभिन्न समूहों या विभिन्न मानसिकताओं को व्यक्त

किया जा सकता है। व्यापक फलक के कारण यहाँ विभिन्न अनुगूँजे मिलेंगी। भाषा के विभिन्न रूपों का समावेश अगर एक ही संरचना में कहीं आपको देखना हो या करना हो तो यह उपन्यास की संरचना में संभव है। इसलिए मुक्तिबोध की कविता में 'स्वप्न पद्धति' और 'नाटकीय संरचना' है और उनसे भी कुछ अधिक है। मुक्तिबोध की भाषा शैली और रूप-विधान को लेकर भी कई वाद-विवाद खड़े किये गये हैं। आलोचकों ने सवाल उठाया है कि आजादी के बाद (के लेखन में) अनेक प्रगतिशील रचनाकार व्यापक जनमानस को नज़र में रख कर लिख रहे थे। फिर मुक्तिबोध ने क्यों शुद्ध साहित्यिक भाषा को अपनाया और अपनी रचनाओं के लिए फंतासी का अमूर्त जटिल रूप-विधान चुना है?

निष्कर्षतः यही कह सकते हैं कि मुक्तिबोध युगीन यथार्थ को समग्रता में अभिव्यंजित करना चाहते थे। इस समग्रता की जुस्तजू में उन पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जीवन के कटु भयावह यथार्थ क्षणों से उलझने का दावा संभवतः हर साहित्यकार करता है, लेकिन उनमें कितने लोग इस दावे को निभा पाते हैं। यह बात सोचने की है। मुक्तिबोध का साहित्य निःसंदेह जटिल जीवन-संघर्ष की ही गाथा है। मुक्तिबोध की रचनात्मकता में, उनके काव्य बोध में राग और विचार की फाँक नहीं रह जाती। कवि ने अपने रचनात्मकता के लिए सामाजिक जीवन यथार्थ से नये रूपाकार तथा नये भाव तत्त्वों को ग्रहण किया है। मुक्तिबोध का काव्य-मूल्यांकन उनकी इस रागात्मकता, वैचारिकता के आधार पर होना आवश्यक है क्योंकि उन्होंने अपनी द्वंद्वात्मकता की समझ के द्वारा संवेदनात्मक सत्ता को अधिक युग-सापेक्ष बनाने का प्रयत्न किया है।

संपर्क:

गच्छी बाउली, हैदराबाद- 500046 (तेलंगाना)

मो. : 09492923364

मुक्तिबोध का आग्राम

देवनाथ सिंह आनंद गौतम

कहीं भी खतम कविता नहीं होती
कि वह आवेग-त्वरित काल-यात्री है
व मैं उसका नहीं कर्ता
पिता-धाता
कि वह कभी दुहिता नहीं होती
परम स्वाधीन है वह विश्व-यात्री है
गहन-गम्भीर छापा आगमिष्यत की
लिए, वह जन-चरित्र है।

—मुक्तिबोध

“कविता नदी का प्रवाह है, चिरनीरा है। घाट है बाद नदी घाटों में रुकती और चुकती नहीं है। वह समुद्र में जा मिलती है, फिर भी थल पर बहती हुई बनी रहती है। यही उसका सास्तित्व-सहचरण है और सम्मिलन भी।”

नदी बहती रही “मेरे काव्य-संकलन की भूमिका लिखते हुए प्रो. आदित्य प्रताप सिंह ने, उपरोक्त शब्दों में मुक्तिबोध की जिस कविता का उल्लेख किया है, वह कविता पर मुक्तिबोध के विचार को सही आकलित करती है। ‘एक साहित्यिक की डायरी’ को मुक्तिबोध के सम्पूर्ण काव्य-कृतित्व के अन्तर्गत माना जा सकता है, पर ‘डायरी’ में कविता पर विचार करने से अधिक कवि-व्यक्तित्व के स्वरूप पर विचार किया गया है। अतः स्पष्ट है कि मुक्तिबोध आज की स्थिति में कविता की परिभाषा करने से अधिक आवश्यकता समझते हैं— कवि व्यक्तित्व का निर्माण। मुक्तिबोध ने स्वयं लिखा है— “कुछ पागल लोग कीमियागर (एलोकोमिस्ट), लोहे को सोना बनाने की फिक्क में लगातार काम करते हुए नष्ट हो गए। कुछ दूसरे ढंग से पागल जमीन में गड़े खजाने को खोजने और कभी भी न पा सकने में इतने मशगूल रहे कि उनकी फेमली ने, जमाने ने उन्हें बेवकूफ करार दिया। कई तरह के पागल हुआ करते हैं, और मुझे अब समझ में आने लगा कि हो न हो, मैं भी उसी श्रेणी में गिने जाने योग्य हूँ।” (डायरी से)

डॉ. नामवर सिंह के अनुसार— “एक साहित्यिक की डायरी, अपने आप में एक पूर्ण एक रचनात्मक गद्यकृति है। इसे कवि की कविताओं को समझने का साधन मानना अन्याय होगा। XXX कुछ लोग दुनिया से बहस करते हैं, तो कुछ सिर्फ अपने से, किंतु कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी होते हैं, जो दुनिया से बहस करने की प्रक्रिया में अपने आप से भी बहस चालू रखते हैं। मुक्तिबोध ऐसे ही थोड़े से लोगों में थे और उनकी “एक साहित्यिक की डायरी” ऐसे ही जीवंत बहस का सर्जनात्मक दस्तावेज है।”¹

अब आइए, हम मुक्तिबोध के कृतित्व पर कुछ और विमर्श करने के पूर्व उनके व्यक्तित्व पर भी थोड़ी चर्चा कर लें। मुक्तिबोध में बंधुत्व-भाव बहुत था। उनका मूल्यवान तत्त्व है, उनकी हार्दिकता। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में हार्दिकता और सहजता है। रचना, विचारों तथा जीवन मूल्यों के प्रति उनमें

ईमानदारी थी। मुक्तिबोध के व्यक्तित्व के विषय में रीवा (म.प्र.) की एक संगोष्ठी में, डॉ. कमला प्रसाद ने हमें बताया था कि- “मुक्तिबोध प्रगतिशील लेखक संघ में थे पर बहुत अधिक एक्टिविस्ट नहीं थे। उनके मित्रों ने बताया कि वे व्यक्तिगत जीवन में उतने साहसी भी नहीं थे। लेखन में जितने साहसी हैं, जीवन में उतने ही डरे हुए संशयात्मा थे। किसी भी आदमी को जासूस समझ बैठते थे। उन्होंने जो कुछ कहा है, उसमें पवित्र आदर्शों की अनुगूँज ही मिलेगी।” मेरे मन यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या एक लेखक इतना डरता है कि वह जड़मूल से एक आदर्शलोक का प्राणी होता है, या वह उस संसार में रहता है जिसे मुक्तिबोध ने “इच्छित संसार” कहा है! मुक्तिबोध की व्यक्तित्व से हम साक्ष्य लें। इस डर का सम्बन्ध उस अपराध बोध से जुड़ा है, जिसे “अँधेरे में” का काव्य नायक भोगता है-

गलियों में अंधकार भयावह...

मानो मेरे कारण लग गया

मार्शल ला वह,

मानो मेरी ही निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,

मानो मेरे कारण ही दुर्घट

हुई यह घटना।

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृष्ठ 334)

अथवा

...ओ मेरे आदर्शवादी मन

ओ मेरे सिद्धांतवादी मन

अब तक क्या किया?

जीवन क्या जिया!!...

बहुत-बहुत ज्यादा लिया

दिया बहुत-बहुत कम,

मर गया देश, अरे, जीवित रह रह गए तुम!!

(वही, पृष्ठ 332, 333)

रचनाकार के डर के संबंध में जो पहले कहा गया है वह मुक्तिबोध के संबंध में अप्रासंगिक नहीं। मुक्तिबोध स्वयं लिखते हैं- “मन एक रहस्यलोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल में स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह काले

जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ।² अतः डायरी के उक्त प्रसंग को पढ़ते और यहाँ उद्धृत करते हुए मेरे मानस में जो प्रतिक्रिया हुई वह निष्कर्ष रूप में यह है कि उनमें कवि और आलोचक, दोनों की एक साथ विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। जैसे प्रेमचंद का साहित्य स्वाधीनता पूर्व के भारत का साहित्यिक इतिहास है, बहुत कुछ वैसे ही मुक्तिबोध के साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि वे अपने समय का दस्तावेज हैं। नयी समीक्षा का प्रारंभ अज्ञेय के “आत्मनेपद” से होता है। उसी पंक्ति में साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, हिंदी नवलेखन तथा एक साहित्यिक की डायरी भी आती है।

आज यह माना जा रहा है कि छायावाद काल में जो स्थान ‘निराला’ का है, नयी कविता में वही स्थान गजानन माधव मुक्तिबोध का है। उनका काव्य नयी कविता की अन्यतम उपलब्धि है। मुक्ति का रहस्य क्या है? मुक्तिबोध के यहाँ व्यक्ति अपनी सिद्धि दूसरों के साथ और उसकी सहायता से ही पात्र कर सकता है। उनका कहना और मानना है कि-

“याद रखो

कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती

यदि वह है

तो सबके साथ है।”

(चम्बल की घाटी में)

यहाँ हम देख रहे हैं कि मुक्तिबोध का दुख का बोध जितना गहरा है, उतना ही व्यापक है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने उन्हें “सद् चिद् वेदना के कवि मुक्तिबोध एक श्रद्धांजलि” शीर्षक में लिखा है-

आत्मा में भीषण

सत् चिद् वेदना जल, उठी, दहक उठी है।

उनकी वेदना केवल दुख की साफेदार नहीं है, दुख के कारण के भी साफेदार है। वे दुख झेलकर दुख के दायित्व से छुटकारा नहीं चाहते, दुख देने वाली सत्ता का पान-फल भी भोगने के लिए तैयार है, उनका दुख-बोध अपनी दस्यु रूप आकृति को स्वीकार करके ही पूर्ण होता है। इस आकृति की निर्मात्री “सामंजस्यों की दुष्ट व्यवस्था की जानकारी करा के समग्र होती है, इसीलिए तो वे अकेले मुक्ति के अभ्यर्थी नहीं, क्योंकि वे, सबके बंधन के सहकारण हैं।”³

मुक्तिबोध ने शक को संधान के योग्य बना दिया। उनका कवि निरन्तर आत्मान्वेषण में रत रहता है। उनकी कविताओं में वैज्ञानिक सोच मिलती है। विज्ञान ने माना जीवन को ही नहीं प्रत्युत मनुष्य के समग्र चिंतन को नयी दिशा दी है तथा उसने साहित्य को भी प्रभावित किया है और साहित्य संबंधी मान्यताओं को भी। मुक्तिबोध की कविता में वैज्ञानिक शब्दावली के शब्द भी प्रयोग हुए हैं, अतः उनके काव्य का मूल्यांकन विज्ञान-बोध की दृष्टि से भी किया जाना चाहिए। आइनस्टीन के अनुसार, “एक वैज्ञानिक विश्व के अंतराल में एक पूर्ण स्थापित समरसता (प्रीइस्टाब्लिस्ट हारमनी) के सौन्दर्य को देखता है। एक रचनाकार भी इसी समरसता को देखता है। मुक्तिबोध का काव्य, जहाँ तक विज्ञान-बोध का प्रश्न है। इसी ‘अन्तर्दृष्टि’ को संकेतित करता है—

“परमाणु केन्द्रों के आसपास

अपने गोल पथ पर

घूमते हैं अंगारे, घूमते हैं इलेक्ट्रान

निज रश्मि पथ

इलेक्ट्रान रश्मियों में बँधे हुए

अणुओं का पुंजभूत

एक महाभूत में।”

मेरी दृष्टि में आइन्स्टीन की भावमयता लोक प्रसिद्ध है। इसीलिए उन्हें आस्तिक वैज्ञानिक कहा जाता है। वे अपने प्रयोग में एक साथ वैज्ञानिक और कवि थे। इसी तरह मुक्तिबोध अपनी सम्वेदना-परिधि के भीतर विज्ञान की थोड़ी चर्चा कर लेते हैं। वह एक द्रष्टा की तलाश ही कही जानी चाहिए। वैज्ञानिक शब्दावली के कुछ शब्द मशीन, बस, बल्ब, विद्युत, इलेक्ट्रान, रेडियो, अमोनियम, फास्फेट, नायट्रेड, यूरेनियम, रेडियम आदि सैकड़ों वैज्ञानिक शब्दावली उनकी कविताओं में देखे जा सकते हैं। पश्चिम में साहित्य के विषय में समीक्षात्मक चिंतन के क्षेत्र में “मैथेमेटिक्स एण्ड पोएट्री” जैसी समीक्षा कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जहाँ साहित्य को भी नए वातायनों से देखा गया है। मुक्तिबोध जैसे विचारधीन कवि का विज्ञान की ओर मुड़ना उनकी जिज्ञासा का प्रतीक है। हिंदी साहित्य समीक्षा में विज्ञान-विषयक समीक्षा का अमल है, कुछ

अच्छी समीक्षा डॉ. वीरेन्द्र सिंह ने की है। उनके अनुसार— “युग की सम्वेदना, विज्ञान-बोध की माँग करती है, और मुक्तिबोध का काव्य इस माँग को अपनी पूरी तरह पूरा करता है। बाह्य और अन्तर का द्वन्द्व सृजन का मूल है। यही मुक्तिबोध की वैज्ञानिक दृष्टि है।”

मुक्तिबोध रचनात्मक कल्पना के धनी थे, इसलिए वह ऐसा लिख सके कि— “रचनात्मक कल्पना के धनी कलाकारों, लेखकों के कर्म की क्रिया भविष्य की ओर जाती है।” मुझे गालिब याद आते हैं— “ऐसा होता तो कैसा होता।” अर्थात् जो है, उसे यथावत् स्वीकार न कर उसमें वे बदलाव चाहते थे, अपनी कल्पना के अनुसार। पर आज का व्यक्ति इतना भ्रमित है कि उसे हर विचार सही, सोद्देश्य मालूम होता है। मुक्तिबोध कहते हैं— “मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में चमकता हीरा है।” और यह विचार बहुलता उसे हर क्षेत्र में मिलती है और वह अंत में कहता है—

लेखक की कठिनाई यह नहीं कि

कमी है विषयों की

वरन् आधिक्य उनका ही

उनको सताता है

और वह ठीक चुनाव नहीं कर पाता।⁴

कविता आत्म स्वीकार है। यह प्राचीनकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल में, सभी कवियों की काव्य-शैली का एक प्रधान युग रहा है। वैदिक ऋषि- कवि इस जगत को परमात्मा की रची हुई कविता के रूप में देखता है— (देवस्य पश्य काव्यं न ममार जार्यति, अथर्ववेद 10832) यदि यह जगत परमात्मा के द्वारा रखी गई कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नए सिरे से रचता है, कहता है और प्रस्तुत करता है। मुक्तिबोध की एक कविता देखें— ‘ओ मेघ’ कविता जिसमें कवि कहता है—

“ओ मेघ,

पुराने हो पर बार-बार आते हो,

पुनः पुनः लौटते हो स्वप्न वे गान सत्य से—

इसीलिए तुम, नए नए लगते हो।

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृष्ठ-57)

यह मेघ कविता अधूरी होने पर भी आवृत्ति की दृष्टि

से अच्छी कविता है।

“कविता आत्म स्वीकार है”- यहाँ आप देखें- तुलसीदास के अनेक, छायावाद का काव्य तथा मुक्तिबोध का काव्य सब में आत्म स्वीकार का भाव है। मुक्तिबोध की रचनाओं में स्वयं के बर्जन से ही नयी कविताओं का प्रारम्भ दिखाई देता है। “अंतः करण का आयतन” एक ऐसी ही कविता है। “मुझे नहीं मालूम” शीर्षक से रचित कविता में कवि स्वयं की अच्छाई के बारे में अनभिज्ञता प्रकट करता है। एक अन्य कविता “सही हूँ या गलत हूँ” इसी भाव-साम्य से युक्त है। ‘एक स्वप्न-कथा’ में कवि निज के बारे में विचार व्यक्त करता है-

एक विजय और पराजय के बीच

मेरी युद्ध प्रवृत्ति

मेरा ‘स्व’

जगमगाता रहता है

विचित्र उथल-पुथल में।”

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृष्ठ 250)

कवि का एक आत्म स्वीकार वाला पद और देखें-

“भौहों पर धूल-पसीना ले, तन-मन हारा,

बेचैन रहूँगा, फिरता मैं मारा-मारा।

मुक्तिबोध कवि की यह वेदना आत्मदान की व्यर्थता की वेदना नहीं, आत्मदान की अयथेष्टता की वेदना है-

“जितना भी किया गया

उससे ज्यादा कर सकते थे,

ज्यादा कर सकते थे।”

पर, मुक्तिबोध को अंततः साहित्य की सीमा का बोध हो गया था। इसीलिए स्वयं एक साहित्यकार होते हुए भी वे यह कहने का साहस कर सके कि “साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करना मूर्खता है।” क्योंकि- “साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों की बिम्ब-मालिका कर तैयार करता है।” मुक्तिबोध की रचनाओं में अनेक विचार स्फुलिंग विखरे हुए हैं, जिनमें कुछ का उल्लेख कर देना आवश्यक लगता है। उनका बोला गया अति उद्धृत वाक्य है- “पाटर्नर तुम्हारी राजनीति क्या है?” दूसरा मशहूर कथन है- “जो है उससे बेहतर चाहिए।” और तीसरी उक्ति है- “अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने

ही होंगे/ तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़। पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार।” (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृष्ठ-280)।

कवि और समीक्षक अशोक वाजपेयी ने तो मुक्तिबोध की कविता को, उनके अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने के कारण ही, उनकी कविता को ‘भयानक खबर की कविता’ कहा है- “हिंदी में शायद अकेले उन्होंने हपोर समक्ष में आदमी की हालत पूरी परिभाषा अलम्ब साहस और शक्ति से करने की अद्वितीय कोशिश की है- अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे/उठाने ही होंगे। तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़।” मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाए और उनकी कविता, समकालीन भारतीय मनुष्य की पीड़ा की खंडित रामायण है।”⁵

“चाँद का मुँह टेढ़ा है” में मुक्तिबोध ने नयी कविता की ‘निस्सहाय नकारात्मकता’ और ‘जड़ीभूत सौन्दर्याभिरूचि’ पर तीखा आक्रमण किया है, फलस्वरूप वे अपनी एक विशिष्ट पहचान बना सके। फिर भी मुक्तिबोध के सामने जो कठिन दौर रहा, वह भारतीय समाज और कविता से चल गया नहीं है। ‘अभिव्यक्ति के लिए खतरे’ अभी जो बहुत सीमित परिधि में दिखायी दे रहे हैं, वे भविष्य में किन रूपों में आयेंगे, कहना कठिन है। मुक्तिबोध- काव्य को मूलतः ज्ञान-सम्वेदनशील का काव्य कहते हैं। जो कवि के आत्मसंघर्ष तथा आत्मचिंतन का रूप है। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी मुक्तिबोध सम्वेदनशील प्रकृति के थे। अत्यधिक सम्वेदनशीलता के कारण ही, किसी से समझौता नहीं कर सके। श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध (जो मुक्तिबोध के अनुज तथा मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं) के अनुसार- “स्वयं को छोड़कर किसी से समझौता नहीं कर सके। वे उग्र स्वाभिमानी थे। अपने इस स्वाभिमानी स्वभाव के कारण वे अपनी निजी कष्ट की बात किसी से नहीं करते थे। उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि लोग उन पर दया करें। वे घोर आर्थिक संकट में रहते थे। धन का अभाव सदैव ही बना रहता था। उनमें बहुत अधिक मानवीयता थी, वे प्रत्येक मानव पर विश्वास करना चाहते थे।” सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई के अनुसार- “मुक्तिबोध घोर आर्थिक संकट में रहते थे, कर्ज से लदे रहते थे। बैंक में कभी उनका खाता खुलेगा, वह यह सोच ही नहीं पाते।

अपने काव्य संकलन “चाँद का मुँह टेढ़ा है” को देखने की उनकी बहुत इच्छा थी, पर उनके जीवन-काल में दोनों में से एक भी पूरी न हो सकी और मुक्तिबोध की जिंदगी बिना कविता संग्रह देखे और बिना चेक काटे गुजर गयी।”⁶

मुक्तिबोध की रचनाओं पर जिरह करते हुए श्रीकांत वर्मा ने लिखा है— “मुक्तिबोध की कविता केवल कविता न होकर ध्वंस भी है। उनका समूचा जीवन धर्मयुद्ध की दुनिया है, जिसमें कवि अपने प्रश्नों की अकेली और कुछ हद तक लड़ाई लड़ता रहा। अपनी साहित्यिक परिणतियों में ये प्रश्न उन सब साहित्यिक मूल्यों का संहार करते हैं, जो अपने युग के द्वंद्व, नैराश्य और आकांक्षा से पैदा हुए थे।”⁷

अब आइए, हम परंपरा और मुक्तिबोध पर कुछ बातचीत कर लें। किसी बड़े कवि की परंपरा एक ही नहीं होती। उसकी कई परंपराएँ रहती हैं। निराला, अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविताओं में भी विविधता है। काव्य अपने माध्यम की सिद्धता और अपर्याप्तता से बँधा हुआ है, अपर्याप्तता का बोध ही आधुनिकता है, यह बोध जितना ही जाग्रत होता है, उतनी सिद्धता से संपूर्ण आयाम की सिद्धि हो पाती है। पिछली, सिद्धताएँ नयी सिद्धता की सम्भावनाओं को इस प्रक्रिया में नव-नव जायमान होकर जन्म देती है। द्रष्टव्य है मुक्तिबोध की कविता—

मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं
आज भी नवीन प्रेरणा यहाँ न मर सकी
न जी सकी परन्तु वह डर न सकी....

यहाँ ध्यातव्य है कि पं. विद्यानिवास मिश्र जी ने उक्त कविता को अपनी समसामयिक कविता से निश्चित रूप से आगे की माना है। क्योंकि वे मानते हैं कि परंपरा में विगत कुछ नहीं, जो कुछ है वह प्रत्यक्ष है, सत् है। वर्तमान से प्रमाणित है। परम्परा नानी नहीं, जानी हुई विगत श्रेष्ठता को स्वीकार करती है, वह मृत्यु से नहीं घबराती। परंपरा सार्थक ही इसलिए है कि आज का कवि उसे जी रहा है और जीवन को आस्वादीय ही नहीं, संभावनीय भी बना रहा है।⁸ मुक्तिबोध की एक कविता की पंक्ति है—“उन्हें युद्ध की ही करने दो बात, चाँद की बात हम करें।” मुझे यहाँ केदारनाथ सिंह की एक कविता याद आती है—“भीड़ के विरुद्ध एक शब्द जानते हो, वह शब्द क्या है? वह है

‘चन्द्रोदय’। यहाँ यह बात संकेतों में प्रबुद्ध और प्रहद पाठक समझ लेंगे, व्याख्या की जरूरत नहीं है।

मुक्तिबोध कवियों को जो सबसे बड़ा संदेश देते हैं, ‘वह यह है कि जिस कविता का स्रोत स्वयं कवि न होकर इतिहास होता है, वह कविता कभी समाप्त नहीं होती, उनकी इस उक्ति कि “कहीं भी खतम कविता नहीं होती”— यही मतलब है। यह लम्बी कविता के संबंध में नहीं। कविता-मात्र के संबंध में कही गई बात है। मुक्तिबोध ने एक सचेतन कलाकार की जिंदगी जी और उसके मरुस्थल का यथार्थ अनुभव भी किया, यह उनके सर्जक की विवशता है। मुक्तिबोध ने मात्र कुल 47 वर्ष की जिंदगी जी (13 नवम्बर 1917- 11 सितम्बर 1964)। मुक्तिबोध की पंक्ति—

“अपने छोटे निज जीवन में

जी ली है अनगिनत जिंदगिया

जिंदगी हरेक....ज्वलित चंदन का ईंधन है।”

खुद अपने जीवन के लिए ऐसी भविष्यवाणी कर सकना, मुक्तिबोध जैसे भविष्यद्रष्टा रचनाकार के लिए संभव था।

मुक्तिबोध की एक पुस्तक “भारत: इतिहास और संस्कृति” जो मध्यप्रदेश के स्कूलों में 10वीं कक्षा के पाठ्यक्रम में लगी थी। 31 अगस्त को उसके विषय में विरोधी आंदोलन हुए। जनसंघ के पं. दीनदयाल उपाध्याय ने कहा— “मुक्तिबोध विकृत मस्तिष्क के लेखक हैं। उनकी पुस्तक पढ़कर बच्चों के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति अनास्था पैदा होगी।” कांग्रेस के तत्कालीन शिक्षामंत्री शंकरदयाल शर्मा ने भी विरोध को जायज ठहराया। मुक्तिबोध ने इस पूरे प्रसंग पर टिप्पणी की, “मेरी पुस्तक में कोई तथ्य गलत है तो उसकी इतिहासकारों से जाँच करवायी जाय। इतिहासकारों की एक समिति बनाइये और अगर इतिहासकारों की समिति कहती है कि मेरी पुस्तक में तथ्य गलत है तो आप उस पर रोक लगा दीजिए। अन्यथा आपको केवल यही अधिकार है कि उसे पाठ्यक्रम से निकाल दीजिए।” म. प्र. कांग्रेस सरकार द्वारा 19 सितम्बर 1962 को जनसुरक्षा अधिनियम के तहत प्रतिबंधित (जब्त) कर, इसे पाठ्यक्रम पुस्तक से निकाल दी गई। आज यह पुस्तक मुक्तिबोध ग्रंथावली भाग-6 में सम्मिलित देखी जा सकती है।

ऐसी स्थिति-परिस्थिति के बीच घोर मानसिक त्रास में उनके दिन गुजर रहे थे। मुक्तिबोध की जिजीविषा और रचनात्मक शक्ति का कमाल देखिए कि उनकी सबसे लम्बी और सबसे ताकतवर कविता “अँधेरे में” पूरी हुई। अपनी पुस्तक के प्रतिबंधित किए जाने पर, ऐसी संस्कृति के महारथियों को कभी मुक्तिबोध ने इस अंदाज में देखा था-

इस नगरी में चाँद नहीं है, सूर्य नहीं है

भीतर पावन ज्वाल नहीं हैं।

इस नगरी के प्रहरी पहने हैं धुएँ के लम्बे चोगे

साजिश के कुहरे में डूबी

ब्रह्मराक्षसों की छायायें

गाँधीजी की चप्पल पहने घूम रही हैं।

मनुष्य केवल प्राकृतिक नहीं है, वह मानसिक है। मुक्तिबोध ने जिस पुस्तक को बहुत परिश्रम से लिखा था, किंतु उस पुस्तक काण्ड ने उन्हें अंदर से बिल्कुल ही हिला दिया। यद्यपि उनका शरीर अत्यंत क्षीण हो गया, फिर भी कॉलेज नियमित रूप से जाते थे। 7 फरवरी 1964 को एकाएक गिर पड़े, तभी उन पर पक्षाघात का पहल प्रहार हुआ। उन्हें मित्रों के सहयोग से भोपाल लाया गया। तभी दिल्ली से तत्कालिक मुख्यमंत्री द्वारा का प्रसाद मिश्र को दिल्ली से साहित्यकारों के दल द्वारा- मैथिलीशरण गुप्त, काका कालेलकर, मामा वरेरकर, जैनेन्द्र कुमार, बच्चन, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा आदि द्वारा भेजा गया तार मिला। अब शासकीय व्यय से उनकी भोपाल में चिकित्सा की जाने लगी। 6 जून 1964 को बेहोशी बढ़ गई। 17 जून को बच्चन, प्रभाकर माचवे तथा दूसरे पचासों लेखक प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री से मिले तथा उन्हें मुक्तिबोध की स्थिति से अवगत कराया और माँग की उन्हें चिकित्सा के लिए दिल्ली बुलाकर भारत शासन द्वारा मुफ्त चिकित्सा व्यवस्था दी जाये। उन्हें भोपाल से दिल्ली लाया गया। जहाँ वे लगभग ढाई महीने अस्पताल में भर्ती रहे। किंतु लंबी बीमारी के बाद 11 सितम्बर 1964 की रात उनकी मृत्यु हो गई। मुक्तिबोध के

पिता की मृत्यु एक दिन पूर्व 10 सितम्बर 1964 को हुई थी। मुक्तिबोध की पचासवीं पुण्यतिथि पर उनकी स्मृति को तरोताजा रखने के लिए ‘मुक्तांचल’ ने जो पहल की है, उससे मैं बहुत प्रभावित हूँ। इससे मुक्तिबोध साहित्य के पुनर्पाठ एवं अंतःपाठ को एक नया बल मिलेगा।

मुझे आज गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की बात याद आती है- “कलाकार की ऊँचाई उसके जीवन से मत देखो, उसकी कलाकृति से देखो।” इसी को हृदयगम कर हमें मुक्तिबोध के साहित्य का पुनरावलोकन करना चाहिए। पर हमें मुक्तिबोध को समझने के लिए हिंदी की उस काव्य-सम्पदा का बोध होना चाहिए, जिसने अपना घर जलाकर हाथ में लाठी ली हैं, जिसने श्मशान में शिव को जगाया है और जिसने दोनों जहाँ के ऐश को खाक में मिलाया है- पं. विद्यानिवास मिश्र के इस कथन को भी नहीं भूलना चाहिए।

इत्यलम्

संदर्भ :

1. डॉ. नामवर सिंह- एक साहित्यिक की डायरी, विवेचना सं.- उमराव, प्रकाशन भारती भग्गर, लीगर प्रसाइल पृ.सं.- 197
2. मुक्तिबोध- एक साहित्यिक की डायरी पृ. 4।
3. पं. विद्यानिवास मिश्र- साहित्य की चेतना, विन्ध्याचल प्रकाशन, छतरपुर म. प्र.
4. मुक्तिबोध रचनावली - सागर, सं. नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, 1980, पृ. 972
5. अशोक वाजपेयी- कवि कह गया है (आलोचना) भारतीय ज्ञानपीठ, 1998, पृ. 66
6. मुक्तिबोध के साथ - हरिशंकर परसाई, धर्मयुग, 8 नवम्बर 1964
7. श्रीकांत वर्मा - निरह, पृ. 47
8. पं. विद्यानिवास मिश्र- साहित्य की चेतना, विन्ध्याचल प्रकाशन, छतरपुर पृ. 101
9. पक्षधर वार्ता- वर्ष-1, अंक-1, जनवरी-अक्टूबर, सं. विनोद कुमार तिवारी, पृ. 289

संपर्क : 09198844653

मुक्तिबोध काव्य का वैशिष्ट्य

डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय

संपादक : नया परिदृश्य

मुक्तिबोध प्रयोगवाद, प्रगतिवाद के पुरोधा तथा प्रतिनिधि कवि हैं। वे नयी कविता के मानक संदर्भ हैं। उनकी रचनाओं ने जहाँ आने वाले कवियों और आलोचकों के लिए प्रेरणा स्रोत का काम किया है, वहीं उनके गहरे सामाजिक सरोकारों तथा प्रतिबद्ध, प्रगतिशील दृष्टि ने सभ्यता, समीक्षा के अनेक मानदंड स्थापित किए हैं। आधुनिक जीवन मूल्यों की सशक्त और जातीय अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के काव्य की विशेषता है। उनकी कविता में आधुनिक समाज की विसंगतियों तथा विडंबनाओं का चित्रण करने के लिए ऐसे विषयों एवं संदर्भों का चयन किया गया है, जो जीवन की वास्तविकता से संबंध रखते हैं और पूर्णतः नये हैं। आद्यौगिक युग के प्रभावों तथा बदलते हुए परिवेश के संपूर्ण संदर्भों को एक नया आयाम देने की उनकी कवि चेष्टा निःसंदेह सराहनीय है। वे साहित्य को वास्तविक मानवीय हित से अलग करके देख नहीं पाते। वे रचनात्मक प्रक्रिया, रचनात्मक शक्ति के वेग के कारण का सवाल उठाते हैं कि साहित्य किसके लिए? उसका प्रयोजन क्या है? आपका पॉलिटिक्स क्या है? आप किसके साथ खड़े हैं? इन सवालों को वे रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में तो उठाते ही हैं, साथ ही साथ अपनी कविताओं में तथा अन्य रचनाओं में इनका उत्तर भी देते हैं। सत्य प्रकाश मिश्र का मानना है- “उनकी समग्र रचनाएँ एक प्रकार से रचना क्यों? कैसे और किसके लिए की खोज का परिणाम है।” इन प्रश्नों से जूझना तो उस प्रत्येक साहित्यकार को पड़ता है जो साहित्य को वृहत्तर मानव संदर्भों में देखता है। मुक्तिबोध तो इन प्रश्नों से इतने आक्रांत थे कि कविताओं तक में इनका उत्तर उन्होंने खोजा है। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में, “नयी कविता में मुक्तिबोध की स्थिति वही है, जो छायावाद में निराला की थी। निराला के समान मुक्तिबोध ने अपने युग के सामान्य काव्य मूल्यों को प्रतिफलित करने के साथ ही उनको चुनौती देकर उस सर्जनात्मक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्यांकन हो।” सच्चे और सार्थक साहित्य की सृष्टि जीवन के बेधक प्रश्नों से विद्ध होकर ही होती है। अपने परिवेश के अभावात्मक पक्षों के संभावना सम्पन्न विकल्पों की प्रतिष्ठा का आग्रह ही साहित्य की मूल प्रेरणा है। मुक्तिबोध बेहतर विकल्पों की खोज समकालीन यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़े होकर ही करते हैं। साहित्य सृजन वस्तुतः संवेदना संपृक्ति और व्यापक मानवीय सरोकारों, मानवीय संभावना की अभिव्यंजना में सार्थक होता है। मुक्तिबोध में दायित्व चेतना और मानवीय सरोकार पूर्णतः विद्यमान हैं। उनका काव्य

मानवीय नियति और मानवीय संभावनाओं के प्रतिबद्ध होने के कारण काव्य-साधना के स्थान पर जीवन की यथार्थ व्याख्या पर बल देता है। कल्पना, प्रवण भाव सत्ता के स्थान पर समकालीन सामाजिक संदर्भों में मनुष्य की सम्मानजनक प्रतिष्ठा के प्रयासों में विश्वास करता है। इस प्रकार समर्थ लेखन के अनेकानेक वैशिष्ट्यों में से एक वैशिष्ट्य उसका प्रतिबद्ध होना है। मनुष्य के जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने और उसे मूल्य चिंतन से संपृक्त बनाने एवं उच्चतर और स्वच्छतर जीवन की ओर अभिमुख करने की प्रतिज्ञा का पालन है।

मुक्तिबोध की कविता में गहन अन्तर्वेदना है, भावों के ज्वार के पीछे विचारों की गहनता है तथा कोरी भावुकता के स्थान पर गंभीर बौद्धिकता है। उनकी कविताओं में एक स्वस्थ सामाजिक चेतना, लोकमंगल की भावना तथा जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण विद्यमान है। समाज, राजनीति, धर्म, इतिहास, साहित्य आदि अनेक विषयों पर उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। आज कविता के प्रयोजनों की बात करते हैं तो उसमें कवि के व्यापक सरोकारों और उत्तरदायित्वों को अलग नहीं कर सकते, क्योंकि वही ऐसे तत्त्व हैं जो कविता को प्रयोजनीय बनाते हैं। कवि की जीवन दृष्टि संकुचित हो और उससे आशा की जाये कि उसकी कविता जन-मन की कविता होगी, हो नहीं सकता। वह उन जनसमस्याओं से मुंह न चुराये जिसके कारण अधिकांश जनता का जीवन विकलांग तथा नष्ट हो रहा हो। जीवन-दृष्टि किसी भी रचनाकार के लिए अनिवार्य है। जीवनानुभवों का गुणात्मक परिवर्तन मुक्तिबोध के लिए सौन्दर्यानुभूति का आवश्यक अंग है। जीवनदृष्टि में सौन्दर्यानुभूति समाहित है। रचना इसलिए समाज के वर्गीय संबंधों और परिवर्तनों से संबद्ध होती है। मुक्तिबोध के लिए तो इसलिए उस बिंदु की आवश्यकता अधिक महत्वपूर्ण हो गयी कि रचनाकार कहाँ से और किसके लिए बोल रहा है। मुक्तिबोध आम आदमी के मनोभावों और वैचारिक आत्मसंघर्ष को रूपायित करने वाले एक सजग कवि हैं। वे जागे हुए होश की तस्वीरों के कवि हैं। काव्य सृजन के प्रति उनका नजरिया सदैव प्रगतिशील रहा है। उन्होंने यथार्थपरक सामाजिक चेतना, मानवीय दृष्टिकोण, विषमतारहित समाज रचना

तथा समाज को आगे बढ़ाने की उनकी आकांक्षाओं तथा प्रयासों को अपनी जीवन-दृष्टि में रखा।

मुक्तिबोध का काव्य-संसार चुनौतियों से भरा हुआ है, सवालियों और समस्याओं से भरा हुआ है। उनकी कविताओं में नाटकीय तत्त्वों का समावेश उनकी प्रमुख विशेषता है। उन्होंने प्रतीक और बिम्ब के अतिरिक्त रूप का प्रचुर प्रयोग किया है और इसके माध्यम से उन्होंने तथ्य को व्यक्त करने का एक सफल हथियार प्राप्त कर लिया है। उनकी कविताओं के भाषिक उत्कर्ष के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। मुक्तिबोध का काव्य-संसार काफी संश्लिष्ट रहा है। उनके द्वारा रचित विभिन्न कविताओं के सूत्र आपस में गुंथे हुए हैं। उनकी कविता जनवेदना की समग्र अभिव्यक्ति है।

मुक्तिबोध को लोकजीवन का जासूस की संज्ञा देने वाले रमेश कुंतल मेघ के विचार हैं, “‘उन्होंने यथार्थ को विश्लेषित करने और शोषण के आतंक को साक्षात् करने के लिए रहस्यमय और भय की पद्धति अपनायी और उसमें अपनी सामाजिक-राजनीतिक समझ को आद्यन्त कायम रखे।’” (लोकजीवन का जासूस मुक्तिबोध, रमेश कुंतल मेघ, सं.- डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ. 251-252) वे जीवन भर जन सामान्य की पीड़ा, वेदना को लेकर अत्यंत चिंतित रहे। उनके मानस में एक समस्या निरंतर बनी रही कि- “‘मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में/सभी मानव/ सुखी, सुंदर व शोषण मुक्त कब होंगे।’” (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 162) मुक्तिबोध के काव्य व्यक्तित्व तथा निजी व्यक्तित्व में कोई अंतर नहीं है। उनकी कविता साफ-साफ उनकी जिंदगी को प्रतिबिम्बित करने वाली है। उन्होंने आत्म संघर्ष को काव्य का संघर्ष बनाया। तारसप्तक का प्रकाशन वर्ष सन् 1943 हिंदी साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। तारसप्तक के अन्य कवियों के साथ मुक्तिबोध की भी कविताएँ प्रकाशित हुई थी। अपने वक्तव्य में काव्य प्रेरणा की ओर संकेतित करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं- “‘मेरे बालपन की पहली भूख सौंदर्य और दूसरी विश्व मानव का सुख-दुख, इन दोनों का संबंध मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।’” (तारसप्तक, मुक्तिबोध का वक्तव्य, पृ. 41) मुक्तिबोध

की कविता संवेदना और मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। कविता में जहाँ एक ओर छटपटाहट और बेचैनी झलकती है वहीं दूसरी ओर यंत्रणा, भूखमरी, त्रासदी, विषमताओं तथा विसंगतियों के चित्र पूरी भयावहता और सहजता से अंकित किये गये हैं, साथ ही भविष्य के प्रति आशावाद की ललक भी उनकी कविताओं में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है जो हमें सोचने पर मजबूर करती है। अपनी वैचारिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से मुक्तिबोध ने नये कवियों तथा नयी कविता के पाठकों के लिए नवीन दिशा बोध देने का प्रयास किया है। जिससे नयी कविता की प्रक्रिया और सोच को वे आसानी से समझ सकें। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबंध' की भूमिका में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— 'मैं मुख्यतः विचारक न होकर एक कवि हूँ, किंतु आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयों पर भी मनोमंथन करना पड़ता है। अपने काव्य जीवन की यात्रा में मुझे जो चिंतन करना पड़ा उसे विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।'

मुक्तिबोध साहित्य को वास्तविक मानवीय हित से अलग करके देख नहीं पाते हैं। वे काव्य रचना को ऐसी सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं जो अन्याय का विरोध करने वाली परिवर्तनेच्छुक और पूँजीवादी व्यवस्था के विनाश के लिए, प्रतिबद्ध हो। जिसे वह 'रक्तालोक स्नात पुरुष' के रूप में देखते हैं या उस ब्रह्मराक्षस की भाँति जिसका वह शिष्य होना चाहते हैं, सामाजिक बदलाव की आकांक्षा से युक्त है। मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' हमारे समय, समाज और राजनीति का एक ऐसा बड़ा आख्यान है जो न केवल हमें स्तब्ध करता है बल्कि फासिस्ट ताकतों के पूर्ण आगमन की सूचना भी देता है। वे हमारे समय की विडंबना के उद्घोषित कवि हैं जिनकी कविताएँ अछोर सामाजिक आशयों से ओत-प्रोत हैं। 'अँधेरे में' एक गाथा है, उसमें सामाजिक क्रांति की अदम्य इच्छा का दोहरा इतिहास है। जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों के चरित्र को वे उद्घाटित करते हैं। उनकी प्रतिनिधि कविता 'अँधेरे में' अपने युग की घटनाओं से नहीं बल्कि उसकी बुनावट से सामना कराती है। उनकी कुछ लम्बी कविताएँ हिंदी काव्य की विशिष्ट देन हैं। जिनमें 'अँधेरे में' प्रमुख है। 'ब्रह्मराक्षस',

'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'लकड़ी का बना रावण', 'ओरांगउटांग', 'चम्बल की घाटी' आदि कविताएँ आज के जीवन को परत-दर-परत खोलती चलती हैं। ब्रह्मराक्षस उनका प्रिय प्रतीक है। विष्णु खरे का मानना है— 'हिंदी की नयी कविता ने अपने कृतित्व के प्रति सर्वाधिक जागरूक (मुग्ध नहीं) कवि मुक्तिबोध हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं को, जिन्होंने सरसरी दृष्टि भी दी है, वे इससे परिचित होंगे कि वे एक गहरे जिम्मेदार, प्रतिबद्ध तथा इंगेज्ड कवि की रचनाएँ हैं। यदि मुक्तिबोध में यह नहीं होता और सिर्फ एक शब्दाडम्बर होता, तो वे हमारे युग के सर्वाधिक बड़बोले कवि होते किंतु उनमें वह प्रखरता तथा भयावह करुणा है जो उनके भावुकतम क्षणों, कल्पना की असंभवतम उड़ानों पर ही प्रश्नचिह्न नहीं लगाने देती। मुक्तिबोध की कविताओं की थीम एक ही है— संघर्ष व्यक्तिगत तथा विराट स्तरों पर। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की 28 कविताओं में 14 रचनाएँ उनके बाह्य संघर्ष की कविताएँ हैं।' (अन्तस्थल का पूरा विप्लव 'अँधेरे में', सं. निर्मला जैन, पृ. 20-21) पीड़ा और विषमता से उत्पन्न उनकी कविताएँ जुझारू होती हैं। उनके विचार हथियार बन गये हैं तथा तेजी से बदलते राजनीति, सामाजिक बदलाव के लिए कविता पोस्टर बन जाती है। श्रीकांत वर्मा का यह कथन महत्वपूर्ण लगता है— 'मुक्तिबोध की कविता मनुष्य की दशा को सैकड़ों स्तर पर और सैकड़ों रूपों में उपस्थित करती हैं। ये कविता अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं, मनुष्य के आत्मसंहार की भयानक और आक्रामक तस्वीरें हैं। वे अपनी बनावट के जरिये अपने युग की मानसिक बुनावट का आभास कराती हैं। समकालीन मनुष्यता का यथार्थ सचमुच इतना ही भयावह है।'

मुक्तिबोध राष्ट्रीय सीमाओं में सीमित रहने वाले कवि नहीं वरन् वह विश्व-दृष्टि सम्पन्न मानवीय मुक्ति के कवि हैं। मुक्तिबोध की कविता में विचारों का गाम्भीर्य सन्निहित है। उनके भावावेश के पीछे विचारों की सुदीर्घ परम्परा है। मस्तिष्कहीन कोरी भावुकता में उन्हें तनिक भी आस्था नहीं है। उनके चिंतन में मानव जीवन की विकास प्रक्रिया और मानव चेतना की तात्त्विक संश्लिष्टता के संकेत निहित हैं। कविता को उन्होंने क्षणोन्माद न मानकर उससे एक बड़े

अस्त्र का काम किया है और सामाजिक वैषम्य की कालिमा को हराने के लिए कलागत शिल्प के प्रकाश का आश्रय लिया है। तारसप्तक के कवियों में मुक्तिबोध अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी स्थापनाओं एवं मान्यताओं का विविधमुखी प्रभाव बाद की नयी कविता पर देखा जा सकता है। उनके काव्य में मानव की रचना और कविता की रचना की प्रक्रिया एक-दूसरे से पूरी तरह जुड़ी हुई है। वे काव्य को जीवन से तटस्थ निरपेक्ष रूप में नहीं देखते। इसलिए सौन्दर्यानुभूति को भी जीवन से भिन्न और परस्पर समानान्तर रूप में देखने का प्रश्न ही नहीं होता। मुक्तिबोध मुक्तिधर्मी कवि हैं। मूल्य चेतना के कवि हैं। काव्य सृजन के प्रति उनका नजरिया हमेशा प्रगतिशील रहा है। अतः उन्हें आधुनिक हिंदी कविता के किसी वाद के संकीर्ण कटघरे में आबद्ध करना उचित नहीं है। उन पर टालस्टाय वर्गसों और मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है। वे आत्मा, शरीर, विचार और व्यवहार के कवि हैं। वे सच्चे अर्थों में एक अनुभूतिशील कवि हैं। उनका संपूर्ण व्यक्तित्व ही काव्य है। वे व्यक्तित्व और कृतित्व में पूरी तरह एकमेव हैं। उनका काव्य-व्यक्तित्व सामाजिक, राजनीतिक, दुरभिसंधियों और पारिवारिक, आर्थिक संकटों के भारी पाटों में पिसने के बावजूद जीवन के अंत तक अपराजेय जिजीविषा से ओत-प्रोत दिखायी पड़ता है। मुक्तिबोध का कवि रूप समकालीन कविता में अत्यंत विशिष्ट है। वे पाँचवें दशक की हिंदी कविता के लिए एक चुनौती बनकर आये। उनकी कविता वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से अपने पूर्ववर्तियों और समवर्तियों दोनों से भिन्न थी। उनकी कविता का अनुभव संसार इतना जटिल, संघर्षपूर्ण और अवसादमूलक है कि उस तक पहुँचने के लिए उनके काव्य विकास और उन पर पड़े हुए प्रभावों का विश्लेषण आवश्यक है।

मुक्तिबोध ने अपने समीक्षा ग्रंथों में नयी कविता की समीक्षा के संदर्भ में जिस 'अभिव्यक्ति के संघर्ष' को कवि के लिए अनिवार्य माना है वह उनकी कविताओं में अनिवार्य रूप से उपस्थित है। मुक्तिबोध की कविता यात्रा सुविधाओं से भरी यात्रा नहीं है, छायावादी संस्कारों से मुक्त होकर प्रगतिवाद की कमियों पर पैनी नजर रखते हुए उन्होंने नयी कविता को दुर्लभ आयाम दिये हैं। वे रक्ताल जीवन यथार्थ

के भोक्ता कवि हैं। एक-एक कविता पर वे इतना श्रम करते थे कि कविता उनके लिए कष्टसाध्य एवं अनिवार्य हो जाती थी, आवेग में डूबे क्षणों का उच्छ्वास नहीं। डॉ. जय नारायण का कथन है—“मुक्तिबोध के काव्य का विश्लेषण करते हुए उनके वक्तव्य तथा कविताओं के अतिरिक्त उनके समस्त साहित्य को दृष्टि में रखना आवश्यक है क्योंकि उनकी कविताओं की जड़ें उनके पूरे साहित्य में फैली हैं तथा इनमें एक विचित्र सी अंतरसूत्रता विद्यमान है।.... उनकी कविताओं में भयानक वास्तविकताओं का साक्षात्कार है।” (मुक्तिबोध काव्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ. जयनारायण, पृ. 12)

अपने युग के जिस सामाजिक संकट के, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण-उत्पीड़न की जिन स्थितियों के विरोध में मुक्तिबोध की कविताएँ खड़ी हुई हैं, वे जब तक समाप्त नहीं हो जाती तब तक मुक्तिबोध समकालीन बने रहेंगे। डॉ. लल्लन राय का मानना है— “मुक्तिबोध ने आज की आधुनिकतावादी मानसिकता के मूल मर्म और गहीत प्रभाव को समझकर उसे उसकी ही जमीन पर धाराशायी किया है। मुक्तिबोध ने यह सब तब किया था जब आस-पास के वातावरण में परिवर्तनकारी सामाजिक संघर्ष का नितांत अभाव था। मुक्तिबोध का लेखन-काल नयी कविता और उससे जुड़े चिंतन के वर्चस्व का काल था। इसलिए उन्हें जनमोर्चे के साथ साहित्य के मोर्चे को भी संभालना पड़ा था। वे अपनी अधिकांश कविताओं तथा समीक्षात्मक लेखों में दोनों ही मोर्चों पर लड़ते हुए दिखायी देते हैं। लेकिन साहित्यिक मोर्चे पर उन्होंने जिस सूझ-बूझ, दूरदर्शिता और विवेक सम्मत वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है वह अपने आप में मिशाल है।

मुक्तिबोध एक शिल्पी जैसे धैर्य और तन्मय बेचैनी से अपनी कविता का प्रदीर्घ व्यक्तित्व उकेरते हैं तो उनका अभिप्राय सही परिप्रेक्ष्य में अपने समय को, समाज को, राजनीति को परिभाषित करते हुए कथ्य को पाठक के हृदय में घनीभूत कर होता है। उनकी कविता सामाजिक परिवर्तन की सुचिंतित प्रक्रिया का अनुभव प्रसूत-कलात्मक आख्यान है।

जीवन के जटिल अनुभवों, बौद्धिता के आग्रह, वैज्ञानिक

समझ, संघर्षशीलता और मानवीय संवेदनाओं की उष्मा ने मुक्तिबोध के व्यक्तित्व को गढ़ा, जो रचनाकर्म में साकार हुआ। वे मूलतः अपने ही संघर्ष को, अनुभवों को, समस्याओं को कविता में चित्रित करते हैं। वह जानते हैं कि समाज को बदलने के लिए एक संघर्ष की आवश्यकता है। यह संघर्ष उनकी कविताओं में बराबर दिखायी पड़ता है। नंद किशोर नवल की मान्यता है— “उनकी कविताएँ स्वाभाविक रूप से अन्य प्रगतिशील कवियों की तरह आंदोलनात्मक या प्रचारात्मक धरातल पर न रची जाकर गंभीर मानवतावादी धरातल पर रची गयी है। कवि की दृष्टिगत व्यापकता और विश्व मानवता से उनकी प्रतिबद्धता के कारण उनमें एक महाकाव्यात्मक औदात्य और ओजस्विता संभव हुई है।” हिंदी कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध प्रयोगशीलता और प्रगतिशीलता की समन्वित चेतना से युक्त हैं। इनके काव्य में जीवन-संघर्षों और यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। प्रगतिवादी कवियों में निराला के बाद उन्हीं की कविताएँ सबसे अधिक प्रभावित करती है। आधुनिक जीवन-मूल्यों की सशक्त और जीवन अभिव्यक्ति मुक्तिबोध के काव्य की विशेषता है। उनकी कविता में आधुनिक समाज की विसंगतियाँ और विपन्नताओं का चित्रण करने के लिए ऐसे विषयों को चुना गया है जो जीवन के यथार्थ से संबंध रखते हैं और नितांत नए हैं। यंत्रयुग के प्रभावों तथा बदलते हुए परिवेश को, संपूर्ण संदर्भों को एक नया आयाम देने की मुक्तिबोध की कवि चेष्टा निःसंदेह, स्पृहणीय है।

मुक्तिबोध की कविताओं में आधुनिक भाव-बोध की सशक्त अभिव्यक्ति है, श्रमशील मानवता का चित्रण है। उन्होंने अपने काव्य में वर्ग वैषम्य, संघर्ष और दबाव तथा सांस्कृतिक ह्रास को तीव्रता से महसूस किया है और अपने रचनात्मक चिंतन द्वारा जीवन निर्माण के लक्ष्य को व्यंजित किया है। नव निर्माण के प्रति अपनी सजगता को ध्वनित किया है। उनकी कविताएँ ही उनके जीवन के इतिहास को भोगे हुए यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हुई हैं। वर्गों के घोर व्यक्तित्ववाद से प्रभावित मुक्तिबोध— 1940 में अपने शुजालपुर प्रवास के दौरान मार्क्सवाद की ओर आकर्षित हुए थे बाद में मार्क्सवादी चिंतन उनके जीवन और काव्य की धमनियों में प्रवाहित होता रहा। उन्होंने ‘नई

कविता’ और अपने युग के साहित्य को नये ढंग से सौन्दर्य बोध तथा यथार्थ बोध के निकष पर परखने की दृष्टि दी। इसके प्रमाण उनकी पुस्तकों ‘नई कविता का आत्मसंघर्ष’ और ‘नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र’ में जगह-जगह बिखरे पड़े हैं। निःसंदेह यह शक्ति और दृष्टि उन्हें मार्क्सवादी विचारों और जीवन के गहरे प्रत्यक्ष अनुभवों से प्राप्त हुई। मुक्तिबोध कविता के समूचे परिवेश को बार-बार मनुष्य की चेतना के किसी ऐसे बिन्दु पर खींच लाते हैं, जहाँ कविता का कोई किरदार स्वयं से ही किसी जबर्दस्त बहस में उतरता जाता है। मुक्तिबोध मानते हैं कि अतीत के द्वंद्वत्मक शक्तियों के संघर्ष में वर्तमान का जन्म होता है और वर्तमान की द्वंद्वत्मक शक्तियों के द्वंद्व से भविष्य का। मुक्तिबोध की कई रचनाओं में इतिहास बोध का आभास मिलता है। मार्क्सवादी चिंतन में इतिहास बोध का बड़ा महत्त्व होता है। इतिहास का विकासशील मिजाज ही मार्क्सवादी इतिहास बोध है। श्रीकांत वर्मा का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है— “किसी और कवि की कविताएँ उनका इतिहास न हो, मुक्तिबोध की कविताएँ अवश्य उनका इतिहास हैं। जो इन कविताओं को समझेंगे वे मुक्तिबोध को समझेंगे। उन्हें मुक्तिबोध को किसी और रूप में समझने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जिंदगी के एक-एक स्थान के तनाव को एक बार जीवन में और दूसरी बार अपनी कविताओं में जीकर मुक्तिबोध ने अपनी स्मृति के लिए सैकड़ों कविताएँ जोड़ी हैं और ये कविताएँ ही उनका जीवन वृत्तांत हैं।” (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 8) इस प्रकार हम देखते हैं कि रचना और कर्म का द्वैत मुक्तिबोध में दिखायी नहीं पड़ता है। उनकी कविता और जिंदगी एक रूप मालूम होती है।

मुक्तिबोध ऐसे कवि थे, जिनका अध्ययन जगत वस्तु व्यापक था जो अपने परिवेश से बहुत गहरे भाव से जुड़े थे। उनकी प्रगतिवादी दृष्टि, परिवेश बोध सामाजिक चिंतन और अनुभव वैविध्य को महत्त्व देती है। उनकी सबसे बड़ी शक्ति लोक परिवेश से गहरी आसक्ति है। उनका विश्वास जनजीवन में है। वे कहते हैं— “मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में/चमकता हीरा है/हर एक छाती में आत्मा अधीरा है/प्रत्येक सुस्मिन्त्व में विकल सदा नीरा है/

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में/महाकाव्य की पीड़ा है/ पल-भर में सबसे गुजरना चाहता हूँ/ इस तरह खुद को ही दिये फिरता हूँ/अजीब जिंदगी है।” मुक्तिबोध के काव्य में मानव की खोई हुई अस्मिता की खोज का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—“*खोजता हूँ पठार/पहाड़/ समुंदर/जहाँ मिल सके मुझे/मेरी खोई हुई/ परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्मसंभवा।*” मुक्तिबोध की कविताओं में यथार्थ के या अतिथार्थ के दर्शन होते हैं। शोषित जीवन का एक अतिथार्थवादी चित्र द्रष्टव्य है—“*आँखों में तैरता है चित्र एक/उसमें संभाले दर्द/गर्भवती नारी का/कि जो पानी भरती है/वजनदार घड़ों से/कपड़ों को धोती है झाड़-झाड़/घर के काम बाहर के काम सब करती है/अपनी सारी थकान के बावजूद।*” मुक्तिबोध मानते हैं कि कोई भी दृष्टिकोण यानी कोई भी साहित्यिकवाद तभी तक ठीक है जब तक वह जीवन से परिपूर्ण है। उन्होंने अनेक स्थलों पर स्पष्ट किया कि कविता का संबंध मूलतः जीवन से है। वे कविता को मानवता के भविष्य निर्माण से जोड़ना जरूरी मानते हैं। कवि कर्म की सफलता वे तभी मानते हैं कि जबकि काव्य-रचना के द्वारा चेतना का निरंतर प्रसार और अभिव्यक्ति का विस्तार हो सके या होता रहे। वे देश के करोड़ों मेहनतकश जनता के संघर्ष में सहभागी होना चाहते हैं। उनकी प्रतिबद्धता देश के करोड़ों दलित पीड़ित जनता के प्रति है।

मुक्तिबोध ने कविता के साथ-साथ काव्य विषय चिंतन और आलोचना पद्धति को विकसित और समृद्ध करने में अपना योगदान दिया है। ‘मुक्तिबोध’ सही और सच्चे अर्थों में मुक्ति+बोध अर्थात् नव युग की पीड़ित, दुःख और दर्द से कराहती मानवता के संघर्ष को मिटाया (मुक्ति) ही नहीं बल्कि इसका बोध भी कराया कि संघर्ष ही जीवन है—समरसता (सुख) का जीवन तो मौत के समान है जिसमें कोई गति नहीं है और जीवन का आनंद नहीं है, किंतु साथ ही साथ यह भी बताया है कि मनुष्य को अपने परिवेश तथा परिस्थितियों से ही उचित रस और ज्ञान खींचकर इस संघर्ष से लड़ने का भी संघर्ष चाहिए। लम्बी कविताओं के रचना-विधान में मुक्तिबोध समकालीन कवियों में बेजोड़ हैं। उनकी लम्बी कविताओं के स्वतंत्र रंग खण्ड है और वे

सब मिलकर संपूर्ण चित्र बनकर प्रस्तुत होती हैं। वे जीवन की सच्चाईयों को पकड़कर चली हैं और अनेक स्वप्न चित्र और द्वन्द्व की स्थितियों का फैण्टेसीगत रूपायन उनमें हैं। मुक्तिबोध-प्रयोगशीलता के स्तर पर अपना जोड़ नहीं रखते तथापि उनकी कविता के भीतर कन्टेन्ट अपने रूप तथा भाषा को सदा तराशता रहा है। तार सप्तक के कवियों में मुक्तिबोध अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी स्थापनाओं एवं मान्यताओं का विविधमुखी प्रभाव बाद भी नयी कविता पर देखा जा सकता है। नंद किशोर नवल का यह कथन मुक्तिबोध के काव्य वैशिष्ट्य को दर्शाता है—“मुक्तिबोध की कविता जिस तरह अज्ञेय की कविता की तरह जड़ऊ नहीं उसी तरह केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की कविता की तरह सरल भी नहीं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि वह प्रायः आकार में लम्बी ही नहीं, प्रकार से जटिल भी है। इस जटिलता का कारण वह गहन वैचारिकता है, जो प्रसाद और निराला के बाद सिर्फ मुक्तिबोध में दिखायी पड़ती है न अज्ञेय में, न किसी अन्य प्रतिष्ठित प्रगतिशील कवि में ही। इस वैचारिकता का आधार मार्क्सवाद है, निश्चय ही किसी संकीर्ण अर्थ में नहीं, जिसे समझे बिना मुक्तिबोध की कविता को समझना मुश्किल है। व्यक्ति की वर्गीय स्थिति, आत्मसंघर्ष का संबंध, जनसंघर्षों में होने वाला व्यक्तित्वांतरण, पूँजीवाद की ह्रासोन्मुखता, श्रमिक वर्ग की क्रांतिकारिता, इतिहास की प्रगतिशीलता, शोषण मुक्त समाज की स्थापना का दृढ़ विश्वास आदि मार्क्सवादी चिंतन के ही विभिन्न पहलू हैं, जो बहुत ही गहन और आत्मीय रूप में मुक्तिबोध की कविताओं में आधार के रूप में मौजूद रहते हैं। उनकी प्रायः सारी की सारी कविताएँ जितनी संवेदनात्मक हैं, उतनी ही ज्ञानात्मक भी। ज्ञान और संवेदना ये दोनों उनमें वाक् और अर्थ की तरह संपृक्त हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की अवधारणा कहीं बाहर से नहीं बल्कि अपनी कविताओं से ही प्राप्त की थी।” (मुक्तिबोध ज्ञान और संवेदना, ले. नंद किशोर नवल, पृ. 435) मुक्तिबोध के सम्पूर्ण काव्य में गत्यात्मकता का वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है। लम्बी कविताओं के रचना विधान में मुक्तिबोध समकालीन कवियों में बेजोड़ हैं। इन पंक्तियों में स्वतंत्र रूप-रंग है।

डॉ. सम्पत ठाकुर ने लिखा है- “मुक्तिबोध की एक बड़ी कविता एक बड़ी विशालकाय पेंटिंग की तरह है, जिसमें अनेक अपने आप में स्वतंत्र रंग खण्ड हैं और वे सब मिलकर सम्पूर्ण चित्र बनकर पेश होते हैं। इस प्रक्रिया में हो यह जाता है कि न तो छोटे रंग खंडों का अपना व्यक्तित्व बचा रह पाता है, न पूरे चित्र का कोई विशिष्ट अभिप्राय पूर्ण स्वरूप ही अंकित हो पाता है।” (मुक्तिबोध पुनर्मूल्यांकन, ले.- डॉ. सम्पत ठाकुर, पृ. 174)

मुक्तिबोध की काव्य भाषा काव्य के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। उनकी भाषा उनके विचारों की तरह स्वतंत्र तथा नैतिकता के गुणों से ओत-प्रोत है। उनकी भाषा पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। अपनी काव्य-यात्रा के समय वे नयी भूमि तलाशने का सफल प्रयास करते हैं। मुक्तिबोध कविता को क्षणिक अनुभव के दायरे से बाहर निकालकर विश्व मानवता के साथ जोड़ते हैं। उसके स्वरूप, उसकी प्रकृति, अन्तर्वस्तु उसकी आवश्यकता, उसकी स्वायत्तता और कवि के साथ उसके संबंध उद्घाटित करते हैं- “*नहीं होती कहीं भी कविता खतम नहीं होती/कि वह आवेग त्वरित काल-यात्री है/...मैं उसका नहीं कर्ता/पिताधाता/कि वह दुहिता नहीं होती/परम स्वाधीन है/वह के विश्व यात्री है/...वह जनचरित्र है।*” (चमक की चिनगारियां) सामान्य जीवन के प्रति सम्पृक्ति कवि को केवल निराशा या आत्मघाती होने से नहीं बचाती बल्कि उसमें उज्ज्वल भविष्य के प्रति दृढ़ विश्वास भी पैदा करती है।

मुक्तिबोध की कविताएँ प्रायः ही लम्बी हैं, ये संश्लिष्ट और जटिल हैं। अशोक वाजपेयी का कहना है “मुक्तिबोध ने प्रायः लम्बी कविताएँ लिखने का जोखिम उठाया। अपने युग के लिए समग्र दृष्टि अपने संपूर्ण विकास में चिंतनपरक

होती है।” इसी को वाजपेयी सोचती-विचारती कविताएँ कहते हैं। मुक्तिबोध की कविताओं का एक निजी व्यक्तित्व है, जिसमें बड़बोलापन नहीं। वे राष्ट्रीय सीमाओं में सीमित रहने वाले कवि नहीं बल्कि वह विश्व-दृष्टि सम्पन्न मानव मुक्ति के कवि हैं। उनकी मुक्ति कामना विश्व बोध से सम्बद्ध है। वे पूरी तरह से प्रतिबद्ध और पक्षधर कवि हैं। मुक्तिबोध की जीवन-प्रक्रिया, रचना-प्रक्रिया तथा अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में असाधारण साम्य है। उनकी कविताओं तथा अन्यान्य रचनाओं में जीवन के विविध प्रसंग समाहित हैं। इस प्रकार उनके काव्य में वर्तमान की शिराओं में बह रहे इतिहास, समाज, संस्कृति तथा राजनीति के सामंती दबावों से अत्यंत शक्ति, ताकत तथा आवेश के साथ मुठभेड़ की ईमानदार कोशिश मुक्तिबोध की कविता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। मुक्तिबोध के काव्य ने काव्यजगत के परम्परागत भ्रमों मोहजालों से मुक्त होकर मनुष्य द्वारा मनुष्य के श्रम के शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर शोषण-विहीन समाज की रचना के संघर्ष में खुलकर हिस्सा लिया है। वे शोषण की कारक शक्तियों का उद्घाटन नहीं करते, वरन् उन पर तीखा प्रहार भी करते हैं। इसका असर मुक्तिबोध के शिल्प पर भी पड़ा है, उनका अक्खड़पन, दो टूकता का एक अलग आकर्षण है। उनके काव्यजगत ने अपने पूर्ण विकास की स्थिति में यथार्थ के प्रति अपनी पूरी निष्ठा के बावजूद विषय वस्तु और काव्य-शिल्प के क्षेत्र में जो नये कीर्तिमान स्थापित किया वे भावी कविता के लिए प्रकाश स्तंभ का कार्य कर रहा है। मुक्तिबोध सार्वकालिक कवि हैं। ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ रहा है, त्यों-त्यों उनकी प्रासंगिकता बढ़ेगी। जरूरत है बड़ी शिद्दत तथा परिश्रम के साथ उनके साहित्य के पुनर्पाठ की, चिंतन तथा मनन की।

संपर्क :

गेट बाजार, (एन. जे. पी.), पो.- भक्तिनगर, सिलीगुड़ी
पिन- 734007 (पं. बंगाल), मो. 9434494430

मुक्तिबोध की कथा भाषा एवं संवेदना

अतुल कुमार तिवारी

मुक्तिबोध (1917-1964) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य के शलाका-पुरुष बन गये हैं। हालांकि आजीवन वह अपनी रचनाओं की भाँति हिन्दी जगत में उपेक्षित रहे, परन्तु चिताग्नि के साथ ही समस्त अंधेरे को नष्ट करते हुए यह काव्य-सूर्य इस तेज के साथ दमक उठा कि उसके आलोक में आने वाली कई पीढ़ियाँ अपने अभिव्यक्ति-पथ को तलाशती-तराशती रहेंगी। मुक्तिबोध का सम्पूर्ण कृतित्व उनकी मृत्योपरांत ही प्रकाशित हो सका। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और 'साहित्यिक की डायरी' (1964) के प्रकाशन में श्रीकांत वर्मा की महत्वपूर्ण भूमिका रही। कहानी संग्रह 'काठ का सपना' (1967) एवं 'सतह से उठता आदमी' (1971) भी प्रकाशित हुआ। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' भी पुस्तकाकार 1961 में सामने आयी जबकि उसका लेखन 1950 के आस-पास ही सम्पन्न हुआ था। सम्पूर्ण मुक्तिबोध-रचनावली 1980 में श्री नेमिचन्द्र जैन जी के सम्पादकत्व में निकली। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध 1935-36 से शुरू करके अपने जीवनान्त तक रूक-रूक कर कहानियाँ गढ़ते रहे। उनके काव्य-प्रताप के चका-चौंध में उनका कहानीकार रूप, दृष्टि से ओझल हो गया। यँ तो उनकी कहानियों पर स्वतंत्र चर्चा लगभग नहीं हुई है और यदि कहीं है भी तो वह उनकी अप्रतिम भाषा-संवेदना से सर्वथा शून्य है। मुक्तिबोध स्वयं कहते हैं- 'कविता कहीं खत्म नहीं होती।' इसीलिए उनकी सारी कविताएँ एक लंबी कविता का अंश लगती हैं परन्तु यह एकतानता सिर्फ उनके काव्य-संसार तक सीमित नहीं है वरन् उसकी व्याप्ति उनकी कहानियों एवं आलोचन-कर्म तक परिलक्षित होती है। इस प्रकार भावना एवं संवेदना की एकता एवं सातत्य मुक्तिबोध के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक कृतित्व में आद्यन्त देखी जा सकती है। वह जैसे थे, वैसे ही दिखते थे। जैसा सोचते थे, वैसा ही बोलते एवं लिखते थे।

मुक्तिबोध की कहानियाँ उनकी कविताओं से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। यह एक समान भाव-संवेदना का मात्र विधागत अन्तर के साथ विस्तार है। इसीलिए 'अंधेरे में' एवं 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' जैसे उभयनिष्ठ शीर्षक से कविता एवं कहानी दोनों मिलती है। स्वयं के इस स्वीकार्य को जब कोई भाव या अनुभव कविता नहीं बन पाता तो वे उसे कहानी बना देते हैं, उसके बाद उनकी कहानियों को 'बाई-प्रोडक्ट' माना जाने लगा। जबकि उनकी काव्य-भाषा एवं संवेदना की समग्र समझ के लिए कथा-भाषा

एवं संवेदना की पृथक एवं सार्थक जानकारी आवश्यक है।

किसी कवि-कथाकार की कहानियों के अनुशीलन के मार्ग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मील-स्तम्भ उसकी कथा-भाषा होती है, क्योंकि वह अपनी कहानियों में भी काव्य-भाषा के निर्माण की तरह की-ही सावधानी बरतता है। प्रसाद की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक कहानियों की क्लिष्ट, तत्समबहुला भाषा एवं अज्ञेय की 'रोज' कहानी की मौन-भाषा के सूत्र उनकी कविताओं में ढूँढ़े जा सकते हैं। दरअसल, भाषा समाज की सम्पत्ति होती है। जिसके गठन में शताब्दियाँ मायने नहीं रखतीं। साहित्यकार इस भाषा में ही अपनी संवेदना को ढालकर अपनी एक नई छाप बनाता है। मुक्तिबोध की कहानियों की भाषा का उनकी संवेदना से बहुत गहरा संबंध है। क्योंकि संवेदना का स्वरूप ही भाषा के स्वरूप को गढ़ता है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में यदि कहें तो "संवेदना का यह स्वरूप यथार्थ की वास्तविकता से बनता है और वास्तविकता का संबंध जीवन की स्थितियों से जुड़ता है और जीवन की स्थितियों का संबंध बनता है पूरी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से।" इस प्रकार मुक्तिबोध केवल भाव-सम्पदा ही नहीं, भाषा चिंतन के माध्यम से भी संस्कृति-समीक्षा कर रहे थे। बड़ा साहित्यकार अपने पात्रों की भाषा में बात करता है। रेणु के पात्रों की बोली उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसलिए 'तीसरी कसम' के गाड़ीवान को नायिका की दंत पंक्ति की कांति बैलों के गर्राँय से लटकती कौड़ियों की तरह लगती है। वहीं दूसरी तरफ मुक्तिबोध चूँकि मध्यवर्गीय जीवन के कथाकार है अतः उनकी भाषा भी मध्यवर्ग की ही है। इसमें आंचलिकता या देशजता ढूँढ़े नहीं मिल सकती।

मुक्तिबोध कविता की भाँति ही हिन्दी कथा-साहित्य को एक नयी भाषा देते हैं। इनकी कथा-भाषा पूर्वगामियों प्रसाद एवं प्रेमचंद से सर्वथा भिन्न है। हिन्दीतर क्षेत्र का होने के कारण अपनी समृद्ध भाषा-सामर्थ्य के बल पर वह हिन्दी भाषा को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करते हैं। चूँकि समाज के प्रति दृष्टिकोण स्थान, काल एवं व्यक्ति सापेक्ष होता है। इनमें किसी एक में परिवर्तन से सामाजिक दृष्टि बदल जाती है। ऐसी स्थिति में भाषा एवं संवेदना के स्वरूप का नव्यतर होना तय है। इसके लिए जिस भाषा

साधना की जरूरत थी, मुक्तिबोध ने वह किया था। भाषा के बारे में परम्परा जड़ता का कार्य करती है, जिसकी ठेकेदारी धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक मठाधीश करते हैं। मुक्तिबोध ने तो साहित्य में वर्जित विषयों को ही अपनी संवेदना का आधार बनाया था। वह प्रतिपक्ष के साहित्यकार हैं। उनकी रचनाओं में जहाँ बनी-बनायी सामाजिक मान्यताओं एवं मर्यादाओं पर हमला है, वहीं आत्मघाती खतरे भी हैं। मुक्तिबोध इसे भली-भाँति जानते थे, तभी कहते हैं-

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे,
तोड़ने होंगे ही गढ़ और मढ़ सब।

मुक्तिबोध मूलतः संवाद के कहानीकार हैं। यह संवाद उनके यहाँ आत्मालाप एवं वार्तालाप दोनों रूपों में है। आत्मालाप का उदाहरण उनकी कहानी 'क्लॉड इथरली' है। यह एक संवेदनशील व्यक्ति का अपने ही द्वारा किये गये कार्यों की विभीषिका के प्रति वेदना, टूटन एवं पश्चाताप का दस्तावेज है। शुभ-अशुभ को लेकर मानव-मन का दुचित्तापन सार्वजनीन है। आत्मालाप वाली कहानियों में कथाकार एवं उसका पात्र एकमेक हो जाते हैं। ऐसे पात्रों की दुश्चिन्ता लेखकीय सरोकार लगने लगते हैं। क्लॉड इथरली नामक मिथ-चरित्र के माध्यम से मुक्तिबोध ने बताया है कि भारत में भी अनगिनत आत्मग्रस्त क्लॉड इथरली हैं। तभी तो कहते हैं, "यहाँ हरेक शहर में एक अमेरिका है।" और जहाँ वार्तालाप है, वहाँ भी बातचीत का दूसरा पक्ष कहानीकार के व्यक्तित्व का ही एक अंश है। कहीं-कहीं इस 'वह' को नाम भी दे दिया गया है उनकी कहानियों का 'मैं' मुक्तिबोध है या नहीं, यह विवाद हो सकता है परन्तु उनके मुक्तिबोधपन को नहीं नकारा जा सकता। चाहे वह 'क्लॉड इथरली' का 'मैं' हो या 'विपात्र' का। यहाँ 'मैं' के द्वारा 'मैं' और 'वह' को तथा 'वह' के द्वारा भी 'मैं' और 'वह' को जानने का प्रयास है। फिर 'मैं' और 'वह' के माध्यम से समूचे समाज का विश्लेषण है। इस प्रकार मुक्तिबोध इतनी सजग एवं सशक्त भाषा के बल पर ही अपने समय के सत्य का साक्षात्कार कर पाते हैं। यहाँ मध्यवर्गीय अन्तर्द्वंद्व को अभिव्यक्ति देने वाली भाषा बड़ी धारदार एवं उपयुक्त है। मुक्तिबोध सर्वत्र शब्दों से मनचाहे अर्थ दूहते हैं। भाषिक क्षमता का वर्धन करते

हुए वह उसकी सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। शमशेर ने एक जगह इसी बात को लक्षित किया है—

माध्यम, मुझे माफ करना

क्योंकि मैं तुम्हीं से होकर तुम्हीं के पार जाना चाहता हूँ।

दरअसल, मुक्तिबोध की कहानियों में भाषा, मानव की बुद्धिमत्ता एवं तर्कशक्ति की पहचान है। उनके समकालीन नये कहानीकार भाषा की चित्रात्मकता, संगीतात्मकता एवं बिम्बात्मकता पर जोर दे रहे थे। जबकि वह एक खरे यथार्थ के लिए खरी भाषा तराश रहे थे। उनके अनुसार, “साहित्य में कल्पना की विधायिनी शक्ति द्वारा जीवन की पुनर्रचना होती है।” इसलिए भाषा का स्वरूप भी 1935-36 से 63-64 तक निखरता गया है। जीवन को देखने की दृष्टि मुक्तिबोध की सर्वथा निजी थी, परन्तु वे भाषिक अभिव्यक्ति के बल पर उसे सार्वजनीन बनाते हैं। इसके लिए वे फैण्टेसी का सहारा लेते हैं। यहाँ हमें द्विवेदीयुगीन तिलिस्मी रचनाओं से फैण्टेसी के विधागत एवं चरित्रगत भिन्नता को ध्यान में रखना चाहिए। फैण्टेसी में स्वप्न या उपचेतन मन का शिथिल योगदान रहता है, जिसके द्वारा तथ्यों को वक्रतापूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति दी जाती है। ‘क्लॉड इथरली’, ‘अंधेरे में’, ‘ब्रह्मराक्षस का शिष्य’, जिन्दगी की कतरन आदि फैण्टेसी शिल्प में लिखी उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। वे अपनी रचनाओं में मनुष्य की इन्द्रियों का सामंजस्य पूर्ण प्रयोग करते हैं। कुछ को आन-ऑफ करते रहते हैं। ‘अंधेरे में’ श्रवणेन्द्रिय, दर्शनेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय क्रमवार जाग्रत होती है। ‘ब्रह्मराक्षस का शिष्य’ कहानी में स्पर्शेन्द्रिय से होकर ज्ञानेन्द्रिय तक पहुँचते हैं। यह पहली मुक्तिबोध के साहित्य में पृथक् पड़ताल का विषय है। दरअसल, फैण्टेसी में मुक्तिबोध अपने समय का महाकाव्य रच रहे थे, यहाँ यही बात गौर-तलब है।

मुक्तिबोध की कहानियों में हिन्दी-भाषा की पवित्रता एवं शुचिता जैसा कोई आग्रह नहीं दिखता। चूँकि कहानियाँ अवधारणात्मक हैं, इसलिए सटीक अभिव्यक्ति के लिए उर्दू, मराठी या अंग्रेजी, हर जगह से शब्द लिये गये हैं। He has never done well. जैसे अंग्रेजी के पूरे-पूरे वाक्य भी प्रयुक्त हुए हैं। फितरत, लफ्फाजी जैसे उर्दू के शब्द एवं इंजेक्शन, जीनियस जैसे अंग्रेजी के शब्द यहाँ धड़ल्ले से मिलते हैं।

मुक्तिबोध की कथा-भाषा में प्रतीकों का खास महत्त्व है। चूँकि मुक्तिबोध प्रतिवाद के संस्कृतिकार हैं। अतः उनके यहाँ परम्परित सौन्दर्य-विधान अपर्याप्त पड़ जाता है। तभी तो उनके चाँद का मुँह टेढ़ा है। ऐसी स्थिति में वे अपनी अभिव्यक्ति के लिए नये एवं निजी बिम्ब तथा प्रतीक गढ़ते हैं। जैसे— अंधेरा, ब्रह्मराक्षस, खण्डहर, तालाब, पागल, वटवृक्ष आदि उनकी कविताओं से लेकर कहानियों तक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय अर्थ समेटे हुए हैं। उनके बिम्ब-प्रतीक क्षणिक अनुभूति के परिणाम नहीं बल्कि उनके निर्माण में रचनाकार का सुदीर्घ अनुभव एवं समस्त ज्ञान सक्रिय रहता है। अवसरवादिता के बल पर निर्धन से धनवान बने एक व्यक्ति का चित्र देखिए— “सुनहरी किरणों से चमक रही खिड़की की सिल पर बैठी हुई चिड़िया को देखता है जो दाने चुग रही है।” इसी प्रकार मुक्तिबोध की कथा भाषा का उत्कृष्टम निदर्श ‘काठ का सपना’ के रति-प्रसंग में भी देख सकते हैं।

सारांशत, हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की कहानियाँ सर्वथा नव्य-रूपधारिणी एवं उनकी सुलगती संवेदना की दस्तावेज हैं। ये केवल भाव-संवेदना ही नहीं, भाषा एवं शिल्प के स्तर पर भी तत्कालीन रचना-जगत में अपना पृथक मंच बनाती हैं।

संपर्क:

समीक्षा अधिकारी, उ. प्र. लोक सेवा आयोग
इलाहाबाद

मुक्तिोध की काव्य-भाषा

डॉ. सुनीता साव

सहायक प्रवक्ता (हिंदी विभाग)

सावित्री गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता

जब एक कवि को अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों की तलाश होती है, तभी भावों और शब्दों की द्वन्द्वात्मक जटिलताओं में कवि की काव्य-भाषा रूपाकर लेती है। एक कवि के लिए यह एक ऐसा क्षण होता है, जहाँ वह स्वयं को भावों और शब्दों के मध्य महसूस करता है, यह क्षण उसके लिए सर्वाधिक लम्बा, सर्वाधिक जटिल और सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। जिस तरह चित्रकार के पास रंग और मूर्तिकार के पास पत्थर होते हैं, कवि के पास भी शब्द होते हैं, लेकिन अन्य कलाकारों और कवि में सबसे बड़ा फर्क यही है कि अन्य कलाओं के उपादान कलाकारों के अपने होते हैं, जिन्हें वह निजी कह सकते हैं, लेकिन कवि के पास शब्द अपने होते हुए भी उसके अपने नहीं होते। वे पूरे समाज के होते हैं। कवि उन शब्दों को उनके मूल स्वरूप में स्वीकार करने के साथ-साथ उनमें नये भावार्थ भी भरता है। यही कवि-कर्म की प्रमुखता है। डॉ. सियाराम तिवारी लिखते हैं- “शब्दों में कवि का सतत संघर्ष चलता रहता है। जो ऐसा नहीं करता, वह मौलिक लेखक नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा प्रयास यदि भयंकर हो तो उसके लेखक अथवा भाषा का कल्याण संदिग्ध भी हो जा सकता है, क्योंकि शब्द कोई निर्जीव पदार्थ नहीं हैं कि वे लेखक का सारा अत्याचार सह लेंगे। मौलिकता के फेर में शब्दों पर अनपेक्षित अर्थ का बोझ लादने का प्रयास अवश्य असफल होगा। शब्द सजीव होते हैं, इसलिए अच्छा कर्म उन्हें शिक्षित और दीर्घायु करता है।”¹

शब्द-संस्कार की इस प्रक्रिया को वैयक्तिक प्रयास सन्दर्भ में नहीं देखा जाना चाहिए। भाषा एक सामाजिक-सांस्कृतिक उपकरण का काम करती है। इस सामाजिक उपकरण को रचनाधर्मिता की समग्रता से अलग करके नहीं देखा जा सकता, क्योंकि इसका स्वयं का निर्माण शेष तत्त्वों के बनने-बिगड़ने के अनुपात में ही होता है। डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं, “इसको बनाने में, बदलने में और विकसित करने में युग की विचारधारा, भाव-चेतना और संवेदना की सक्रिय भूमिका होती है।”²

फ्रांसीसी समीक्षक बुआलो काव्य-भाषा में विविधता पर बल देते हैं- “जड़ भाषा

काव्य का हास करती है, लिखते समय तुक शब्दावली और भाषा में विविधता बनाए रखो। एक ऐसी जड़ शैली जिसमें उतार-चढ़ाव नहीं होता, हमें प्रसन्नता देने की बजाय अब और उकताहट दे देती है।¹³

काव्य-भाषा के विषय में कमलेश का कथन है, “भाषा हमेशा दो आयामों में एक साथ प्रवाहित होती है। उसकी एक प्रवृत्ति बाह्य-जगत की ओर प्रसरण की है जिस जगत् में उसके निश्चित सन्दर्भ हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रवृत्ति संघटन पाने की है जो उसे वाक्य में या कविता की अन्विति में मिलती है।¹⁴

इस तरह काव्य-भाषा अपने अभिधार्थ से अलग अर्थ-भावों की अभिव्यक्ति के कारण दुरुह व सामान्य भाषा से हटकर होती है। कविता कितनी भी सरल क्यों न हो, लेकिन उसमें सहज भाव से निकलने वाले अर्थ से अलग अर्थ उभरता है। काव्य-भाषा भाषा-सापेक्ष, युगानुरूप प्रतीकात्मक और अर्थाधारित होती है तथा इसमें शब्दों का प्रयोग बिम्ब, मुहावरें, प्रतीक आदि में विशिष्ट अनुभूतियों के विशिष्ट अर्थ के लिए होता है, जिसमें युग-दृष्टि और व्यक्ति-संदर्भ की मिली-जुली अभिव्यक्ति होती है। अतः काव्य-भाषा की सार्थकता इसी में निहित होती है कि वह जीवितानुभवों को व्यक्ति से व्यक्ति के बीच कितनी सक्षमता से ले जाती है।

जहाँ तक मुक्तिबोध की काव्य-भाषा का सवाल है, इस संबंध में उन्होंने स्वयं कहा है- “वह (काव्य-भाषा) किताबों को पढ़कर नहीं गढ़ी जा सकती, वह वस्तु-तत्त्व के साथ-साथ अन्तःकरण से ही उद्भूत होती है और वह तभी सार्थक और सफल मानी जा सकती है, जब वह अपने अन्तःकरण को पूरी बिम्बात्मक क्षमता के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम हो, ऐसी भाषा अनायास नहीं आ सकती, उसके लिए भी लेखक को मेहनत करनी होगी, सदा सजग रहना होगा।” मुक्तिबोध की भाषा-संबंधी यह सजगता उनके सम्पूर्ण काव्य-जगत् में कदम-कदम पर देखी जा सकती है। उनकी भाषा उनके सुविचारित दृष्टिकोण में कलात्मक ढंग से ढली हुई है और हर जगह अपना असाधारण व्यक्तित्व लिए हुए हैं।

मुक्तिबोध ने परम्परागत काव्य-सौन्दर्य के प्रतिकूल

नए सौन्दर्य-प्रतिमान स्थापित करने के लिए नयी भाषा का चयन किया। नयी भाषा का चयन आधुनिक परिवेश के विश्रृंखल सामाजिक ढाँचे में वर्तमान व्यवस्था की दोहरी नीतियों, वर्ग-विभाजित समाज के उलझावपूर्ण यथार्थ की अनिवार्यता बनकर उभरा है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने स्पष्ट किया है- “प्रजातंत्र, साक्षरता और संचार के इस युग में भाषा का इस्तेमाल वैसा नहीं हो सकता, जैसा कि व्यास, कालिदास, शेक्सपियर या तुलसीदास के जमाने में होता था। भाषा के अब इतने अधिक बहुविध प्रयोग हो गए हैं कि रचनाकार को बार-बार कविता से भाषा का संस्कार करना होता है और भाषा से कविता का।¹⁵ मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में मौलिकता, परम्परा से अलग स्वरूप, स्वतंत्र विचारधारा युक्त एवं जीवन-संघर्षों की छवियाँ प्रतिपादित हुई हैं। नरेन्द्र सिंह ने मुक्तिबोध की भाषा के विषय में लिखा है, “वे भाषा के सामने झुकने की जगह उसमें परिष्कार करने में विश्वास करते हैं।¹⁶

मुक्तिबोध की सौन्दर्याभिरुचि में काव्य के नए प्रतिमान जन की गहन सम्पृक्तता और सहज अनुभूति पर आधारित युगानुरूप मानव-मूल्यों के पक्षधर रहे हैं। यथास्थिति की स्पष्ट अभिव्यक्ति में शब्दों का भ्रमजाल न फैलाकर मुक्तिबोध सीधी स्पष्ट अभिव्यक्ति कर परम्परागत काव्य-सौन्दर्य के प्रतिमानों के प्रति अपना सशक्त विरोध दर्शाते हैं :-

“बदरंग यथार्थ/ विद्रूप अर्थ/ आ छाती में जाग तू भी सही है/ पिता ने पाला/ पर तूने पोसा है, तुझी को पाया है/ जहरीली नीली इस स्याही से/ चेहरा यह धोया है/ पूर्णता के स्वप्न की विशालतम मिथ्या ने/ अपूर्ण को, फटे को, जीर्ण को/ अपमानित भी खूब किया है कि/ भयंकर उभरा है।¹⁷

मुक्तिबोध ने जिस भाषा के द्वारा ‘अंधेरे में’ शीर्षक कविता की फैंटास्टिक दुनिया का निर्माण किया है, वह अपनी शक्ति और सौन्दर्य में बेजोड़ है। कुछ विद्वानों ने इस भाषा को ‘अनगढ़’ कहकर इसका महत्त्व कम करना चाहा है। ये वही विद्वान हैं, जो नई कविता की ‘जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि’ के शिकार हैं। वे इस कविता में भी नई कविता के सुगढ़ शब्द और नकली मुहावरे ढूँढ़ते हैं और निराश होते हैं। वे यह नहीं देखते हैं कि ‘अंधेरे में’ की भयावह और शक्तिशाली एवं सुन्दर दुनिया का निर्माण नई

कविता की भाषा में संभव न था। स्वभावतः यह कविता भाषा की पूर्व प्रचलित प्रणाली को तोड़कर एक ऐसी भाषा में रची गई है, जो जितनी ही 'अकाव्यात्मक' है, उतनी ही काव्यात्मक भी। इसमें भाषा के अनेक स्तर प्रकट हुए हैं और सभी स्तर एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए इस कविता को ऐसे तेज और लावण्य से भर देते हैं, जैसा तेज और लावण्य आधुनिक काल में 'राम की शक्तिपूजा' के पहले किसी कविता में न दिखलाई पड़ा था।

'अंधेरे में' प्रयुक्त भाषा का एक रूप वह है, जिसमें संस्कृत शब्दों के बेछूट प्रयोग के द्वारा ओजस्वी दृश्यांकन किया गया है। इस रूप का उदाहरण है :- "तेजो प्रभावमय उसका ललाट देख/ मेरे अंग-अंग में अजीब एक थर-थर/ गौरवर्ण, दीप्त-दृग, सौम्य मुख/ संभावित स्नेह-सा प्रिय रूप देखकर/ विलक्षण शंका/ भव्य अजानुभुज देखते ही साक्षात्/ गहन एक सन्देह।"⁸

'अंधेरे में' में एक सरल भाषा का वह रूप है, जिसे डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में 'लक्कड़ तोड़ भाषा' कहा जा सकता है। वैसी भाषा का नमूना है :-

"लोकहित-पिता को घर से निकाल दिया
जन-मन करुणा-सी माँ को हकाल दिया
स्वार्थ के टेरियर कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्तव्य... त्याग दिये,
हृदय के मंतव्य... मार डाले!
बुद्धि का भाल ही फोड़ दिया
तर्कों के हाथ उखाड़ दिये,
जम गये, जाम हुए, फँस गए,
अपने ही कीचड़ में धँस गए!!
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में
आदर्श खा गए।"⁹

जाहिर है कि यह भाषा नई कविता की भाषागत सुरुचि पर आघात करने वाली है। लेकिन हमारा ध्यान इस भाषा की शक्ति पर जाना चाहिए। वही भाषागत सौन्दर्य का असली स्रोत है।

मुक्तिबोध परम्परागत भाषा को मथकर उसके गर्भ से मूल्यवान सुन्दर बिम्ब पाना चाहते हैं। उदाहरण के लिए- "ठण्डी नीली झील" बँधी-बँधाई काव्यात्मक भाषा है,

उसमें खिलनेवाला 'अरूण कमल' नव स्फूर्त काव्य-बिम्ब।"¹⁰ मुक्तिबोध ऐसे ताजे बिम्बों का प्रयोग करते हैं, जो पाठक की रागात्मक सामर्थ्य को उत्थित कर सके। मुक्तिबोध की बिम्ब-योजना में नए तथ्यों को आकार मिला तथा प्रकृति के सन्निकर्ष से हटकर नवीन पद्धति पर बिम्ब निर्माण हुआ। जनक्रांति के लिए सार्थक बिम्ब है- "मकानों की छत से/ गाडर कूद पड़े धम्म से/ घूम रहे खंभे/ भयानक वेग से चल पड़े हवा में।"¹¹

विरोधाभास मुक्तिबोध की काव्य-भाषा में बिम्ब द्वारा स्थितियों की सार्थक अभिव्यक्ति का प्रयोजन सिद्ध करता है, जिसमें जनसामान्य की यथार्थोक्तांत बिम्ब-रूपों में अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए-

1. "हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा/ प्रकट होकर विकट हो जाएगा।"¹²

2. "नगर का अर्भूत-सा तिलिस्मी आभा-लोक/यथार्थ की भित्ति पर।"¹³

मुक्तिबोध की काव्य-भाषा मूल रूप से फैंटेसी शैली पर निर्धारित है। लल्लन राय ने इस संबंध में लिखा है, "मुक्तिबोध ने फैंटेसी के भाववादी शिल्प के माध्यम से अपनी यथार्थवादी दृष्टि को व्यक्त करने का प्रयत्न किया।"¹⁴ 'फैंटेसी' के संबंध में मुक्तिबोध की स्वयं की मान्यता है कि, "फैंटेसी एक झीना पर्दा है, जिसमें तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं। ... फैंटेसी में तथ्यों का उद्घाटन अत्यंत गौण और विचारपूर्ण होता है। किन्तु उन तथ्यों के प्रति की गई क्रिया-प्रतिक्रिया प्रमुख होती है।"¹⁵ 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' शीर्षक कविता में सामूहिक स्वप्नों को क्रांतिकारी आह्वान द्वारा फैंटेसी कृत शैली में उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिए- "अँधेरे के पेट में से/ ज्वालाओं की आँत बाहर निकल आए/ वैसे अरे शब्दों की धार एक/ बिजली के टार्च की/ रोशनी की मार एक/ बरगद के खुरदरे अजगरी तने पर/ फैल गई अक्समात।" वास्तव में मुक्तिबोध का फैंटेसी शिल्प तत्कालीन जनविरोधी काव्य-प्रवृत्तियों के विरोध में जनवादी चेतनायुक्त काव्य-भाषा के लिए युगीन अनिवार्यता बनकर प्रतिष्ठित हुआ है।

मुक्तिबोध ने उलझावपूर्ण परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए नए 'प्रतीकों' की खोज की है। वे प्रतीक की सामाजिक

पृष्ठभूमि पर अधिक जोर देते हैं। प्रतीक-विभिन्नता में कवि की काव्य-दृष्टि का महत्त्व रहता है। यद्यपि 'तारसप्तक' के कवियों की प्रतीक-योजना काफी समृद्ध और मौलिक रही है, लेकिन दृष्टि-भिन्नता के कारण इनकी अलग पहचान द्रष्टव्य है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने मुक्तिबोध के प्रतीक-विधान के 'तारसप्तक' के कवियों की उत्कृष्ट अपेक्षा माना है। उनका मत है- "रामविलास शर्मा के प्रतीक परम्परागत और प्रकृति से लिए गए हैं। भारतभूषण अग्रवाल ने सामान्य प्रतीक लिए एवं अपने काव्य में तुकबंदी पर ध्यान दिया। मुक्तिबोध की काव्य-भाषा भावानुकूल बदलती है, उसे दुर्बोध नहीं कह सकते। भारत भूषण यदि यथास्थिति का आतुर बटोही के माध्यम से चित्र खींचते हैं तो मुक्तिबोध ईश्वर को ललकारने की क्षमता से। मुक्तिबोध का अन्तर्गुहावासी, अज्ञेय के अन्तर्गुहावासी की तरह निष्क्रिय एकांत भोगनेवाला चेतन न होकर वक्ष पर घाव लिए क्रांति-खोज में निकला चेतन का प्रतीक है।"¹⁶ मुक्तिबोध के प्रतीक अत्यंत मौलिक और चमत्कार पैदा कर काव्य में विशिष्ट स्थान बनाते हैं। उदाहरणार्थ- "स्वार्थों ने अब खूब खींच कर गुलेल मारी दूर से/ मार डाले नीलकण्ठ-दल/ पावन-संकल्पों के कोकिल/ मूर्छित होकर गिरे डाल से।"¹⁷ इस प्रकार मुक्तिबोध के प्रतीक बिम्बों की फैंटेसियाँ निर्मित करके अंततः मौलिक रूप में प्रतीकों में परिवर्तित होते रहे हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध की भाषा बहुआयामी एवं सजीव भाषा है, जिसमें समसामयिकता, जनमानसिकता की पहचान, विश्व-दृष्टि, आधुनिकता, वैज्ञानिक तर्कशीलता है। उनके काव्य में शब्द-चयन भाव-लय के अनुकूल है। इसमें देशी-विदेशी, तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। उनकी काव्य-भाषा के विषय में हुकुमचंद राजपाल ने लिखा है- "वह कभी संस्कृतनिष्ठ सामाजिक शब्दावली से अलंकृत वीथिका से गुजरना चाहती है, कभी फारसी, अरबी एवं उर्दू के लचीले हाथों को थामकर चलती है, कभी अंग्रेजी के विद्युतयान में आसीन होकर खटाक से गमन कर जाती है तथा कभी जन-समूह के शोरगुल और धक्के-मुक्के के बीच एक-एक पर तीव्र दृष्टि डालती हुई रुक-रुक कर चलती है।"¹⁸ मुक्तिबोध

वास्तव में काव्य-शिल्प के विषय में चिंतित न होकर भाषा के विस्तार के लिए क्रियाशील रहे। परमानंद श्रीवास्तव का मत है- "...भाषा मुक्तिबोध की चिंता है, शिल्प उतनी बड़ी चिंता नहीं। भाषा को बहुआयामी छवियाँ देने के प्रयास में मुक्तिबोध की दिलचस्पी नहीं रही है पर भाषा का वस्तुमय परिप्रेक्ष्य, भाषा का विस्तार उनका प्रमुख सरोकार जरूर जान पड़ता है।"¹⁹

मुक्तिबोध शब्दों को स्वयं गढ़ते हैं, जैसे उपसर्ग, प्रत्यय जोड़कर गढ़े गये शब्द, 'अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे चल रहे हैं प्राण' या संज्ञा से विशेषण निर्माण 'किरनीली मूर्तियाँ।' विशिष्ट प्रतीकों द्वारा भी वे भाषा-निर्माण में योगदान देते हैं यथा 'मकानों की पीठ पर', 'बरगद की अजगरी डालें', 'हड़ताली पोस्टर', 'वेदना के रक्त', आदि नवीन भाषा प्रयोग हैं।

यह सत्य है कि एक ही तरह की शब्दावली और एक ही तरह के बिम्ब, प्रतीकों का मुक्तिबोध ने एकाधिक बार इस्तेमाल किया है, लेकिन ऐसा होना कथ्य के आंतरिक जोर के कारण होता है। उनकी कविता की भाषा यह तथाकथित सीमा दरअसल उनकी शक्ति है। नेमिचंद्र जैन को लिखे एक पत्र में मुक्तिबोध ने कहा था- "मेरा ख्याल है कि मेरी भाषा सुंदर न भी हो सके, वह सशक्त होकर रहेगी, क्योंकि उसके पीछे अंदर का जोर रहेगा। बताइए क्या मेरा सोचना गलत है?"²⁰ मुक्तिबोध को लगातार यह महसूस होता था कि जिस यथार्थ को वह प्रस्तुत करना चाहते हैं, समग्रता में प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए वे अपनी कविताओं पर बार-बार काम करते थे। नेमिचंद्र जैन के उसी पत्र में उन्होंने लिखा है- "आप विश्वास नहीं करेंगे, एक कविता को दुरुस्त करने के लिए छह घंटे लगते हैं। मैंने कई सुधार भी दी हैं। कई तो सुधारने की प्रक्रिया में परिवर्तित हो गई हैं। पता नहीं कब तक मैं कविताओं को यों सुधारता बैटूँगा।"²¹

बार-बार सुधारने की प्रवृत्ति के मूल में उनकी यह कामना सक्रिय रहती थी कि कथ्य अपनी समग्रता में प्रस्तुत हो सके। सारांश यही है कि मुक्तिबोध की भाषा यथार्थ को समग्रता में लेकर चली, जिससे सामान्य रूप में भाषा का विकास करती हुई अपनी निजी काव्य-भाषा में परिपक्वता

और परिमार्जन निरंतर करती रही। कवि की काव्य-भाषा की निजी पहचान उसके शब्द-चयन क्षमता पर होती है। यहीं से कवि की विशिष्ट शैली निर्मित होती है। मुक्तिबोध के शब्दों की खोज मौलिक काव्य-शिल्प की रचना के प्रयास में लगी है। उनके काव्य में अनुभूत तथ्यों की यथार्थ अभिव्यक्ति सामाजिक स्तरों पर हुई। इन्हीं अनुभूत सच्चाइयों से भाषा के मूलभूत आधार को आत्मसात करती मुक्तिबोध की कविता अपने कवि-कर्म के प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व का वहन करती है। इस प्रकार मुक्तिबोध के काव्य में भाषा जीवन की व्यापक पहचान, सूक्ष्म अनुभूति के कारण विविध विचाधाराओं सिद्धांतों, सूक्ष्म दृष्टि युक्त संदर्भों की व्यापक पहचान बनी।

संदर्भ :

1. डॉ. सियाराम तिवारी, काव्य भाषा, पृ. 52
2. डॉ. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ. 470
3. नरेन्द्र सिंह, साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 270
4. गोविन्द द्विवेदी, नयी कविता में बिम्ब का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य, पृ. 88
5. रामस्वरूप चतुर्वेदी, नयी कविताएँ: एक साक्ष्य, पृ. 50

6. नरेन्द्र सिंह, साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, पृ. 261
7. ग. मा. मुक्तिबोध, भूरी-भूरी खाक धूल, पृ. 23
8. ग. मा. मुक्तिबोध, अंधेरे में
9. उपरोक्त
10. जगदीश कुमार, मुक्तिबोध: संकल्पात्मक कविता
11. रविनाथ सिंह, नई कविता की भाषा, पृ. 253
12. ग. मा. मुक्तिबोध, भूल गलती, पृ. 51
13. ग. मा. मुक्तिबोध, मुझे याद आते हैं, पृ. 82
14. लल्लन राय, मुक्तिबोध का साहित्य-विवेक और उनकी कविता, पृ. 103
15. ग. मा. मुक्तिबोध, कामायनी: एक पुनर्विचार, पृ. 07
16. विश्वनाथ त्रिपाठी, संघर्ष पुरुष की स्वप्न-कथा (लेख), पृ. 98
17. ग. मा. मुक्तिबोध, भूरी-भूरी खाक धूल, पृ. 176
18. हुकुमचंद राजपाल, मुक्तिबोध की काव्य-चेतना और मूल्य-संकल्प, पृ. 151
19. परमानंद श्रीवास्तव, नयी कविता का परिप्रेक्ष्य, पृ. 26
20. मुक्तिबोध रचनावली-6, पृ. 221
21. मुक्तिबोध रचनावली-6, पृ. 220

संपर्क : 09831121259

कथा शिल्पी मुक्तिबोध

डॉ. पुनीत कुमार राय

असि. प्रोफेसर,

शासकीय महिला विद्यालय,

शंकरगढ़, बलरामपुर छत्तीसगढ़

गजानन माधव मुक्तिबोध (1917-64) स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के सबसे गूढ़, अर्थवान और प्रासंगिक रचनाकार हैं। उनकी रचनात्मक सक्रियता बहुआयामी और संश्लिष्ट रही है। एक ही रचनाकार में ज्ञान और संवेदना, चिंतन और सृजन, गद्य और पद्य का ऐसा विलक्षण योग कम ही दिखता है। मुक्तिबोध के संबंध में एक बात और गौर करने लायक है कि जो संवेदना, विचार, प्रतिबद्धता, मूल्य उनके साहित्य में है वही उनके जीवन में भी है। जीवन और सृजन की यह एकरूपता साहित्य जगत में एक दुर्लभ चीज है। वह समझौता परस्त, तिकड़मी, पद-प्रतिष्ठा-पुरस्कार लोभी रचनाकार नहीं रहे हैं, सच्चे अर्थों में वह एक 'एक्टविस्ट राइटर' थे। गर्वीली गरीबी के जीवन को जीते हुए उन्होंने अपने समय और समाज की तीखी सच्चाईयों को सिर्फ बेबाकी से कहा ही नहीं, आजीवन प्रतिपक्ष में रहने का जोखिम भी उठाया। समाज, सभ्यता, संस्कृति इतिहास से जुड़ी गंभीर चिंताओं, बृहद सरोकारों और तीखे आत्मसंघर्ष तथा ईमानदार आत्मालोचन से ऊपजी मुक्तिबोध की रचनाएँ अंतर्विरोध, विसंगति, विद्रूपता से भरे अन्तर्जगत और बाह्यजगत की सामान्य तौर पर न दिखने वाली भयावह सच्चाईयों को उजागर करते हुए यथास्थिति से मुक्त होने की बेचैनी-छटपटाहट के साथ उदात्त मानवता के 'अरुण कमल' का सतत् अन्वेषण करती हैं। उनके यहाँ कबीर के 'लिए लुकाठी हाथ' की तर्ज पर 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाने का आह्वान है तो 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया' का धिक्कार भी है। वह धिक्कारते हुए आह्वान करने वाले रचनाकार हैं। मनुष्य समाज के अँधेरे कमरों, सीलन भरे बंद तहखानों, निर्जन मैदानों, ऊबड़-खाबड़ पठारों, बेतरतीब टीलों, सूनी बावड़ियों, खंडहरों, सूनी गलियों, भीड़ भरी सड़कों से गुजरते हुए वह सभ्यता-समीक्षा करने वाला साहित्य रचते हैं, उन शक्तियों और प्रवृत्तियों को हमारे सामने लाते हैं जो सदियों से मनुष्यता को संकटग्रस्त किए जा रही हैं। धर्म, संस्कृति, परम्परा, राष्ट्र, लोकतंत्र की ओट में चल रहे छलों, छद्मों, षड्यंत्रों की शिनाख्त करने वाली उनके पास पैनी निगाह है, अपनी पक्षधरता तय करने का विवेक है, प्रतिरोध करने का साहस है। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और फासीवाद के विरुद्ध जितना तीखा स्वर उनके

यहाँ मिलता है, मध्यवर्ग के अन्तर्विरोधों की जितनी खरी पहचान उनके पास है, उतना किसी अन्य रचनाकार के यहाँ नहीं है। संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के माध्यम से वह यथार्थ के इतने स्तरों, आयामों और कोणों को हमारे सामने लाते हैं कि यथार्थ फंतासी लगने लगता है। उनकी रचनाओं में यथार्थ फंतासी में है, या यूँ भी कह सकते हैं कि उनकी फंतासी में यथार्थ है। फंतासी का इतना समर्थ उपयोग करने वाला कोई दूसरा रचनाकार नहीं है।

एक रचनाकार के रूप में जितनी चर्चा, जितना विश्लेषण-मूल्यांकन मुक्तिबोध के कवि और आलोचक-चिंतक रूप का हुआ, उतना उनके कथाकार रूप का नहीं। प्रायः उनकी कहानियाँ अनदेखी और अचर्चित रही हैं। मुक्तिबोध के समग्र मूल्यांकन के लिए उनकी कहानियों की पड़ताल जरूरी है। उनकी कहानियाँ उनकी काव्य-संवेदना और सभ्यता-समाज विषयक उनके चिंतन की ही विस्तार हैं। उनकी सभ्यता-समीक्षा उनकी कहानियों से और भी पुष्ट होती है। मुक्तिबोध की कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित हुए- 'काठ का सपना' (1967) और 'सतह से उठता हुआ आदमी' (1971)। नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित 'मुक्तिबोध रचनावली'-खंड तीन में उनकी सभी पूर्ण-अपूर्ण, प्रकाशित-अप्रकाशित कहानियाँ संकलित हैं, जिनकी संख्या 47 है। ये कहानियाँ 1935 से लेकर 1963-64 के मध्य लिखी गयी हैं। 'जिंदगी की कतरन', 'नयी जिंदगी', 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य', 'पक्षी और दीमक', 'क्लॉड ईथरली', 'जलना', 'काठ का सपना', 'सतह से उठता आदमी', 'जंक्शन', 'विपात्र'- उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। मुक्तिबोध की कहानियाँ प्रायः मध्यवर्गीय जीवन-परिवेश की जटिलताओं-अंतर्विरोधों पर आधारित हैं। मध्यवर्गीय जीवन के अभाव, अवसाद, अतृप्ति, आकांक्षा, उलझन, ऊहापोह, आडम्बर, विचलन, विवशता, व्यर्थताबोध, उकताहट, जकड़बंदी, आत्मदमन, कुंठा, दकियानूसी, संशय, असंतोष, दबाव, छटपटाहट इत्यादि के चित्रण के साथ ही उनके आत्म-संघर्ष को भी कहानियों में सहज रूप से देखा जा सकता है। मुक्तिबोध ने अपनी जिंदगी को 'तंग गलियों में चक्कर लगाने वाली जिंदगी' कहा है, उनकी कहानियों में जिस मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण है वह इसी तरह का है।

मुक्तिबोध की कहानियों के विषय-वस्तु पर विचार करते हुए श्रीकांत वर्मा बिल्कुल ठीक लिखते हैं- 'मुक्तिबोध की कहानियों की प्रेरणा कहानी का कोई आंदोलन नहीं था। हर रचना, उनके लिए एक भयानक, शब्दहीन अंधकार को- जो आज भी भारतीय जीवन के चारों ओर चीन की दीवार की तरह खिंचा हुआ है- लांघने की एक और कोशिश थी।... सारा इतिहास मुक्तिबोध के लिए एक चुनौती था। मध्यवर्ग इस इतिहास की एक गुथी है, जिसे मुक्तिबोध समझना, सुलझाना चाहते थे...' (मुक्तिबोध रचनावली-खंड-3, फ्लैप से)।

'जिंदगी की कतरन' कहानी कथावाचक और मित्र के मध्य आत्महत्या विषयक वार्तालाप पर आधारित है जिसमें बेरोजगारी, अकेलेपन से जूझते, अर्थवत्ता-संपूर्णता की तलाश में दिनोंदिन व्यर्थताबोध- खालीपन से घिरते जाते तिवारी और अभावग्रस्त बचपन से गुजरी, असमय विधवा हो चुकी, संयुक्त परिवार में खटती, जड़ीभूत जीवन जीती निर्मला के संबंधों और आत्महत्या के रूप में उन संबंधों के त्रासद अंत का स्मरण है। पूरी कहानी मध्यवर्गीय जीवन के अभाव, अड़चन एवं जकड़नजन्य अवसाद से आप्लावित है। मध्यवर्गीय जीवन की आकांक्षाएँ और असमर्थताएँ- अवरोध भीतर से इतनी नीरसता और निःसंगता भरती जाती हैं कि तिवारी और निर्मला को आत्महत्या करनी पड़ती है। मध्यवर्गीय जीवन का अवसाद ही कहानी का केंद्रीय कथ्य है। इस अवसाद का प्रसार सिर्फ तिवारी और निर्मला के जीवन, कथावाचक और मित्र के वार्तालाप में ही नहीं, कथाकार द्वारा चित्रित वातावरण में भी है। कथ्य और शिल्प की यह एकतानता कहानी के प्रभाव को और भी सघन कर जाती है- 'सियाह तालाब के उस पार से ठंडी हवा बहने लगी। रात की गंभीर मुद्रा अपरिवर्तित थी। उसका गहरा विस्तृत मौन कान में कुछ बोलता हुआ-सा लगता था। दूर, सामने की सड़क के कोने पर नीली रोशनी वाला होटल अभी तक खुला हुआ था। सड़क पर इक्के दुक्के आदमी आते-जाते दिखायी दे रहे थे।' (मुक्तिबोध रचनावली-3, जिंदगी की कतरन, पृ. 75)

'नयी जिंदगी' में मध्यवर्गीय, बुद्धिजीवी के जीवन की अभावग्रस्तता और पारिवारिक जिम्मेदारियों की पूर्ति के

लिए अपने सिद्धांतों के विरुद्ध जाने की उसकी विवशता का चित्रण है। कहानी का केंद्रीय पात्र रमेश एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी है। उसके पास विचार है, देश-दुनिया की समझ है, शब्द है किंतु घर-गृहस्थी के दायित्वों के निर्वाह के लिए उसके पास अर्थ नहीं है। दायित्वों और अभाव से उसका जीवन तनावपूर्ण हो गया है। फलतः उसका चिंतन सृजन अवरुद्ध हो जाता है। जब वह सिद्धांतविहीन होकर समझौता परस्त हो जाता है, तब उसकी एक नयी जिंदगी की शुरुआत होती है- सुख सुविधाओं से भरी जिंदगी। लेकिन उसके अंदर अब पहले वाला आत्मविश्वास और तेवर नहीं रहता है। दरअसल मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी स्वभावतः सुविधालोलुप और अवसरवादी होता है, सिद्धांतों के लिए संघर्ष करने का साहस उसमें नहीं रहता है, जल्द ही वह विचलन, स्खलन का शिकार हो जाता है।

‘ब्रह्मराक्षस का शिष्य’ कथा रस से भरपूर एक रोचक कहानी है। कहानी में आया ब्रह्मराक्षस अपने मानव जीवन में तप और अध्यवसाय से समस्त विद्याओं का ज्ञाता हो जाता है, किंतु योग्य शिष्य न मिल पाने के कारण वह अपना ज्ञान किसी को दे नहीं पाता है। फलतः उसकी आत्मा ब्रह्मराक्षस के रूप में संसार में अटकी रह जाती है। उसे मुक्ति तब मिलती है जब उसे एक योग्य शिष्य मिलता है जो पूरे 12 साल एक पुराने सूने भवन में घर-परिवार समाज से असम्पृक्त रहते हुए कठोर श्रम और संपूर्ण मनोयोग से उससे ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान बाँटने में ही मुक्ति है- यही कहानी का मूल कथ्य है। यदि ज्ञान को बाँटा न जाए तो वह संचयित होकर बोझ बन जाता है और बद्ध करता है। पूरी कहानी एक नीति कथा की तरह है।

‘पक्षी और दीमक’ में कथावाचक श्यामला नामक युवती के प्रति पूरी गहराई से आकृष्ट है। वह अपने मनोभावों को कभी स्पष्ट रूप से कह नहीं पाता है, फलतः एक अन्तर्द्वन्द्व और तनाव में झूलता रहता है। दरअसल दोनों दो भिन्न जीवनदृष्टियों, प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कथावाचक एक ठिगने कद के भगवे खद्वर कुरते वाले भ्रष्ट व्यक्ति (जो एक संस्था का संचालक है) का विश्वसनीय और सहयोगी है। कथावाचक भ्रष्टता का विरोध करने का जोखिम न लेने और सुविधा पाते जाने की

मध्यवर्गीय मानसिकता से ग्रस्त है। यह बात श्यामला को भीतर ही भीतर खटकती है, इसी वजह से दोनों के संबंध साहचर्य के बावजूद अस्पष्ट, अनिर्णित रहते हैं। श्यामला कथावाचक को भ्रष्टाचारियों के सहयोगी के रूप में नहीं उनके विरोधी रूप में देखना चाहती है। कथावाचक अपनी लालसा और लाचारी को ‘पक्षी और दीमक’ की कथा के माध्यम से प्रकट करता है। अपने प्रिय को पाने के लिए अंत में वह भ्रष्ट तौर तरीकों को छोड़कर ईमानदारी और परिश्रम से जीविकोपार्जन करने का निर्णय लेता है। कहानी में प्रेम प्रतिरोध के लिए एक प्रेरक की भूमिका में है।

फंतासी शिल्प में रची गयी ‘क्लॉड ईथरली’ जघन्य पाप से मुक्ति के लिए प्रायश्चित्त करते क्लॉड ईथरली (हिरोशिमा पर अणु बम गिराने वाले जहाज का पायलट) के आत्मा की छटपटाहट की कहानी है दरअसल यह कहानी भयंकर मानवीय विभीषिका को जन्म देने वाले परमाणु हथियारों के विरोध की कहानी है। ‘जलना’ में अभावग्रस्त मध्यवर्गीय परिवार के पति-पत्नी के रोजमर्रा के जीवन में आने वाले तनाव-लगाव के संदर्भों-क्षणों एवं घरेलू जीवन की एकरसता के कारण स्त्री-मन में घर करते घुटन-व्यर्थता बोध का चित्रण है। ‘काठ का सपना’ भी पति-पत्नी के संबंधों पर आधारित है। काठ के समान शुष्क, रसहीन हो चुके पति-पत्नी के जीवन में उनकी बेटी ही कोमलता-सरसता का सबसे बड़ा स्रोत है।

‘सतह से उठता आदमी’ में विपन्न कृष्ण स्वरूप की आर्थिक स्थिति बेहतर होने पर उसके सोच-विचार, दृष्टिकोण, प्रवृत्ति में होने वाले परिवर्तन और आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने के बावजूद मध्यवर्गीय हीनता और दबूपन के भाव से मुक्त न हो पाने के कारण कृष्ण स्वरूप की तनाव ग्रस्तता को दिखलाया गया है। ‘जंकशन’ कहानी में विशिष्ट दिखने-दिखाने एवं जरूरतमंद की आर्थिक स्थिति, पहनावा-ओढ़ावा देखकर मदद करने की मध्यवर्गीय आर्थिक मानसिकता का चित्रण है। कथा नायक जाड़े की एक सर्द रात में जंकशन पर ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहा है। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, सफर के लिए उसने अपने मित्र से ओवरकोट और गर्म बिस्तर उधार माँग रखा है। जंकशन पर बैठे-सोये अधिकांश मुसाफिर निम्नवर्गीय हैं

जो पर्याप्त कपड़ों के अभाव के कारण ठिठुर रहे हैं, सिकुड़े हुए हैं। एकमात्र कथा नायक के पास ही ओवरकोट है। ओवरकोट पहना हुआ कथा नायक अन्य लोगों से अपने को विशिष्ट महसूस करने लगता है और एक आत्म विश्वास एवं बड़प्पनबोध के साथ प्लेटफॉर्म पर चलता फिरता है, चाय पीता है, यही नहीं अचानक उसकी पर दुख कातरता भी बढ़ जाती है। भले परिवार का दिखते, ठीक-ठाक कपड़ा पहने एक अकेले टंड से ठिठुरते बालक की वह पूरी तत्परता और सहानुभूति के साथ मदद करता है उससे मेल जोल बढ़ाता है, उसे अपने बिस्तर पर सुलाता है। जब वह बालक चला जाता है तब उसे जंक्शन पर एक दूसरा बालक दिखता है, जो मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए है और टंड से काँप रहा है। किंतु कथा नायक उसकी मदद के लिए कोई उत्साह नहीं दिखाता है। उसे देखकर उसके मन में यह ख्याल पूरे जोर के साथ कौंध उठता है- 'अगर मैं ठण्ड में सिकुड़ते इस लड़के को बिस्तर दूँ तो मेरी (दूसरों की दी हुई ही क्यों न सही) यह कीमती अलवान और नरम कम्बल और यह दूधिया चादर खराब हो जायेगी। मैली हो जायेगी। क्योंकि जैसा कि साफ दिखायी देता है, यह लड़का अच्छे-खासे साफ-सुथरे बढ़िया कपड़े पहने हुए थोड़े है। मुद्दा यह है। हाँ, मुद्दा यह है कि वह दूसरे और निचले किस्म के, निचले तबके के लोगों की पैदावार है।' मैं अपने भीतर ही नंगा हो जाता हूँ। और अपने नंगेपन को ढाँपने की कोशिश भी नहीं करता।'

लम्बी कहानी 'विपात्र' में बुद्धिजीवी वर्ग के अंतर्विरोधों, दोमुँहेपन, दोहरे-चरित्र, अनर्गल गप्पबाजी-बैठकबाजी को दिखलाया गया है।

मुक्तिबोध की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन यथार्थ को हमारे सामने लाती हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से उनके यहाँ वैविध्य नहीं है, किंतु उन्होंने पूरी गहराई से मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों और मानसिकता की पड़ताल की है। बाहरी घटनाओं, स्थितियों की जगह वह मनोजगत के उलझनों-ऊहापोहों, आरोहों-अवरोहों, तर्कों-वितर्कों का ज्यादा चित्रण करते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं में जिस तरह कथातत्त्व खूब मिलता है उसी तरह उनकी कहानियों में बिम्ब, प्रतीक, संकेतात्मकता, अप्रस्तुत विधान, विशेषण, सूक्ष्म निरीक्षण, अर्थगर्भता जैसे कविता के तत्त्व खूब मिलते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि जैसे कविता की पंक्तियाँ ही उठाकर रख दी गयी हो, जैसे- 'ज्यों ही वह पुरानी चौखट पर नये टुँके पल्लों को बंद करने के लिए मुड़ा उसकी आँखें दूर के बादलों में उस पार क्षितिज पर टिक गयी, जिसमें पूर्व दिशा की किरणें टूटकर धुंधले-भस्मीले बादलों पर आक्रमण कर रही थी। तालाब का कुहरे में खोया हुआ किनारा नीले-सलेटी रंग में डूबा दिखायी देता था, लेकिन पानी में चमकते हुए हरे-हरे वृक्षों के शिखर पर ललाई की संभावना प्रकट हो रही थी। (मुक्तिबोध रचनावली-3, जलना, पृष्ठ-161) काव्यतत्त्वों के सन्निवेश के साथ उनकी कहानियों में विचारों का गुंफन भी सहज रूप से देखा जा सकता है, यथा- 'कन्हैया गरीबी को, उसकी विद्रूपता को और उसकी पशु तुल्य नग्नता को जानता है। साथ ही उसके धर्म और दर्शन को भी जानता है। गाँधीवादी दर्शन गरीबों के लिए बड़े काम का है। वैराग्य भाव, अनासक्ति और कर्मयोग सचमुच एक लौह कवच है, जिसको धारण करके मनुष्य आधा नंगापन और भूखापन सह सकता है। सिर्फ सहने की ही बात नहीं, वह उसके आधार पर आत्म गौरव, आत्म नियंत्रण और आत्मदृढ़ता का वरदान पा सकता है। और भयानक प्रसंगों और परिस्थितियों का निर्लिप्त भाव से सामना कर सकता है।' (मुक्तिबोध रचनावली-3, सतह से उठता हुआ आदमी, पृष्ठ-186) मुक्तिबोध कहानी के प्रचलित रचना विधान की जगह वार्तालाप, संस्मरण, फंतासी, डायरी, कविता आदि के संश्लिष्ट प्रयोग करते हुए अपनी कहानियों को गढ़ते हैं। उनकी कविताओं की तरह उनकी कहानियाँ भी अपनी संवेदना और शिल्प में जटिल हैं। संश्लिष्ट विधान के कारण उनकी कहानियों का कथारस एवं संप्रेषणीयता बाधित होती है। कहना न होगा मुक्तिबोध की कहानियाँ अतिरिक्त सजगता की माँग करती हैं। मध्यवर्गीय जीवन यथार्थ का प्रामाणिक पड़ताल करने के कारण मुक्तिबोध की कहानियों का अपना महत्त्व है।

संपर्क : 09532102427

पत्रों के माध्यम से मुक्तिबोध

सुलेखा कुमारी

शोध-छात्रा (हिंदी विभाग)

कलकत्ता विश्वविद्यालय

“क्योंकि न सिर्फ मैं अपनी राह को खोजता हूँ बल्कि वह भी मुझे खोजती है और इसी में सारी उलझन की बदमाशी है।”¹

जीवन की सीधी-सीधी पटरी पर दौड़ने वाले मुक्तिबोध ने उपरोक्त पंक्तियाँ स्वयं के लिए लिखी हैं। हिंदी में जिन साहित्यकारों को उनकी रचनाओं के माध्यम से भलिभाँति समझा जा सकता है, उनमें गजानन माधव मुक्तिबोध का नाम प्रमुख है। कवि, आलोचक, कहानीकार के रूप में मुक्तिबोध लगभग एक ही समस्या को सुलझाते हैं; जो काम वे कविता में नहीं कर सकते, उसे कहानी में पूरा करना चाहते हैं और जो कविता, कहानी से इतर बचा रह जाता है, वह उनकी आलोचना, डायरी और पत्र के हिस्से आता है। उनकी रचनाओं में जो बेचैनी, विकलता, परिस्थितियों से जो जद्दोजहद् है, वह उनका अपना है। यह संघर्ष उनके व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। उनका पत्र-साहित्य इसका महत्वपूर्ण साक्ष्य है। मुक्तिबोध अपने वैचारिक संघर्ष को संवेदना के धरातल पर व्यक्त करते हैं, इसलिए कवि के रूप में भी वे प्रमुखतः एक विचारक ही कहे जाएँगे। जहाँ इस कारण उनकी कविताएँ एक हद तक अतिरिक्त बोझ से लद जाती हैं और साधारण पाठकों के लिए कठिन हो जाती हैं, वहीं मुक्तिबोध अपने पत्रों में एक ऐसे साधारण, सहज और आसानी से स्वयं जुड़ जाने वाले एक ऐसे व्यक्ति प्रतीत होते हैं, जो परिस्थितियों से जूझता हुआ अपनी राह तलाश रहा है। यह बेचैनी उनकी रचनाओं में भी है, और पत्रों में बहुत ही मुखर रूप में। क्योंकि अपने अत्यंत आत्मीय पत्रों में उन्होंने अपने जीवन की मार्मिक पीड़ा को गूँथा है। वह एक आम इंसान की तरह अपने को पारिवारिक दायित्वों को ढोने में असमर्थ मानते हैं—

"Lo, there is born a man with a disturbed soul- disturbed with the highest desires of age and the greatest weaknesses of his times." हाँ, मैं अपने को यही समझता हूँ।”²

यह आंतरिक बेचैनी उनके कृति के साथ जुड़ी है। वह इस बेचैनी से मुक्त नहीं हो पाते और तब उन्हें लगता है कि अगर वह एक साहित्यकार नहीं होते तो शायद ज्यादा सुखी इंसान होते। उन्हीं के शब्दों में...

"If someone proves to me that I am not a literary man. I shall be a better man, Perhaps a happier man." ³

कविता का महत्व उनके लिए अपनी सुख सुविधाओं से बड़ा था। एक तरह से कविता उनके रगों में निवास करने लगी थी। ऐसा कवि जो कविता लिखता न हो जीता हो, उसके लिए जीवन के अन्य दायित्वों का निर्वाह कितना कठिन होगा, यह समझा जा सकता है। वह भी तब जब एक साहित्यकार एक तरफ अपनी प्रतिभा की भूख से जूझ रहा हो, दूसरी तरफ अपने अर्थाभाव से। उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा उन्हें साहित्य की ओर खींचती, दूसरी ओर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, एक बेटा, एक पति, एक पिता के रूप में उन्हें नमन यथार्थ की जमीन पर ले आती।

"And my anxiety my internal unsystematic work troubled both of them (wife and son). I laugh at myself to my own disgust." ⁴

मुक्तिबोध का जीवन बहुत अस्थिर रहा है, चाहे शिक्षा हो, नौकरी हो या पारिवारिक स्थिति हो। उनकी अंतिम महत्वपूर्ण शिक्षा नागपुर विश्वविद्यालय से हिंदी में एम. ए. थी। इसके पहले इनका विद्यार्थी जीवन अनियमित रहा। इन्होंने सन् 1938 से सन् 1958 के बीच कई बार नौकरियाँ बदली, स्थान बदले और अन्ततः सन् 1958 में दिग्विजय महाविद्यालय, राजनाँदगाँव में इन्हें प्राध्यापक की नौकरी मिली। किन्तु 20 सालों तक इनका जीवन अनियमित एवं अनिश्चित था। यह इनके जीवन का सबसे संघर्षशील समय था। अपनी मानसिक पीड़ा, यंत्रणा, छटपटाहट को इन्होंने अपने पत्रों में ज्यों का त्यों धर दिया है। नेमिचंद्र जैन को लिखे इनके पत्र नितांत आत्मीय क्षणों के हैं। इन पत्रों में हिंदी के एक प्रमुख साहित्यकार की आंतरिक पीड़ा है। इन्हें पढ़े बिना क्या कोई भी पाठक एक कवि के दर्द को समझ सकता है ?

"Never was I in such a hopeless & hapless (helpless) lonely moneylessness & social

shame." ⁵

‘रक्तालोक स्नात पुरुष’ जो अपने भीतरी संघर्षों से जूझ रहा है और बाहरी परिस्थितियाँ उसके लिए असाध्य हो चुकी हैं। यह संकेत करता है कि हिंदी जगत में लेखकों की उपेक्षा कोई नयी बात नहीं है। हिंदी की अपेक्षा दूसरी भाषाओं के साहित्यकारों को साहित्य जगत् में जो स्थान सहज प्राप्त होता है, हिंदी जगत् के लिए यह असहज है। मुक्तिबोध ने अपने काव्य-यात्रा के प्रारंभ में ऐसे दंश झेले हैं, जो समय के साथ-साथ कम नहीं हुए अपितु और भी तीखे हो गये। एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात मुक्तिबोध कहते हैं :

‘गलती हमने यह की है कि पूरे बनने के पहले ही प्रकाश में आ गये हैं। यानी, हमारी शक्ति से लोग अपरिचित हैं और गुण-दोष से परिचित।’ ⁶

मुक्तिबोध विरोधी वातावरण हिंदी आलोचना में रहा है। कहीं उन्हें समझने में गलती हुई और कहीं हल्के में लेने के कारण। मुक्तिबोध ने निरंतर प्रहार झेलते हुए अपने आत्मविश्वास को खोया नहीं। उनके जीवन काल में ही उन पर विद्रूप आलोचना का प्रहार शुरू हुआ। उन्हें इससे बहुत क्षति हुई। ऐसी आलोचना कतई हिंदी साहित्य का अंश नहीं हो सकती, जहाँ किसी लेखक पर अशिष्ट टिप्पणी की जाए :

“विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का tone अच्छा नहीं लगा। मेरे प्रति वह नितांत अशिष्ट भी हैं। जिस प्रकार मेरे नाम के प्रथम शब्द का उन्होंने प्रयोग किया है, उससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जान-बूझकर, इरादतन, अपनी उच्चता और प्रतिष्ठा की संस्थापना के उद्देश्य से, मुझे तुच्छ और हेय ठहराना चाहते हैं।” ⁷

मुक्तिबोध अपने पत्रों में इतने सहज हैं कि किसी भी बात को बिना किसी आवरण के सीधे-सीधे कह देते हैं। यहाँ तक की औपचारिक स्थिति में भी औपचारिक नहीं हो सकते। नामवर सिंह को लिखे अपने पहले पत्र में कहते हैं:

“औपचारिक पत्र लिखने का मुझे बिल्कुल अभ्यास नहीं है। दिल की कहूँ तो यह कि अगर आप मेरे समीप होते तो गले लगा लेता, इसलिए नहीं कि तारीफ हुई है वरन् इसलिए कि एक सुदूर अजाने कौने में एक समानशील समधर्मा मिला। समानधर्मा, शब्द पर शायद आपको आपत्ति

हो, किन्तु अपनी कमजोरियों और दोषों में मैं आपको शामिल नहीं कर रहा हूँ।⁸

नामवर सिंह को लिखे उपरोक्त पत्र में मुक्तिबोध ने अपने अन्तर मन को उड़ेल दिया है। कहीं कोई दुराव नहीं है। आलिंगन करना है तो अपने हृदय के सभी पार्ट खोल देते हैं। विह्वलता-विभोर होकर अपने 'समधर्मा' का स्वागत करते हैं, जिसकी शायद उन्हें प्रतीक्षा रही हो, जहाँ उनका आत्मविश्वास छला न जाए। आलोचना-प्रत्यालोचना के दौर में भी मुक्तिबोध ने अपने विरोधियों को किस तरह देखा? किस तरह उनका खण्डन किया? यह जानना और भी आवश्यक है क्योंकि मुक्तिबोध को पढ़कर यह जाना जा सकता है कि विरोध कैसे हो? अपने विरोधियों के लिए भी विवेकशील आलोचना को वे आवश्यक मानते थे। विरोधी भी अगर प्रतिभाशाली है, तो उसकी प्रतिभा का सम्मान करना चाहिए यद्यपि नियत मुद्दों पर मत वैभिन्न्य हो सकता है-

“मैं समझता हूँ कि श्री भारती ने जो Cotroversy पैदा की है, उसका उद्देश्य प्रतिक्रियावादी भले ही हो, वह बहुत मूल्यवान है; और उस पर चर्चा होना बहुत आवश्यक है। ध्यान में रखिए, वह दाना (नादान) दुश्मन है, नादान दोस्त नहीं। इसलिए उसकी इज्जत होनी चाहिए। वह प्रतिभाशाली है, और problems को खूब feel करता है और think करने की कोशिश करता है।.... यह ठीक है कि वह असलियत हमें पसंद नहीं। किन्तु असलियत का विरोध दूनी बड़ी असलियत की dignity से होना चाहिए, और उसे दूनी बड़ी असलियत की शक्ति और गरिमा से।”⁹

कहना न होगा कि हिंदी आलोचना में ऐसे रुख का नितांत अभाव है। अपने ऊपर किए गए हमलों को झेलते हुए भी मुक्तिबोध ने जिस उदारता से आलोचना का पथ-प्रशस्त किया वह असाधारण बात है। मुक्तिबोध के लिए आलोचना कभी भी प्रहार और निषेध का पर्याय नहीं रही। उन्होंने आलोचना की भूमि को स्वस्थ हाथों से जोतने की कोशिश की। दरअसल, मुक्तिबोध, टी. एस. इलियट की उस परंपरा में हैं, जहाँ साहित्य पर विचार करते हुए कवि-समीक्षक स्वयं की रचनाओं की ओर मुड़ जाता है।

काव्य-सिद्धांतों का विवेचन करते समय उसकी दृष्टि अपनी मानसिकता, रचना-प्रक्रिया, सौंदर्य-बोध, सामाजिकता, वैयक्तिकता आदि पर होती है। इसलिए मुक्तिबोध की आलोचना पद्धति हिंदी में अपने ढंग की एक अकेली ही पद्धति है।

मुक्तिबोध के पत्रों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य है, तत्कालीन प्रगतिशील आंदोलन को लेकर दृष्टिकोण। प्रगतिशील आंदोलन ने उन पर कई प्रहार किए। नामवर सिंह को लिखे अपने पत्र में कहते हैं :

“काश, प्रगतिशील आंदोलन हम जैसे लोगों को थोड़ा समझ पाता।”¹⁰

मार्क्सवाद की जितनी समझ मुक्तिबोध को है, उस आधार पर वह कहते हैं :

"But there who have not learnt marxism-not understood the spirit of it- make self- analysis in order to satisfy an urge- the dark self-eating happiness they get."¹¹

मार्क्सवाद उनके एक राजनैतिक सिद्धांत नहीं था, अपितु उन्होंने उसे एक जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार किया। आग्नेशका सोनी के साथ उनके पत्राचारों में उनका साम्यवाद के प्रति लगाव और भारत की तत्कालीन स्थिति को लेकर चिंता प्रकट होती है। पोलैंड के साम्यवादी प्रभाव को वह भारत के लिए आवश्यक मानते थे। लेकिन दुःखद स्थिति यह थी कि वह सबसे ज्यादा प्रगतिशीलों के ही निशाने पर रहे; जहाँ उनकी सबसे अधिक जरूरत थी। श्री पाद अमृत डाँगे को लिखा उनका विस्तृत पत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस पत्र में इन्होंने प्रगतिशील आंदोलन की प्रकृति और उसकी कमजोरियों पर ध्यान केन्द्रित किया है। यह विवेचन बिल्कुल निर्लिप्त एवं दुर्भावना रहित है। प्रगतिशील आंदोलन की वास्तविक खामियों की ओर इस पत्र में संकेत है:

"But, what happened? Our leading marxist literary (entre, if there was any, failed to understand new developments in Hindi Literature"¹²

यह प्रगतिशील आंदोलन की सबसे बड़ी कमी थी, जिसने उसे अपने समय से ही काट दिया।

मुक्तिबोध को करीब से जानने के साथ-साथ साहित्य

से उनके गहरे लगाव को जानने के लिए पत्रों का बहुत महत्त्व है। मुक्तिबोध के अधिकांश पत्र अब अनुपलब्ध हैं। किंतु सीमित पत्रों की उपलब्धि ही उनके गहरे चिंतन और सहज व्यक्तित्व का परिचय देती है। मुक्तिबोध को आत्मीय संबंधों की गहरी आवश्यकता थी, जिसकी आपूर्ति वह पत्रों के माध्यम से करते हैं। उनके पत्र आत्मीय-राग, स्नेह और प्रेम से भरे हैं। चाहे वह मित्रों के हों चाहे नव-पीढ़ी के साहित्यकारों के हों। उन्होंने मनुष्य के लिए मनुष्य की आवश्यकता का गंभीर अनुभव किया है। उनकी कविताएँ भी उनकी अन्तर्कथा की सहयात्री हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने अपनी कहानी को ही बार-बार संजोया है:

“पिछले एक-डेढ़ सालों में, मैंने चार लम्बी-लम्बी कविताएँ लिखी हैं। वही मेरी उपलब्धि हैं। उनसे गुँथा होने के कारण मैं कोई अन्य कार्य नहीं कर सका। उनके मारे, सब कुछ छूट गया था। असल में, वे जीवन की उलझनों के समग्र-चित्र हैं।”¹³

उनकी कविताएँ उनके पत्रों को पढ़े बिना अधूरी हैं।

मुक्तिबोध को पूरी तरह पढ़ने-समझने के लिए उनके पत्र-साहित्य का वांछित मूल्यांकन होना अति आवश्यक है।

संदर्भ :

1. सं., जैन नेमिचंद्र, मुक्तिबोध रचनावली, पहला संस्करण, 1985, राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि., नयी दिल्ली, पृष्ठ-230
2. वही, पृष्ठ-230
3. वही, पृष्ठ-249
4. वही, पृष्ठ-249
5. वही, पृष्ठ-245
6. वही, पृष्ठ-223
7. वही, पृष्ठ-245376
8. वही, पृष्ठ-345
9. वही, पृष्ठ-351
10. वही, पृष्ठ-345
11. वही, पृष्ठ-307
12. वही, पृष्ठ-397
13. वही, पृष्ठ-359

संपर्क:

2, पी. बी. एम. रोड. चापदानी
पोस्ट-बैद्यबाटी, जिला-हुगली, पिन-712222
मो. 9749037418

क्लॉड ईथरली: त्रासदी का छन्दशास्त्र

विमल वर्मा

विशिष्ट वामपंथी आलोचक एवं
'चंद्रयान' पत्रिका के संपादक

मुक्तिबोध ने 1959 के आसपास 'क्लॉड ईथरली' नामक कहानी की रचना की थी। वह 'नयी कहानी' की अवसान की बेला थी। यहाँ इसके इतिहास में जाने का अवकाश नहीं है। साथ ही साथ यह भी धातव्य है कि डॉ. नामवर सिंह, सुरेन्द्र चौधरी, मार्कण्डेय, विजयमोहन सिंह, आनंद प्रकाश ने नई कहानी की आलोचना को अपने-अपने ढंग से कलात्मक ऊँचाई का स्पर्श दिया है।

नई कहानी के संवेदनात्मक ढाँचे के विकास एवं हास की मीमांसा आज भी अपूर्ण लगती है। मैं अपने को 'क्लॉड ईथरली' पर ही केंद्रित करूँगा। इसके पहले नयी कहानियों में अभिव्यक्त 'यूटोपिया' और 'डिस्टोपिया' वाले पक्ष पर कहानीकारों की धारणा में 'डिस्टोपिया' पर ही स्थूल रूप से पाठकों की दृष्टि से ही विचार करना बेहतर समझता हूँ। मेरी समझ से बिना इस पर नज़र डाले 'क्लॉड ईथरली' में व्याप्त विश्वदृष्टि की शिनाख्त नहीं हो सकती। कहना न होगा आलोचकों और कथाकारों ने नयी कहानी के यूटोपियन पक्ष पर तो विस्तार से लिखा है, परन्तु इसके 'डिस्टोपिया' पक्ष को उलझा कर उसे विवादास्पद बना दिया गया है।

शीतयुद्ध के तहत इसकी रणनीति ने अनुभव की द्वन्द्वात्मकता को ध्वस्त करके, ज्ञान के जिस अराजक दृष्टि को रूपायित किया, उसने जीवन की चरितार्थता की दृष्टि नष्ट के कगार पर पहुँचा दिया। उदाहरण के रूप में मैं दो यशस्वी कथाकारों अज्ञेय और निर्मल वर्मा के वक्तव्यों का संक्षिप्ततम उल्लेख करूँगा। उन्हीं के वक्तव्यों में उनके यथार्थ और संरचनात्मक धारणाएँ स्पष्ट हो गयी हैं। वह 'कल्पित समग्रता की धारणा'।

अज्ञेय ने स्वयं अपनी 'संकलित कहानियाँ' की भूमिका में लिखा है—

1. 'यथार्थ' बाहर होता है।
2. 'यथार्थ' इकहराया स्तरीय होता है।
3. जो दीखता नहीं वह यथार्थ नहीं है।

इसका मतलब तो यही हुआ कि यथार्थ में अर्थहीनता के यथार्थ की खोज। क्या यथार्थ की द्वन्द्ववादी दृष्टि यही है? वस्तुतः यथार्थ में अतीत और भविष्य भी ध्वनित होता है। अगर ऐसी दृष्टि न हो तो 'बाहर' से 'प्रत्यक्ष' तक ही देखने वाला यथार्थ-रूपान्तरित यथार्थ, यथार्थ को महज 'सतह पर देखने वाली पाजिटिविस्ट अंधी दृष्टि यथार्थ के आयत्तीकरण में काल में विकसित यथार्थ की गति से महरूम हो जायेगी। उसी भूमिका में अज्ञेय आगे लिखते हैं- "मैंने हमेशा माना है कि रचना का पहला धर्म अभिव्यक्ति नहीं सम्प्रेषण है।" पाठक के मन में यह प्रश्न उठता है कि कला में तो अन्तर्वस्तु का सम्प्रेषण होता है। यानी यथार्थ बाहरी ही नहीं बाहर से आभ्यान्तरीकृत होता है और विचार से घुला मिलाकर अभिव्यक्त होता है। अज्ञेय ने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में स्पष्ट किया है "...खोज निरन्तर यथार्थ की व्याप्ति और गहराई को समझने और संवेदन प्रक्रिया को अधिक समर्थ बनाने की रही है। 'यथार्थ' का यथार्थ अर्थ खोज लेने का दुर्गम पथ- मैंने कहा कि यथार्थ हमेशा अर्थहीन यथार्थ होता है।" यहाँ अज्ञेय समग्रता में यथार्थ की विसंगतियों से हट कर केवल मनोविश्लेषणवादी अंतरचेतना के अन्वेषक बन जाते हैं। कहना न होगा कि संवेदन और यथार्थ की अन्तर्क्रिया में, दृश्यता में तर्क-बुद्धि चेतना का विकसित रूप होता है। इन्द्रिय-बोध, स्पर्श, इत्यादि काल बोध से परे नहीं होते। संवेग, ऊर्जा, गति और परिणाम के भौतिक लक्षण हैं। पदार्थ की गतिमयता और उसके तत्त्वों की गतिमयता, उनके तत्त्वों की प्रतिक्रिया दिक् काल के रूप में निर्धारित करती है। अज्ञेय के 'हीली बोन की बत्तखें' कहानी में बत्तखों की सामूहिक हत्या क्रिया का कार्यान्वयन आकस्मिकता के सिद्धांत को ही बैधता प्रदान करता है जिसे दूधनाथ सिंह देरिदा के 'अनडुइंग' से विभूषित करते हैं। एंगेल्स ने 'ड्यूरिंग मत खण्डन' पुस्तक में लिखा है- "... किसी खास प्रश्न के संबंध में किसी आदमी का मत जितना स्वतंत्र है इस मत के सार को उतनी अधिक आवश्यकता के साथ निर्धारित किया जायेगा; जबकि दूसरी ओर अज्ञान पर आधारित वह अनिश्चितता, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा परस्पर विरोधी संभव निर्णयों में से किसी एक को मनमाने ढंग से चुनती प्रतीत

होती है, ठीक अपने कार्य से ही स्पष्ट कर देती है कि वह स्वतंत्र नहीं है; बल्कि वह स्वयं उसी वस्तु के नियंत्रण में है जिसका उसे नियंत्रण करना चाहिए था।"

इसी प्रकार मार्कण्डेय जी ने अज्ञेय के 'खिलीन बाबू' कहानी का विश्लेषण करते हुए लिखा है "बेचारे खिलीन बाबू अच्छे भले आदमी भी हो सकते थे। उनके हाथ पांव लगातार दुर्घटनाओं के कारण कटते गये और एक समय पर पहुँचकर कटी हुई बाहें भी कंधे तक कट गयीं और शरीर के अवयव जितने ही कम होते गये, उनमें आत्मा की क्रांति मानो उतनी ही बढ़ती गई। - खिलीन बाबू साधारण क्लर्क थे। ...इतना जानते ही पाठक के सामने रचा हुआ सारा भ्रम-जाल क्षण भर में टूट जाता है और अब तक का सारा पात्र-परिचय नकली लगने लगता है। 'सतह' और 'आग्रह' की सच्चाइयाँ कभी भी मानव-जीवन का यथार्थ नहीं बन पातीं... सफल कलाकर कभी भी इस संदर्भ में इतनी हल्की बात कह गुजरने का खतरा मोल नहीं लेगा।"

सच्चाई यह है कि कल्पित समग्रता में शुद्ध या काल्पनिक मानसिक सरणियों को सम्पूर्ण वरीयता दी जाती है। वह वरीयता इतनी अन्ध आवेगमयी होती है कि उनमें कार्य-कारण और वस्तु प्रक्रिया संगत नहीं होती। मार्क्स ने जर्मन विचारधारा में लिखा है- "...ज्यों ही हम इस जीवन-प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं, त्यों ही इतिहास मृत तथ्यों का पुँज नहीं रह जाता जैसा कि अनुभववादियों के लिए है। किसी तरह की कल्पित क्रिया भी नहीं रह जाता, जैसा भाववादियों के यहाँ होता है।" एंगेल्स ने भी 'एण्टी ड्यूरिंग' में लिखा है कि "हर अनुभव स्वाधीनता प्राकृतिक नियमों से स्वाधीन हो जाने के स्वप्नों में निहित नहीं है बल्कि इन नियमों के ज्ञान में, इस ज्ञान की सहायता से, निश्चित उद्देश्यों के लिए, सुनियोजित ढंग से कार्य करने की जो संभावना पैदा होती है, उस संभावना में निहित होती है।" अर्थात् यथार्थ की धारणा मानवीय व्यापारों, संबंध क्षेत्रों से, इतिहास गति से अर्जित की जाती है। परन्तु अज्ञेय अस्तित्ववादियों की तरह ज्ञान के सार्वभौमत्व को, मानवीय पारस्परिक संबंधों को, समय की भौतिकता को ऐतिहासिक परिस्थितियों को अनिश्चित, त्रासदी, कार्य-करण से असंबद्ध, व्यक्ति के स्वतंत्र निर्णय के अधीन कर देते हैं।

जाहिर है संयोग या आकस्मिकता स्वतंत्रता की परिस्थिति नहीं है। “सार्त्र अपने साहित्य में समकालीन को इतिहास की पीड़ा से जोड़ने की चेष्टा करते हैं मगर अनिवार्यता जहाँ इतिहास का आयाम है वहाँ संयोग साहित्येत्तर आयाम हैं।” (सुरेन्द्र चौधरी) इसी संदर्भ में फ्रांसीसी दार्शनिक ‘ज्यांवाहल’ ने सत्ता के प्रकृत संकट-स्वतंत्रता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि “हमारे दैनन्दिन जीवन के अपने संतुलन भी हैं, अपनी संगति भी है और सत्तात्मक (आन्त्यालजिकल) व्यापार भी है। इस दैनन्दिन जीवन को अप्रामाणिक कहना भूल होगी।मार्क्स के बाद में दैनन्दिन जीवन अधिक अधिकार पूर्ण ढंग से परिभाषित हुआ है।” अतएव सार्त्र-अज्ञेय, निर्मल वर्मा का संज्ञास (टोटल हार) विभाजित व्यक्तित्व कल्पित समग्रता की आत्म चेतना है।

डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक ‘वाद-विवाद की संवाद’ की समीक्षा लिखते हुए गंभीर आलोचक परशुराम जी ने लिखा है- “रचनाओं का इतिहास सामाजिक अस्तित्व (वर्गीय संबंधों) से निर्धारित होता है। निश्चय ही वह ‘प्रभुत्वशाली साहित्यिक परम्परा’ के पक्ष में हाथ उठाकर नहीं कर सकता। क्योंकि उसके लिए यथार्थ निर्मल वर्मा के ‘पक्षी की तरह’ ‘झाड़ी’ में छिपा नहीं रहता और न ही यथार्थ उसके स्पर्श से घायल या मृत हो जायेगा, उसकी पकड़ से छूट जायेगा, वह यथार्थ के अंतर में प्रवेश कर आकार ग्रहण करते- अमूर्त यथार्थ की पहचान के लिए जन-संघर्षों में रचना-दृष्टि के विकास की संभावना का हिमायती है।” (सामायिक परिदृश्य 2-3)

निर्मल वर्मा की कहानियों पर विचार करने पर सूत्र के रूप में यही कहा जा सकता है कि यहाँ वस्तुपरकता क्षीणतर है। सारी रचनाएँ मनोविज्ञान की अमूर्त जटिल पहेली बन जाती हैं। परन्तु इनमें इनके संवाद के निलम्बन में द्वन्द्व व लगाव नदारद है। निर्मल वर्मा की कथा संरचना में पात्रों के मानस दर्शन पर डॉ. नामवर सिंह का वक्तव्य इन पर नहीं बल्कि ‘यूटोपिया’ पर दिया गया वक्तव्य सटीक लगता है। नामवर जी ने कहा है “ऐसा संदेहवाद लोगों की निराशा को पुख्ता करता है, और हर तरह की आशा को तोड़ता है, ताकि उसकी जिजीविषा और उत्साह को सीमित करके उसे पराजित किया जा सके। ...यह ऐसी

बीमारी है, जिसमें मनुष्य के सामने खाना परोसा जाये, तो वह समझता है कि उसमें ज़हर मिला दिया गया है। जिसको यह बीमारी लग जाती है वह खाना नहीं खाता भूखा मर जाता है।” (कथन- पत्रिका)

शायद इसीलिए मुक्तिबोध ने लिखा है- “....सफलता के लिए सामर्थ्य नहीं, समर्थन लगता है। बुद्धिमानी इसमें है कि दरारें देखो और उसमें चुपचाप रेंग जाओ, और रेंगते हुए ‘ऊँची’ से ‘ऊँची’ सतह तक पहुँचो। यह है वास्तविक जीवन की कला। समझे ? मुझे मालूम है (मैं ‘सारिका’ ‘नयी कहानियाँ’ पढ़ता हूँ) कि ‘नयी कहानी’ नाम की भी एक चीज आ गयी है। बुरी बात नहीं है। अच्छा है। लेकिन अगर नयी कहानी का मतलब पानी के भीतर घुस कर उसमें डूब कर फिर आँखें खोलकर देखना है तो मैं बता दूँ कि ज्यादा से ज्यादा एक धुन्ध दिखायी देगी और आँखों की तकलीफ तो होगी ही, वे देख भी नहीं सकेंगी। हाँ, देख चुकने का स्वांग भले ही करें। ‘नयी कहानी’ के मतलब को नए धुन्ध से अलग किया जाये।” “कथाकार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है तो वह प्रसंग-स्थिति में बध्य मनुष्य की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को ही महत्त्व नहीं देगा वरन् उस स्थिति से संबंध रखने वाले जो वस्तु- सत्य हैं उनको बनाने वाले तत्त्वों पर अर्थात् व्यक्ति-स्वभावकी विशेषताओं, वास्तिकता की पेची द्रगियों और अब तक चलते आये इन सबके विकास क्रम पर, इन सब पर, अवश्य ही ध्यान देकर, इस प्रसंग स्थिति के वस्तु सत्य के सारे ताने-बाने (कलात्मक)को प्रभावशाली रूप से भोंड़े ढंग को नहीं प्रस्तुत करेगा। और इस प्रकार व्यक्ति समस्या को मानव समस्या बनाकर एक व्यापक पार्श्वभूमि में उसे उपस्थित करेगा। वैसा करना चाहिए।” (एक साहित्यिक की डायरी)

इस प्रकार कथा क्षेत्र में विशेषकर तत्कालीन नई कहानियों में क्रांतिकारी क्षितिज लुप्तप्राय हो रही थी। स्वतंत्रता, विकास, तार्किकता, सार्वभौमिकता को अर्थहीन और अनावश्यक बनाया जा रहा था। ज्ञान और वस्तुगतता का अस्वीकार, गैर वैमर्शिक व्यवहारों के प्रति ललक में सांस्कृतिक अस्मिताओं, मानव होने के अर्थ और प्रत्यय को बदलने जैसे भूकंपों की हलचल ने दिग्भ्रम, विभक्त चेतना की अभिरुचियों, कुरुचियों

के प्रभुत्वशील मॉडल गढ़े जाने लगे।

मुक्तिबोध ने ऐसी अभिशप्त संस्कृति की निर्मितियों, बहुआयामी संकट से उबरने की चुनौती स्वीकार की। वह व्यवहार और विचार के साथ-साथ अभिव्यक्ति के नए रूपों के निर्माण की संरचनाओं के लिए प्रतिबद्ध हुए ताकि कला के माध्यम से उद्विग्न और असंतुष्ट मानस को अपनी वास्तविक आत्मचेतना का अहसास हो।

यहाँ यह सवाल उठता है कि इस भयावह अस्तित्ववादी 'टोटल हारर' आच्छन्नता से मुक्ति के लिए लेखक ने 'क्लॉड ईथरली' के विमर्श में संरचना का गठन कैसे किया है? कहानी के नेटवर्क में संरचित परिस्थिति वास्तविकता से किस तरह प्रतिश्रुत है? इसके रूप-उपकरण किस तरह के प्रभावों को उत्पन्न करते हैं? यानी कहानी क्यों और कैसे ऐतिहासिक खोज बन गयी। भाषा की सत्ता और भौतिक परिस्थितियों के संदर्भ में कितने प्रासंगिक हैं? सृजनात्मक प्रक्रिया में विश्व-इतिहास के अंदर क्या-क्या घटित हो रहा है? इस चक्रवात से निकलने का रास्ता क्या है?

'क्लॉड ईथरली' के ताने-बाने में जो संस्कृति रची गयी है, उसमें दृश्य, अदृश्य स्वरूप तत्त्व में रचनाकार इतिहासबोध, संस्कृति के प्रेक्षण और आत्मनिरीक्षण की लम्बी यात्रा का रूपक है। यहाँ रूपक की विधि इसलिए अपनायी गयी है संप्रति वर्तमान में, वर्तमान में जो भविष्य है, उन्हें रूपक और प्रत्यय को एक-दूसरे में विलीन कर सकें। शायद रचना-प्रक्रिया संबंधी इतिहास की इसी आवश्यकता और द्वन्द्वात्मकता को नयी व्यंजना, नए अध्याय देकर का काल्पनिकता की सृष्टि की गयी है जो पठन-अनुभव में यथार्थ सी लगती है। इस तरह मुक्तिबोध ने 'क्लॉड ईथरली' में तत्कालीन कहानियों के चिर-परिचित सांचे को तोड़कर प्रासंगिकता के नए आयाम में रागात्मक, संवेदनशील साभिप्रायता को रूपायित किया है।

ऊपर मैंने 'क्लॉड ईथरली' में युग बोध के प्रश्नों के गोचर-अगोचर संबंधों को ध्यान में रखकर रचना प्रक्रिया के संदर्भ की शर्तों को प्रस्तावित किया है। इस कहानी का सिग्निफिकेशन प्रारंभ से ही परिलक्षित होता है कि रचनाकार केवल आत्म संकट के ही मुहाविरे नहीं गढ़ता बल्कि युग-

संकट को वस्तु सत्य (फ्रेम ऑफ अफेयर, फ्रेम का रिफरेंस) के बाह्य और आंतरिक प्रकरणों में बांधता है उस ताने-बाने में वह हमारे अनुभव का गोचर क्षेत्र है।

पूरी रचनाशीलता संलाप द्वारा गठित की गयी है। इस संलाप में सी.आई.डी और 'मैं' द्वारा भावनात्मक व्यापार, अन्तर्द्वन्द्व सहित, नाटकीयता के साथ अपने रूप और आभास का गहरा प्रपंच विश्व-विडंबना के गहरे मझधार में हमें उतार देता है। कहानी में ऐसे व्यूह की रचना की गयी है जिसमें पाठक विश्व युद्ध, युद्धोत्तर वर्तमान द्वारा प्रदत्त वस्तु स्थिति को समग्र आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों, यातनाओं, विभ्रमों के प्रसंग और पेंच के जटिल बिन्दु को पहचान लेता है। अर्थात् आज जो घट रहा है, उसे द्वन्द्व के साथ उपस्थिति- साम्राज्यवाद की उन्मुक्त बाजार-व्यवहार की मायावी लीला, हमारे अवचेतन की इर्रेशनैलिटी का विस्फोट, अपनी विनाशलीला में हमारी आत्ममुग्धता का लास्य नृत्य आदि आदि। तात्कालिकता में ज्ञान के विच्छिन्न चेहरे अपने तर्काभास से साम्राज्यवाद तथा जनता के अपने अन्तर्विरोध- (साम्राज्यवाद-पूँजीवाद द्वारा निर्मित उपभोक्तावाद का बिम्ब, छायाचित्र हमारी संवेदना को निर्मित कर रहा है और यही हमारे दैनन्दिन का इतिहास बन गया है। इस चकाचौंध की विडम्बना भावी जागृति की चिंगारी बन कर क्या आज के तिलस्म को उकेरते हुए वर्तमान के अतिक्रमण के लिए नहीं उकसायेगी। ब्रेख्त ने लिखा है 'स्टार्ट विथ न्यू डेज...' कहानी में क्लॉड ईथरली और पागलखाने का संदर्भ रूपायित कर विवेक के दमनात्मक रूप को परिभाषित किया है। यहाँ हमें यह भी याद आता है कि प्रसिद्ध उत्तर आधुनिक चिंतन मिशेल फूको ने भी 'मैडनेस इन सिवलाइजेशन' नामक पुस्तक में आचरण की संस्कृति के अध्ययन में 'स्वस्थ' और 'पागल' के सभी दृष्टियों को अस्वीकार किया है सूत्रों में-

1. फूको इन्स्टीट्यूशन के निर्माण को ही उत्पीड़न का कारण माना है।

2. सत्ता की प्रकृति अस्थिर है।

3. पागलपन और यौनिकता फूको के वैज्ञानिक विचार का मूल आधार है।

क्लॉड ईथरली के पागलखाने में फूको से कोई संगति

नहीं है। उदाहरण के लिए सी.आई.डी का कथन है कि— “जो आदमी आत्मा की आवाज़ ज़रूरत से ज़्यादा सुनकर हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी में भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है। पुराने ज़माने में संत हो सकता है। आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जा सकता है।” यही त्रासदी का द्वन्द्ववाद है। यही इस कहानी की केंद्रीय संवेदना की व्यंजना है। यह भाषिकी संरचना बाह्य के आभ्यन्तरीकरण से उत्पन्न आज की रूपांतरित मनोदशाओं, विचारणाओं, अनुभवों का दृष्टांत है।

क्लॉड ईथरली ने हिरोशिमा पर बम गिराया। इसके लिए उसे नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। परन्तु ईथरली अपने को मानवता का संहारक समझता है। आत्मग्लानि के परिताप में झुलसता क्लॉड ईथरली प्रायश्चित्त करने के लिए तरह-तरह के दुष्कांड करता है। ‘दुष्कांड’ के परिप्रेक्ष्य में मुझे लगता है कहानी यहाँ कमजोर और यथार्थ से विचलित हो गयी है। मानवता की रक्षा व्यवस्था, समाज, व्यक्ति की मानसिकता, मूल्यों, आचरणों द्वारा

प्रबल आंदोलन द्वारा बदले जा सकते हैं। हाँ यहाँ उल्लेखनीय है कि एक बार सम्मान पा जाने पर फिर वह जो भी गलत करे वह क्षम्य है। यही आज की संस्कृति है।

इस संबंध में, मैं प्रसिद्ध मार्क्सवादी मीडिया सिद्धांतकार मेदलार्द द्वारा लिखी गयी ‘कम्युनिकेशन एण्ड क्लास स्ट्रगल’ पुस्तक में उनके विचार के ज़रिए अपना लेख समाप्त करूँगा। “उत्पादन के साधन कानूनी-राजनीतिक अधिरचना भी हैं और साथ ही विचारधारात्मक अधिरचना (इमेजों और विचारों की व्यवस्था, अनुभूति और मानक भी जो खास किस्म की प्रैक्टिस या अभ्यासों और कम्युनिकेशन में तटस्थता की संभावना पेश करते हैं)... सिर्फ निर्भरता के तंत्र और ताने-बाने का उद्घाटन ही काफी नहीं होता बल्कि ऐसी अवस्था में बुर्जुआ मीडिया के आक्रामक रूख का विश्लेषण करके उसका मुकाबला किया जाना चाहिए। ...विचारधारा की बहस ठोस संदर्भ में, वर्ग-संघर्ष की अवस्थाएँ रखकर किया जाना चाहिए।” (भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया- ले. प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी)

संपर्क :

एच/13, एल.आई.जी. इस्टेट
8/1, रुस्तम जी पारसी रोड, काशीपुर,
कोलकाता- 700002, मो. 9038340568

मुक्तिबोध के बंधर्भ में रामजिलाश शर्मा के पूर्वाग्रह

डॉ. जे. आत्माराम

सहायक प्रोफेसर (हिंदी विभाग)

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद

“घुसती है लाल-लाल मशाल अजीब-सी
अंतराल-विवर के तम में
लाल-लाल कुहरा,
कुहरे में, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक,
रहस्य साक्षात्!!”

‘अंधेरे में’, ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’, ‘ब्रह्मराक्षस’ जैसी कालजयी रचनाओं के कवि गजानन माधव ‘मुक्तिबोध’ एक क्रांतद्रष्टा कवि थे। उन्होंने कविताओं के माध्यम से हमेशा अपने समय के यथार्थ को बयां किया है। किन्तु, हिंदी साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि उनके जीवन-काल में उनकी उपस्थिति को बहुत गंभीरता से नहीं लिया गया। अशोक वाजपेयी के शब्दों में कहें तो ‘उनकी सारी कीर्ति मरणोत्तर कीर्ति है।’ जीते जी वे अपना काव्य-संग्रह प्रकाशित होते हुए नहीं देख पाये। उनके जीवन-काल में तो आलोचकों ने उनकी कविताओं पर व्यक्तिवादी, आत्मनिष्ठ, मनोवैज्ञानिक, रहस्यवादी, क्लिष्ट आदि अनेक तरह के आक्षेप लगाकर उन्हें अपने पाठकों से दूर ही रखा और इतना ही नहीं उनके रचना-कौशल और उनकी बौद्धिक-क्षमता को भी गलत ढंग से आंकने का प्रयास करते रहे। ये प्रयास उनके जीवन काल में ही नहीं, उनकी मृत्यु के बाद भी जारी रहे। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि पिछले पाँच दशकों में अकादमिक स्तर पर और अन्य साहित्यिक मंचों पर भी किसी एक स्वतंत्रोत्तर भारत के कवि को सबसे अधिक पढ़ा गया, पढ़ाया गया और उद्धृत किया गया, तो वह केवल मुक्तिबोध ही हैं। इससे एक बार यह भी सिद्ध होता है कि जिस प्रकार सूरज की रोशनी मुट्ठी में बाँध कर रखी नहीं जा सकती वैसे ही मुक्तिबोध की कविता के तेज को आलोचकीय-बंधनों से रोका नहीं जा सकता। आज हिंदी साहित्य में मुक्तिबोध के बौद्धिक एवं रचनात्मक योगदान को एक प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है, मुक्तिबोध की कविता के विषय में विचारधारा के आर-पार मतैक्य नज़र आता है और आज मुक्तिबोध की काव्य-प्रतिभा के सामने उनके तमाम आलोचकों के आक्षेप भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। फिर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि मुक्तिबोध की कविता उस सोने के समान है जो अपने आलोचकों के आक्षेपों की अग्नि में तप कर और भी ‘तेजस्वी’ हुई है।

मुक्तिबोध के आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। रामविलास शर्मा हिंदी के एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील आलोचक हैं। कदाचित आचार्य शुक्ल एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद सबसे बड़े विद्वान आलोचक भी। एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी आलोचक के रूप में डॉ. शर्मा की भूमिका को मुक्तिबोध भी स्वीकार करते हैं। डॉ. शर्मा ने हमेशा प्रतिक्रियावादी लेखन का विरोध किया है। निराला, भारतेन्दु, प्रेमचंद, आचार्य शुक्ल, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि कई साहित्यकारों के साहित्यिक अवदान को उन्होंने हिंदी साहित्य में दृढ़ता के साथ स्थापित किया है। इस दृष्टि से प्रगतिशील समीक्षा के विकास में रामविलास शर्मा का योगदान श्लाघ्य है। मार्क्सवादी सिद्धांतों के संदर्भ में अपनी समझ, विश्वास एवं मान्यताओं के प्रति दृढ़-निश्चयी रामविलास शर्मा अपने आलोचना-कर्म में जिस किसी साहित्यकार के पक्ष में खड़े हुए, उसका पूरी शक्ति के साथ समर्थन किया है। अपनी स्थापनाओं को सिद्ध करने के लिए वे तमाम प्रकार के अभिव्यक्ति के खतरे उठाते हैं और अपने तर्क-वितर्क प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार यदि किसी साहित्यकार को अपने मार्क्सवादी 'प्रेम' में फिट नहीं पाते हैं या अप्रगतिशील अथवा प्रतिक्रियावादी पाते हैं तो उसका विरोध भी वे उतनी ही शक्ति के साथ करते हैं। हिंदी साहित्य में ऐसे कई साहित्यकार हैं जो उनकी कटु-आलोचना का शिकार हुए, जिनमें मुक्तिबोध, यशपाल आदि प्रमुख हैं। डॉ. शर्मा ने जितना अधिक 'श्रम' एवं समय मुक्तिबोध की कविता को अप्रगतिशील सिद्ध करने में खर्च किया है उतना किसी अन्य साहित्यकार के लिए नहीं। सवाल यह है कि डॉ. शर्मा को मुक्तिबोध की कविता की आलोचना करने में इतना परिश्रम करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? जिस कवि को उन्होंने पहले सबसे 'सच्चा मार्क्सवादी' माना और लिखा कि 'उनके लिए मार्क्सवाद जीवन-मरण का प्रश्न है', फिर वे बाद में क्यों कहते हैं कि 'उनकी कविता के केन्द्र में 'व्यक्ति' हैं, संगठन या मार्क्सवादी पार्टी नहीं। इस संदर्भ में श्रीराम त्रिपाठी का कथन विचारणीय है, वे कहते हैं, "कई जगह ऐसा लगता है कि डॉ. शर्मा, मुक्तिबोध को अपना या अपने मार्ग का विरोधी मानते हैं। कहीं-कहीं ऐसा है भी, जो भूल

है। असल में ये दोनों भिन्न हैं, विरोधी नहीं।"¹

मुक्तिबोध के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए डॉ. शर्मा के जो लेख हैं वह मुक्तिबोध की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद यानी दिसंबर 1969 में प्रकाशित होते हैं। विदित है कि, मुक्तिबोध की मृत्यु 11 सितम्बर, 1964 को 47 वर्ष की आयु में हुई थी। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद ही उनकी कालजयी रचना 'अंधेरे में' का प्रकाशन पहली बार हैदराबाद से निकलने वाली पत्रिका 'कल्पना' में 'आशंका के द्वीप अंधेरे में' शीर्षक से हो पाती है। उनका पहला काव्य - संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (1964) भी उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो पाता है। इससे पहले जो मुक्तिबोध की कविता केवल सीमित क्षेत्र में एवं चुने हुए लोगों में बहुत चर्चित थी, बाद में पूरे साहित्य-जगत में छा-सी जाती है। मुक्तिबोध की चर्चा आधुनिक हिंदी साहित्य के श्रेष्ठतम कवि-चिंतकों में होने लगती है और इसे संयोग ही कहें, कि लगभग इसी दौरान रामविलास शर्मा अपने जीवन की सबसे बड़ी एवं प्रतिष्ठित कृति 'निराला की साहित्य साधना' (1968) खंड-1 के माध्यम से अपने प्रिय कवि निराला को आधुनिक हिंदी साहित्य का श्रेष्ठतम, प्रगतिशील व यथार्थवादी कवि के रूप में सिद्ध करते हैं। इसी दौरान मुक्तिबोध पर लिखे रामविलास शर्मा के आलोचनात्मक निबंध दिसंबर 1969 में 'धर्मयुग' में प्रकाशित होते हैं, जिसमें मुक्तिबोध की कविता का मूल्यांकन करते हुए डॉ. शर्मा उन पर गंभीर आरोप लगाते हैं। उसके बाद 1977 में प्रकाशित 'नई कविता और अस्तित्ववाद' में भी वे पुनः मुक्तिबोध के संबंध में अपनी विशिष्ट शैली में पुनः आक्रमण करते हैं। यह वह समय था जब मुक्तिबोध का साहित्य हिंदी-संसार में अपनी कीर्ति अर्जित करने लगा था और मुक्तिबोध की कविता के अपने पाठक एवं आलोचक भी उत्पन्न हो गये थे। ऐसे समय में रामविलास शर्मा द्वारा मुक्तिबोध की कविता के महत्त्व को कमतर सिद्ध करने का प्रयास करना यह सूचित करता है कि वे कहीं-कहीं उन्हें अपने मार्ग का विरोधी मान चुके थे या अपने प्रिय कवि निराला के समानांतर किसी अन्य कवि को खड़े देखना नहीं चाह रहे थे। शायद इसीलिए डॉ. शर्मा मुक्तिबोध की कविता की संरचना को समझने की क्षमता रखते हुए भी

उनकी कविता की गहराई में उतरना नहीं चाहते या उतरते नहीं हैं। कविता की यथार्थवादी पद्धति की ही व्याख्या करते हुए उनकी कविता को 'आत्मकेंद्रित', 'अस्तित्ववादी' और 'रहस्यवादी' सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

दरअसल, 'तारसप्तक' में जब मुक्तिबोध की कविताएँ प्रकाशित हुई हैं तो डॉ. शर्मा को मुक्तिबोध अन्य कवियों की तुलना में अधिक 'संभावनायुक्त कवि' लग रहे थे। यह वह समय था जब मुक्तिबोध छायावाद और बर्गसाँ के भाववाद को छोड़कर मार्क्सवाद के करीब पहुँच चुके थे। ध्यान दें कि मुक्तिबोध अनायास मार्क्सवादी-दर्शन के करीब नहीं पहुँचते। वे अध्ययन, विश्लेषण के बाद मार्क्सवाद को सबसे उपयुक्त दर्शन मानकर उसे अपनाते हैं। मुक्तिबोध मानते हैं, "मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है; यथार्थ-विकास का, मानव-संज्ञा के विकास का, दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और महत्वपूर्ण है, जीवन तथ्यों की वास्तविकता, जो राजनीति, समाजनीति, कला आदि को उपस्थित करती है।"¹² इसलिए भी डॉ. शर्मा को मुक्तिबोध अन्य मार्क्सवादियों की तुलना में भिन्न नजर आये। डॉ. शर्मा लिखते हैं "मुक्तिबोध तथा अन्य प्रगतिवादियों में अंतर यह था कि उनके लिए मार्क्सवाद एक ऐसी विचारधारा न था जिसे वह आसानी से स्वीकार कर लेते और असुविधा होने पर उतार कर फेंक देते। उनके लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। वह कविता के लिए जीते थे और उनकी कविता की एक बुनियादी समस्या मार्क्सवाद से उनके व्यक्तित्व के संबंध की थी।"¹³

मुक्तिबोध ने अपने काव्य-विकास के बारे में लिखा है, "सन् 1935 में काव्य प्रारंभ किया था, सन् 1936 से 1938 तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। सन् 1938 से 1942 के पांच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसाँनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आंतरिक विनष्ट शांति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसाँ की स्वतंत्र क्रियमाण 'जीवन शक्ति' (e'lan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी। परिणामतः काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने आस-पास ही घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी।"¹⁴ यह कथन आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण का

परिणाम है। इसीलिए वे अपनी शक्ति और सीमा को भी जानते हैं। उन्होंने अपनी भूल-गलतियों से सीखा है। वे आसपास नहीं घूमना चाहते। वे अपनी कविता एवं कहानी की गति को ऊर्ध्वमुखी करना चाहते हैं। इसके लिए वे मार्क्सवादी दर्शन को समर्थ और सक्षम मानते हैं। मगर मार्क्सवाद को समझना, उसके अनुसार आचरण करना एवं उसका कविता में रूपांतरण करना आसान कार्य नहीं है। कठिन कार्य है। इसके लिए वे अपने संचित संस्कारों मान्यताओं को ध्वस्त करना जरूरी समझते हैं। वे सामाजिक-राजनीतिक क्रांति के लिए अपने आपको तैयार करते हैं। उनकी यह तैयारी अत्यंत कठिन, जटिल एवं पीड़ादायक है। इसीलिए वे अपने आत्म, जो निम्नवर्गीय है, से संघर्ष करते हैं। उनका आत्मसंघर्ष वस्तुतः निम्न वर्गीय-चेतना की ओर अग्रसरित है। इसीलिए उनमें आत्मालोचन, आत्मनिरीक्षण के साथ आत्ममंथन है। उनका यह आत्म हमेशा सामाजिक संदर्भों और स्थितियों से जूझता है, ना कि अपने एकांत शून्य में।¹⁵

रामविलास शर्मा मुक्तिबोध की कविताओं पर कई आरोप लगाते हैं। कभी उनकी कविताओं को आत्मकेन्द्रित या व्यक्तिवादी सिद्ध करते हैं तो कभी मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का समन्वय ढूँढ़ते हुए उनकी कविताओं को रहस्यवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। और रहस्यवाद का जो रूप वे अज्ञेय, शमशेर, गिरिजा कुमार माथुर की कविताओं में देखते हैं, थोड़े-बहुत फर्क के साथ वही रहस्यवाद मुक्तिबोध की कविता में भी ढूँढ़ निकालते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि मुक्तिबोध का 'काव्य-यथार्थ' सीधे-सपाट शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं होता बल्कि 'कल्पना के आवरण' ओढ़ कर अपनी अभिव्यक्ति पाता है, शायद इसलिए भी डॉ. शर्मा को मुक्तिबोध रहस्यवादी नजर आते हैं। डॉ. शर्मा कहते हैं "जो लोग यथार्थ पर किसी न किसी रूप में कल्पना का आवरण डालते हैं, वे स्वभावतः कहीं न कहीं, कभी न कभी रहस्यवाद की शरण में आते हैं और इस नव्य रहस्यवाद का कोई क्रांतिकारी दार्शनिक या सामाजिक पक्ष नहीं होता। नये-पुराने रहस्यवाद में यही फर्क है।"¹⁶ मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं के लिए कल्पना, स्वप्न-

पद्धति और फैंटेसी का सहारा लिया है तो इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं कि उनका कोई क्रांतिकारी-दर्शन या सामाजिक-पक्ष नहीं है। क्योंकि मुक्तिबोध की कविताओं का दार्शनिक-आधार ही मार्क्सवाद है। और मुक्तिबोध ने मार्क्सवाद को जितनी गहराई से समझा और अभिव्यक्त किया है, उतना शायद उनके समय के किसी कवि ने नहीं किया है। सच्चाई यह है कि अस्तित्ववादी विचारधारा के साहित्यिक प्रतिफलन के खिलाफ अपने गद्य और कविता में जितना तर्कसंगत और कारगर संघर्ष मुक्तिबोध ने किया उतना उनके युग के किसी शुद्ध मार्क्सवादी पंडित ने नहीं किया।⁷

नामवर सिंह लिखते हैं, “मुक्तिबोध की स्पष्ट धारणा थी कि नई कविता के क्षेत्र में भी, दो दल तैयार हो रहे हैं—एक दल वह है जो उच्च मध्य-वर्ग का अंग है; दूसरे वे हैं जो निचले गरीब मध्य वर्ग से संबंधित हैं। उनकी वर्गीय प्रवृत्तियाँ न केवल उनके काव्य में वरन् साहित्य-संबंधी उनके सिद्धांतों में भी परिलक्षित होती हैं। इसलिए मुक्तिबोध ने इस निचले गरीब मध्यवर्ग से संबंधित नयी कविता के भावबोध का डटकर पक्ष-समर्थन भी किया।”⁸

डॉ. शर्मा का एक आरोप यह भी है कि मुक्तिबोध की कविताएँ आत्मकेन्द्रित होती हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिबोध अपनी कविताओं में अपना ही व्यक्तित्व प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए ‘मुक्तिबोध की कविताओं को उनके व्यक्तित्व से अलग रखकर देखना संभव नहीं है। और कहते हैं, मुक्तिबोध जैसा आत्मकेन्द्रित व्यक्ति स्वयं को कविताओं से अलग नहीं रख सकता था।” डॉ. शर्मा शिकायत भरे स्वर में कहते हैं “मुक्तिबोध के पेचीदा व्यक्तित्व का अध्ययन करते हुए उनके निरंतर बढ़ते मानसिक तनाव को ध्यान में रखना चाहिए, जैसा उनका आत्मकेन्द्रित व्यक्तित्व, वैसा ही आत्मकेन्द्रित काव्य है।” लेकिन मुक्तिबोध उन तमाम प्रगतिवादी कवियों से शिकायत करते हुए कहते हैं कि वे अपनी कविताओं में संपूर्ण मनुष्य और उसके आत्म-संघर्ष को अपने काव्य का विषय नहीं बनाते हैं। मुक्तिबोध कहते हैं “प्रगतिवादी कवियों ने मनुष्य जीवन का केवल राजनीतिक पक्ष उठाया, उसने सम्पूर्ण मनुष्य को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया।”⁹ प्रगतिशील कविता से तात्पर्य यह

बिल्कुल नहीं होना चाहिए कि, वह केवल राजनीतिक-पक्ष का जिन्न करे या नारेबाजी करे या फिर उसमें एक ‘प्रेम बद्ध’ कविता की भाँति हमेशा मजदूर, किसान शब्दों का ही प्रयोग हो। एक प्रगतिशील कवि अपनी कल्पना-शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न बिंबों एवं प्रतीकों के माध्यम से और कभी आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से भी शोषित-वंचित वर्ग की बात कर सकता है।

लेकिन डॉ. शर्मा यह स्वीकार नहीं कर पाते हैं कि मुक्तिबोध की आत्माभिव्यक्ति समाज-सापेक्षी है। वे इस बात को भी स्वीकार नहीं करते हैं कि मुक्तिबोध अपनी कविता के माध्यम से मानव जीवन की संपूर्ण समस्याओं को अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। इस संदर्भ में जनवादी आलोचक चंचल चौहान लिखते हैं, “जो आलोचक मुक्तिबोध की कविताओं के सामाजिक पक्ष को नहीं समझते वे शब्दों के ऊपरी अर्थ को ग्रहण कर उन्हें आत्मकेन्द्रित कवि ही सिद्ध करते हैं।

इस कथन को समझने के लिए मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता ‘अंधेरे में’ में चित्रित ‘प्रेम’ वाली पंक्तियों को लिया जा सकता है। इस कविता में ‘जन-क्रांति’ रूपी प्रेमिका की जरूरत महसूस करते हुए मुक्तिबोध की कविता का काव्य-नायक कहता है....

“घूमता है मन उन भावों के घावों के आस-पास
आत्मा में चमकीली प्यास भर गई है।

जग भर दीखती हैं सुनहली तस्वीरें मुझको
मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में सहसा
प्रेम कर लिया हो मनोहर सुख से
जीवन भर के लिए!!”¹⁰

मुक्तिबोध यहाँ इन शब्दों के माध्यम से प्राचीन मिथकों का कलात्मक-प्रयोग करते हैं, परंतु डॉ. शर्मा इस मिथकीय प्रयोग को समझने की चेष्टा नहीं करते बल्कि शब्दों के केवल ऊपरी अर्थों को ही ग्रहण करते हैं और घोषित कर देते हैं कि यह एक आत्मकेन्द्रित कविता है या फ्रायड की कामचेतना से जुड़ी हुई कविता है।

मुक्तिबोध की कविता का विश्लेषण करते हुए डॉ. शर्मा एक और आरोप लगाते हैं कि मुक्तिबोध की कविता के केन्द्र में ‘व्यक्ति’ है। उनकी जिन कविताओं में ‘मैं’ का

प्रयोग होता है, उन्हें मुक्तिबोध के 'मैं' से जोड़ कर देखना चाहिए। इसी प्रकार मुक्तिबोध की अन्य कविताएँ जैसे कि 'भूल-गलती', 'लकड़ी का रावण', 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन', 'चंबल की घाटी में', और 'अंधेरे में' के काव्य-नायक भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। लेकिन डॉ. शर्मा उनमें भी मुक्तिबोध का व्यक्तित्व ढूँढ़ते हैं। ना कि इन कविताओं के माध्यम से चित्रित सामाजिक-चेतना और वर्गीय-संघर्ष को।

यहाँ तक कि 'कल जो हमने चर्चा की थी' कविता के 'ज्वालामुखियों' को भी डॉ. शर्मा मुक्तिबोध के मन से जोड़ कर देखते हैं। जबकि मुक्तिबोध की यह कविता अपनी समग्रता में 'ज्वालामुखियों' को क्रांतिकारी-सच्चाई के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। इस कविता में एक जगह मुक्तिबोध यह संकेत देते हैं कि इन सत्त्यों में पैठने पर ही 'जीवन की सच्चाई के स्तर' उद्घाटित होते हैं; दैनिक जीवन की अपूर्णता दिखाई देती है।

जीवन की सच्चाई के स्तर,
सही बात के चौड़े पत्थर,
तीव्र वेदना में कैसे गड़गड़ा रहे थे
इन ज्वालामुखियों के भीतर!!¹¹

“दैनिक जीवन की अपूर्णता के मैदानों
की जमीन के नीचे, ऊँचे-ऊँचे कोने
भीतर-भीतर धँसे पहाड़ों के कन्धों के
पहले कभी नहीं दिख पाये-
ज्ञात नहीं था हमें की दृढ़ता
कि टेकड़ी उठी है भीतर
शीश उठाये!!”¹²

मुक्तिबोध का वाचक स्पष्ट शब्दों में कहता है कि 'क्रांतिकारी सत्त्यों से निकले ज्ञान-संवेदनाओं को निंदित करके उस भवितव्य को या जनता की जनवादी-क्रांति को रोक नहीं जा सकता है-

“ज्वालामुखियों से वे फूटे
तो उनको कहते हो लावा!!
लावा कहकर निन्दा करके

कोई उनको रोक न सकते
वह भवितव्य अटल है, उसको
आँधियारे में झोंक न सकते।”¹³

इस कविता की व्याख्या करते हुए जनवादी-आलोचक चंचल चौहान कहते हैं कि “डॉ. रामविलास शर्मा को इतनी स्पष्ट पंक्तियाँ भी 'ज्वालामुखी' का अर्थ न समझा सकीं। दरअसल, वे अवचेतन के सिद्धांत पर जरूरत से ज्यादा भरोसा करते हैं। जहाँ भी कोई कविता या पंक्ति थोड़ी प्रतीकात्मक हुई वहीं वे उसे मुक्तिबोध के मन में छिपे रहस्यवाद या अस्तित्ववाद की तरह व्याख्यायित करने की कोशिश करते हैं, जहाँ सीधे-सीधे नारेबाजी हो, वहीं मुक्तिबोध मार्क्सवाद की सीमा में प्रवेश करते दिखायी देते हैं।” और कहते हैं कि “डॉ. रामविलास शर्मा ने कविताओं की समीक्षा नहीं, 'मुक्तिबोध के मन' की समीक्षा की है।¹¹

इसके अतिरिक्त, और भी कई बिंदु हैं, जहाँ डॉ. शर्मा की पूर्वाग्रह-गस्त आलोचना मुक्तिबोध की कविताई पर निर्मम प्रहार करती है, लेकिन इन सबके बावजूद, कई ऐसे भी संदर्भ हैं, जहाँ वे मुक्तिबोध के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। डॉ. शर्मा कहते हैं “पूँजीवादी व्यवस्था की, जिस स्तर पर भी, उन्होंने आलोचना की है, वह मूल्यवान है। दुर्भाग्य से उनकी अभिव्यक्ति की पद्धति ऐसी है कि वह साधारण पढ़े-लिखे लोगों की समझ में नहीं आती।”¹⁵

यह विडंबना कही जा सकती है कि, जब लगभग इसी तरह के आरोपों का सामना एक समय महाप्राण निराला भी कर रहे थे। तब स्वयं रामविलास शर्मा ने निराला का पक्ष लेते हुए उनके काव्य वैशिष्ट्य को उद्घाटित किया था, और निराला को एक सहज-सरल कवि के रूप में स्थापित किया था। आधुनिक हिंदी साहित्य में निराला के बाद मुक्तिबोध ही सबसे बड़े यथार्थवादी कवि हैं। आश्चर्य होता है कि 'निराला की साहित्य साधना' के प्रणेता कैसे मुक्तिबोध की कविताओं को समझने में भूल कर सकते हैं। डॉ. शर्मा मुक्तिबोध संबंधी अपने पूर्वाग्रह छोड़ उन्हें समझने की कोशिश भी करते तो मुक्तिबोध को अपने प्रिय कवि निराला के बहुत करीब पाते, विचारधारा की दृष्टि से और कला की दृष्टि से भी।

दरअसल, “एक कवि की सशक्त अभिव्यक्ति जब काफी लोकप्रिय हो जाती है, तो उसका शिल्प और भाषा आगे चलकर उसकी अभिव्यक्ति की बेड़ी होने का खतरा बन जाती है। उसी तरह एक समीक्षक जब किसी महान कवि की सृजन समीक्षा से साहित्य-जगत में अपना स्थान बना लेता है, तब उस पर भी एक खतरा मंडराता रहता है कि कहीं वह उस कवि की अभिव्यक्ति शैली और जीवन-दृष्टि में बँध न जाय। कारण सृजनात्मक समीक्षा समीक्षित कवि से तादात्म्य स्थापित किये बिना संभव ही नहीं। हिंदी साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसके महत्वपूर्ण आलोचक इस खतरे से अपने आपको बचा न सके। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तुलसीदास के काव्य-प्रतिमानों से ही कबीर और छायावाद को समझने-परखने चले। परिणाम यह निकला कि वे न केवल नाकाम हुए, अन्याय भी कर बैठे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर की आलोचना लिखने के बाद लगभग आलोचना को तिलांजलि दे कर उपन्यास के क्षेत्र में उतर पड़े। ऐसे ही डॉ. रामविलास शर्मा के साथ हुआ। वे निराला की रचना-प्रक्रिया और उसके प्रभाव से मुक्त न हो सके। परिणामस्वरूप मुक्तिबोध की कविता को समझने में असफल रहे।”¹⁶

फिर भी ऐसे कुछ बिंदु हैं, जिनकी ओर रामविलास शर्मा ने अपने समकालीन साहित्य-चिंतकों एवं आलोचकों का ध्यान दिलाया है, ताकि वे उन बिंदुओं पर भी विचार कर मुक्तिबोध के साहित्य को समग्र रूप से एवं सही ढंग से समझने के लिए प्रेरित हो सकें, जैसे- क्या कारण है कि मुक्तिबोध शोषित-पीड़ित जनता के प्रति वैचारिक सहानुभूति रखते हुए भी अपनी कविता में उनके बीच के जीवंत पात्रों की सृष्टि क्यों नहीं कर पाये? क्या कारण है कि मुक्तिबोध की कविता में किसान-जीवन एकदम अछूता रह जाता है? और क्या कारण है कि मुक्तिबोध ने नितांत साहित्यिक भाषा का चुनाव किया और अपनी बाद की रचनाओं के लिए फैंटेसी जैसे अमूर्त और जटिल रूप-विधान का चुनाव किया आदि।

संक्षेप में, यह रामविलास शर्मा के पूर्वाग्रह का ही परिणाम था कि उन्हें मुक्तिबोध की कविता में मनो-विश्लेषणवाद, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का सामंजस्य नजर आता है। वास्तविकता यह है कि मुक्तिबोध की कविता ना तो रहस्यवादी है और ना ही अस्तित्ववादी। मुक्तिबोध की कविता तो ‘फैंटेसी’ शैली में लिखी ‘विराट विजन’ की प्रस्तुति है, जिसके मूल में मार्क्सवादी-चेतना है। उनकी कविताओं में जो आत्मसंघर्ष दिखता है वह मार्क्सवाद से प्रभावित है। मुक्तिबोध की कविता का ‘आत्म’ सर्वहारा वर्ग की अस्मिता की तलाश करता है।

संदर्भ:

1. हिन्दी के प्रहरी डॉ. रामविलास शर्मा, सं. विश्वनाथ त्रिपाठी एवं अरुण प्रकाश, पृ. 198
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग 5, सं. नेमीचंद्र जैन, पृ. 136
3. नई कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा, पृ. 168
4. नई कविता का आत्मसंघर्ष, ग. माधव मुक्तिबोध, पृ. 183
5. हिन्दी के प्रहरी डॉ. रामविलास शर्मा, सं. विश्वनाथ त्रिपाठी एवं अरुण प्रकाश, पृ. 201
6. नई कविता और अस्तित्ववाद, पृ. 85 6
7. मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब, चंचल चौहान, पृ. 156
8. कविता के नये प्रतिमान, नामवर सिंह, पृ. 93
9. मुक्तिबोध रचनावली, भाग 5, सं. नेमीचंद्र जैन, पृ. 136
10. गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रतिनिधि कविताएँ, अशोक वाजपेयी, पृ. 169
11. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. 126
12. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. 126
13. चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. 126
14. मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब, चंचल चौहान, पृ. 152
15. नई कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा, पृ. 254-55
16. गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रतिनिधि कविताएँ, अशोक वाजपेयी, पृ. 204

संपर्क : 09440941501

अज्ञान के राक्षस के विकृति : ब्रह्मराक्षस

सुधीर रंजन सिंह

पटना कॉलेज पटना से लेकर जे. एन. यू. दिल्ली तक का शैक्षणिक सफर। अब तक 'और कुछ नहीं तो, 'मोक्षधारा' (कविता संग्रह), भर्तृहरि: 'कविता का पारस पत्थर' (काव्य अनुरचना), 'हिन्दी समुदाय और राष्ट्रवाद' तथा 'कविता के प्रस्थान' आलोचना पुस्तकों का प्रकाशन। संप्रति: साहित्यिक रचना एवं आलोचना से सम्बद्ध।

पिस गया वह भीतरी

औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच,

ऐसी ट्रेजेडी है नीच!!

भीतरी और बाहरी दो संसार, और एक व्यक्ति में एक अन्य व्यक्ति- यह भौतिक पूर्वाधारों से सम्बद्ध उच्चन्तर मानवीय अवबोधन है, जिसका कल्पना की सभी सम्भावनाओं में अस्तित्व होता है। 'भीतरी संसार' या 'एक अन्य व्यक्ति' घिसी-पिटी प्रत्याशाओं से भिन्न मनःऊर्जा का एक ऐसा पैटर्न है जिसे मनोविज्ञान अवचेतन की क्रीड़ा कहता है और कलात्मक उद्योगों में इसकी पहचान चामत्कारिक सृष्टि (फैण्टेसी) के रूप में की जाती है। यह 'भीतरी' या 'अन्य' विशेष सांस्कृतिक संयोजनों में बाहरी संसार और लौकिक व्यक्ति के परिष्कार के विचार का वस्तुकरण है।

वस्तुतः सामान्य रूप से जिसे परिपक्व मनुष्य कहते हैं, उसकी 'चेतना' (सेंस) मनःकोश को भरने के लिए घिसी-पिटी पद्धति का सहारा लेती है। हममें से अधिकांश लोग मनःकोश की संग्रहण-क्षमता की तुलना में अपनी चेतना का उपयोग बहुत कम करते हैं। वे भोजन में एक निश्चित स्वाद के अभ्यस्त होते हैं, बोलने-बतियाने की एक रूढ़ शैली का इस्तेमाल करते हैं और देखे-समझे जाने योग्य वस्तुओं को नज़रअंदाज़ कर देते हैं। वे उपस्थित वस्तुओं से टकराने और घुलने-मिलने की जहमत नहीं उठाते। उनका अधिकांश काम कुछ मामूली प्रेरणाओं और रूढ़ व्यवहार से चल जाया करता है। वैसे में, उनमें किसी 'भीतरी' और 'अन्य' की सम्भावना दबी रह जाती है, और दुनियादारी की दृष्टि से इसे उचित माना जाता है। बावजूद इसके, सभी समयों में कुछ ऐसे मनुष्य अवश्य पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने वैसी चिंतन शैली विकसित की अथवा कल्प-सृष्टियाँ रचीं, जिसके कारण 'दूसरा संसार' और एक व्यक्ति में

‘अन्य’ व्यक्ति की किंवदंती सत्य प्रतीत हुई। ऐसे लोगों के कार्यों में ‘प्रामाणिक’ और ‘उच्चतर यथार्थ’ के संकेत देखे गये। ये तो ‘प्रतिभा’ का उदाहरण हुआ। मामूली दिखाई पड़ने वाले कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो गहराई से जीवन-जगत् को आत्सात् करते हुए अपनी आत्मा की आवाज़ में ‘उच्चतर यथार्थ’ का साक्षात्कार करते हैं।

मुक्तिबोध में ‘प्रतिभा’ और वह मामूली आदमी, जो ‘आत्मा की आवाज़’ सुनता है, दोनों हैं। एक औसत लेखक भी कभी-कभी आत्मा की आवाज़ सुनकर कुछ लिख दिया करता है, लेकिन निरंतर आत्मा की आवाज़ सुनने वाले और उस आवाज़ के आदेश पर चलने वाले बिरले ही होते हैं। मुक्तिबोध की कहानी ‘क्लाड ईथरली’ के गुप्तचर पात्र का कथन है, “जो आदमी आत्मा की आवाज़ कभी-कभी सुन लिया करता है और उसे बयान करके उससे छुट्टी पा लेता है, वह लेखक हो जाता है। आत्मा की आवाज़ जो लगातार सुनता है, और कहता कुछ नहीं है, वह भोला-भाला सीधा-सादा बेवकूफ है। जो उसकी आवाज़ बहुत ज्यादा सुना करता है और वैसा करने लगता है, वह समाज-विरोधी तत्त्वों में यों ही शामिल हो जाया करता है। लेकिन जो आदमी आत्मा की आवाज़ ज़रूरत से ज्यादा सुनकर के हमेशा बेचैन रहा करता है और उस बेचैनी के भीतर के हुक्म का पालन करता है, वह निहायत पागल है। पुराने ज़माने में सन्त हो सकता था। आजकल उसे पागलखाने में डाल दिया जाता है।” मुक्तिबोध की ‘प्रतिभा’ को यह ‘पागलपन’ स्वीकार है। ‘पक्षी और दीमक’ कहानी में उनका कथन है, और यही अंतिम निर्णय भी, “जहाँ मेरा हृदय है, वहीं मेरा भाग्य है।”

मुक्तिबोध की कविता में सबसे मुख्य और गम्भीर प्रश्न है मानव-मुक्ति का। उनकी कहानियों का भी केन्द्रीय विषय यही है (‘उस भगवे खदर कुरते वाले से मेरा छुटकारा कब होगा, कब होगा!’ – पक्षी और दीमक)। शोषकों के वर्ग से छुटकारे के प्रश्न और उसकी बेचैनी से उद्भिद् है उनकी आत्मा की आवाज़। निरंतर पुकार की तरह सुनाई पड़ने वाली आवाज़। वैसी पुकार की तरह जो समस्त क्षत-विक्षत जीवन-प्रसंगों से टकराकर स्वयं भी क्षत-विक्षत होकर जीवन को सँवारने वाली प्रेरणा को

लेकर उठती है :

किसी उजाड़ प्रान्त के
विशाल रिक्त-गर्भ-गुम्बजों घिरे
विहंग जो
अधीर पंख फड़फड़ा दिवाल पर
सहायहीन बद्ध-देह, बद्ध-प्राण
अरे, नवीन मार्ग पा खुला हुआ
तुरन्त उड़ गये सुनील व्योम में अधीर हो।
मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई वहीं
सँवारती हुई मुझे
उठी सहास प्रेरणा
प्रभात भैरवी जगी अभी-अभी।

(मुझे पुकारती हुई पुकार)

इस ‘सहास प्रेरणा’ के पीछे उत्कट परिवर्तनकारी विचार से सम्पन्न संवेदना का उद्रेक है।

मुक्तिबोध की कविता में परिवर्तनकारी विचार से सम्पन्न संवेदना का उद्रेक वह सर्जना-परिस्थिति है जिसके भीतर विलक्षण चित्र और चरित्रों की रचना होती है। वैसे चित्र और चरित्र जो अपने निर्वैयक्तिक अस्तित्व में अतिरिक्त चेतना-क्रिया की उपलब्धि के रूप में पहचाने जाते हैं।

मुक्तिबोध ने लिखना 1935-36 के आसपास से शुरू किया, लेकिन कविता में उनका जैसा ऊँचा कद है, उस हिसाब से उनकी पहली परिपक्व कविता है ‘मुझे पुकारती हुई पुकार’। यह कविता 1947 की है। नेमिचन्द्र जैन ने ‘मुक्तिबोध रचनावली’ में 1935 से 1956 तक के काल के बारे में लिखा है, “एक तरह से कहा जा सकता है कि यह कवि-रूप में मुक्तिबोध की तैयारी का काल है जिसमें वह अपना निजी मुहावरा खोज रहे थे, बना रहे थे और उसे माँज रहे थे।” बीस-बाईस वर्षों का रचना-काल स्वयं में कोई कम लम्बा नहीं होता। परवर्ती उपलब्धियों की ऊँचाई को देखकर ही नेमि जी ने इसे तैयारी का काल कहा होगा। इस काल को भी उन्होंने तीन हिस्सों में बाँटा है- 1935-1938, 1940-1948 और 1949-1956। प्रथम हिस्सा तो सचमुच प्रारम्भ करने जैसा ही है। दूसरे की उपलब्धि हैं ‘मुझे पुकारती हुई पुकार’ और कुछ-कुछ ‘हे प्रखर सत्य’। तीसरे हिस्से में मुख्य कविताएँ हैं- ‘मुझे

याद आते हैं', 'सूखे कठोर नंगे पहाड़', 'जिन्दगी का रास्ता', 'सूरज के वंशधर' और 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे'। उनकी वास्तविक और बड़ी उपलब्धियों का दौर है- 1959 से 1964 के बीच का। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की अधिकांश कविताएँ ('मुझे पुकारती हुई पुकार', 'मुझे याद आते हैं', और 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' को छोड़कर) इसी दौर की उपलब्धि हैं।

मुक्तिबोध की उपलब्धियों की भी उपलब्धि है- 'ब्रह्मराक्षस', 'अँधेरे में' और 'चम्बल की घाटी में'। मानो इन्हीं कविताओं को लिखने के लिए उनका आत्मसंघर्ष था। 'ब्रह्मराक्षस' और 'अँधेरे में' का लेखन भी बिल्कुल युगपत् है। इन दोनों के बाद की आखिरी महत्त्वपूर्ण कविता है- 'चम्बल की घाटी में'। इन तीनों कविताओं में बाह्य और भीतरी के विकट संघर्ष के भीतर वैचारिक उथल-पुथल और निविड़ भावावेगों का चित्रात्मक एवं चरित्रात्मक विस्तार है।

यह सामान्य धारणा है कि मुक्तिबोध की एक कविता के सूत्र दूसरी में मौजूद होते हैं। न केवल कविता में, बल्कि वे सूत्र उनकी कहानियों, डायरी और आलोचनात्मक निबन्धों में भी ढूँढ़े जा सकते हैं। 'दिमागी गुहान्धकार का ओराँग-उटाँग' और 'ब्रह्मराक्षस' को उदाहरण के रूप में रखें तो मुक्तिबोध अपनी एक कविता के सिद्धांत का दूसरी में विपरीत सिद्धांत रचने का कार्य भी करते हैं। ओराँग-उटाँग और ब्रह्मराक्षस, दोनों का निवास-स्थल मानव-मस्तिष्क है। ओराँग-उटाँग जहाँ बर्बरता और क्रूरता का प्रतीक है, वहीं ब्रह्मराक्षस अपनी विडम्बनाओं में भी सकारात्मक बौद्धिकता का। दोनों का बौद्धिक समुदाय से गहरा रिश्ता है।

ब्रह्मराक्षस मन की निविड़ गहराइयों में ज्ञान-संवेदना की सम्पन्नता का द्योतक है। उसका सृजन की उस प्रक्रिया से गहरा रिश्ता है जिसमें अनुभव फैण्टेसी में रूपान्तरित होता है और फैण्टेसी कला में। 'तीसरा क्षण' में मुक्तिबोध लिखते हैं, "मुझे लगता है कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है, अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वयं को डर लगता है। इस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ।"

ब्रह्मराक्षस जिस बावड़ी की गहराइयों में बैठा है, उसका वर्णन इससे बहुत ही मिलता-जुलता है :

शहर के उस ओर खँडहर की तरफ

परित्यक्त सूनी बावड़ी

के भीतर

ठण्डे अँधेरे में

बसीं गहराइयाँ जल की...

सीढ़ियाँ डूबीं अनेकों

उस पुराने घिरे पानी में...

समझ में आ न सकता हो

कि जैसे बात का आधार

लेकिन बात गहरी हो।

बात की गहराई में धँसना मुक्तिबोध के काव्य-संघर्ष में शामिल है। बेशर ने लिखा है, "कलाकार को चिन्तक का सखा होना चाहिए या फिर उसे चिन्तक ही होना चाहिए, एक चिन्तक कलाकार।" मुक्तिबोध चिन्तक के सखा हैं, उसका शिष्य होना चाहते हैं और स्वयं भी चिन्तक हैं। ब्रह्मराक्षस प्राचीन लोककथाओं, वैदिक ऋचाओं से लेकर अधुनातन चिन्तन के व्याख्यान में प्रवृत्त है :

और, तब दुगने भयानक ओज से

पहचान वाला मन

सुमेरी-बैबिलोनी जन-कथाओं से

मधुर वैदिक ऋचाओं तक

व तब से आज तक के सूत्र

छन्दस्, मन्त्र, थियोरम,

सब प्रमेयों तक

कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टॉएन्बी

कि हीडेगगर व स्पेंगलर, सार्त्र गाँधी भी

सभी के सिद्ध-अन्तों का

नया व्याख्यान करता वह

नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम

प्राक्तन बावड़ी की

उन घनी गहराइयों में शून्य।

ब्रह्मराक्षस सब पण्डितों, चिन्तकों और गुरुओं के पास भटका है, और असफल है। उसने विचारों में गहराई से पैठने की कोशिश की और महत्तम की प्रत्याशा में उनको

आत्मसात् करते हुए उनकी नयी व्याख्या भी की; और यह सब उसने पागलपन की ट्रैजिडी को स्वीकार करते हुए किया है। कवि उसी ब्रह्मराक्षस का शिष्य होना चाहता है, उसके अधूरे कार्य को पूरा करना चाहता है।

ब्रह्मराक्षस का अन्तर जितना विचार-बिद्ध है उतना ही नया समय अर्थ-बद्ध। इसी स्थिति ने उसके मन को विषादाकुल कर रखा है। इस हद तक विषादाकुल कि-
'पिस गया वह भीतरी/ औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच/
ऐसी ट्रैजेडी है नीच!!'- एक युद्ध बाहरी है, एक युद्ध भीतरी है। बाहरी युद्ध अच्छे और बुरे के बीच का है, भीतरी अच्छे और उससे अच्छे का है। इस युद्ध में सफलता थोड़ी और असफलता अधिक है। ब्रह्मराक्षस की असफलता भी भव्य है। भव्य-विराट स्वप्नों की असफलता है वह।
बुरे-अच्छे-बीच के संघर्ष

से भी उग्रतर

अच्छे व उससे अधिक अच्छे बीच का संगर

गहन किंचित् सफलता,

अति भव्य असफलता!!

...अतिरेकवादी पूर्णता

की ये व्यथाएँ बहुत प्यारी हैं...

ज्यामिदिक संगति-गणित

की दृष्टि से कृत

भव्य नैतिक मान

आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक भान...

...अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना

कब रहा आसान

मानवी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं!!

'अतिरेकवादी पूर्णता' के स्वप्न में भी 'आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक भान' है। यानी इसमें वर्जना की कुण्ठाएँ नहीं हैं। इस तरह के स्वप्न पूरे कभी न हों, लेकिन मानवी अन्तर्कथा के रूप में होते प्यारे हैं। दुनिया के तमाम मुक्तिकामी प्रयास मानवी अन्तर्कथाओं की प्रेरणा से हुए हैं। इसलिए अतिरेकवादी स्वप्न जितना भी आलोच्य हों, उनका क्रांतिकारी मूल्य है। उनमें मुख्य चीज़ है भावनाओं की बेचैनी।

भावनाओं की बेचैनी और उत्तेजना की वह चीज़ थी जिसने मायकोव्स्की को युवा वर्ग का नायक बनाया था।

लेनिन को मायकोव्स्की पसन्द नहीं थे। स्वयं लेनिन ने अपनी बेचैनी और उत्तेजना को क्रांतिकारी व्यवहार से नियंत्रित कर रखा था, लेकिन यह एक कवि के लिए सम्भव नहीं था। उसे अपनी बेचैनियों और उत्तेजना से लगाव था। मायकोव्स्की लेनिन पर लिखी अपनी कविता में भी भरपूर उत्तेजनाओं का परिचय देता है :

यहाँ, पताकाओं पर कढ़े सब नारे

सोचे और शब्दों में बाँधे थे उसने

यहाँ हर मीनार से तालियाँ पीटी हैं उसके भाषणों पर,

उसके पीछे-पीछे चलने को तैयार थी

हर मीनार सख्त और तनी हुई,

यहाँ लेनिन जाना जाता था

कार्यकर्ता और अधिकारी-दोनों रूपों में।

बिछे हैं दिल, जैसे स्पूस वृक्ष की टहनियाँ, उसकी राह में!

ब्रह्मराक्षस में एक असफल लेनिन है। उसकी सम्भावनाएँ

अब सिर्फ मंत्र-ध्वनियाँ हैं, 'पागल प्रतीकों में कही जाती

हुई'। ज़माने भर से छुपी सूनी बावड़ी में ट्रैजिडी बनकर

अड़ी हुई ध्वनियाँ! उन्हें टगर और करौंदी के फूल सुनते

हैं, प्राचीन औदुम्बर सुनता है और कवि सुनता है :

बावड़ी की इन मुँडेरों पर

मनोहर हरी कुहनी टेक

सुनते हैं

टगर के पुष्प-तारे श्वेत

वे ध्वनियाँ!

सुनते हैं करौंदी के सुकोमल फूल

सुनता है उन्हें प्राचीन औदुम्बर

सुन रहा हूँ मैं वहीं

पागल प्रतीकों में कही जाती हुई

वह ट्रैजेडी

जो बावड़ी में अड़ गई।

असल में ट्रैजिडी का उत्स कहाँ है? ब्रह्मराक्षस में प्राचीनता के अवशेष हैं। उसमें गुरुता का अतिरिक्त अहसास है और स्वतंत्रता के वैयक्तिक विचार ने घर कर रखा है। यह उसके सपनों को साकार करने में एक बड़ी बाधा है।

ब्रह्मराक्षस के अन्तर्विरोधों को कविता में स्वीकार किया गया है। वह 'आत्मचेतस' तो है, किन्तु उसकी विश्वदृष्टि

‘बे-बनाव’ है। इसलिए उसके व्यक्तित्व में गहरा अनबन है। उसमें गहरा पाप-बोध भी है। लेकिन इसके बावजूद वह पराजित नहीं है। इसलिए कि उसमें आत्म-स्वीकार भी है :

बावड़ी में वह स्वयं

पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा

वह कोठरी में किस तरह

अपना गणित करता रहा

औं’ मर गया...

कवि के सामने गम्भीर प्रश्न है- ‘यह क्यों हुआ!’ वही प्रश्न जिसका उत्तर बीच-बीच में वह देता आया है। यह वही प्रश्न है जो मुक्ति-मार्ग ढूँढ़ने से जुड़ा है और जिसमें आत्म-विभ्रमों के निवारण का भी प्रयास है।

मुक्तिबोध को ब्रह्मराक्षस की एक ही चीज़ आकर्षित करती है, वह है उसकी ज्ञान-उत्तेजना। आलोचनात्मक स्तर पर सही, लेकिन उसकी इस शक्ति का स्वीकार होना चाहिए। मार्क्स ने लिखा है, “अनभिज्ञता वह राक्षस है जो, हमें डर है, कई त्रासदियों का कारण बनेगा।” ब्रह्मराक्षस अज्ञान और अनभिज्ञता के राक्षस के विरुद्ध ज्ञान का राक्षस है। ज्ञान का यही राक्षस हमें इतिहास की वास्तविक त्रासदियों से बचने में मदद करता है।

ब्रह्मराक्षस एक मिथक है। प्रेत-योनि प्राप्त करने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मराक्षस कहते हैं। इस मिथक को मुक्तिबोध

ने ज्ञान-उत्तेजना की उन्नत फैण्टेसी में रूपान्तरित किया है। जैसे उन्होंने मानव-मस्तिष्क में सक्रिय बर्बरता और क्रूरता को ओराँग-उटाँग का रूप दिया है, वैसे ही ज्ञान की बेचैनी और उत्तेजना को ब्रह्मराक्षस के रूप में मूर्त किया है। ओराँग-उटाँग का उनकी कविता में अर्थ की संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है। ब्रह्मराक्षस, अपने अन्तर्विरोधों के बावजूद, एक सकारात्मक सिद्धांत है- ओराँग-उटाँग की बर्बरता के विरुद्ध सिद्धांत।

ब्रह्मराक्षस स्वयं मुक्तिबोध के कवि की ज्ञान-उत्तेजनाओं को भी प्रतिबिम्बित करता है। कवि के लिए ब्रह्मराक्षस की व्यथा और उसकी आन्तरिकता प्यारी है। वह उसकी वेदना के स्रोत को सुसंगत एवं पूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचाना चाहता है। यानी कवि वह करना चाहता है, जो ब्रह्मराक्षस नहीं कर सका। स्वयं ब्रह्मराक्षस क्यों नहीं कर सका ? ब्रह्मराक्षस की महत्ता उसकी ‘आन्तरिकता’ में है तो यही आन्तरिकता उसका दोष भी है। उसकी निविड़ आन्तरिकता का आधार है उसका यह विश्वास कि उसके युग का मनुष्य उसकी चेतना का अनुभव नहीं कर सकता। जब कवि ब्रह्मराक्षस की वेदना के स्रोतों को सुसंगत और पूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचाने की इच्छा व्यक्त करता है तो उसमें यह भाव भी पढ़ा जाना चाहिए कि वह उसकी अन्तर्बद्धता को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। यही प्रयत्न ‘अँधेरे में’ कविता में ‘अभिव्यक्ति की खोज’ के रूप में दिखाई पड़ता है।

संपर्क :

65, शुभालय विला,
पिपलानी, भोपाल-462022
मो.: 094065-42866

‘कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं’: एक विश्लेषण

लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

शोध छात्र, हिंदी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

जमाने-भर का कोई इस कदर अपना न हो जाए
कि अपनी ज़िन्दगी खुद आपको बेगाना हो जाए।
गरीबुद्दहर थे हम; उठ गए दुनिया से; अच्छा है...
हमारे नाम से रौशन अगर वीराना हो जाए!

ये पंक्तियाँ शमशेर बहादुर सिंह की उस कविता का अंश हैं, जिसे उन्होंने गजानन माधव मुक्तिबोध के लिए लिखी है। ये पंक्तियाँ अपने समय के कवि द्वारा अपने समानधर्मी कवि के जीवन चित्र को प्रस्तुत करती हैं। कह सकते हैं कि शमशेर ने कला और कविता के लिए जितना खुद को खपाया, शायद उससे कहीं ज्यादा मुक्तिबोध को खपते देखा। यही वजह है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ मुक्तिबोध के वैयक्तित्व का जितना विराट फलक गढ़ती हैं, उतनी ही एक कवि की त्रासदी भी बयाँ करती हैं। हिंदी साहित्य में किसी कवि का त्रासद स्थितियों में खप जाना कोई नई बात नहीं है। स्वयं मुक्तिबोध जिस कवि की परंपरा के सच्चे वाहक थे, वह कवि (निराला) भी श्रेष्ठतम प्रस्तुत करने के बावजूद विक्षिप्तावस्था का शिकार हो गया। हमारा पूरा-का-पूरा समाज हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। ध्यान रहे कि पंक्ति-लेखक का इरादा कवियों की त्रासदी का इतिहास बताना हरगिज़ नहीं है। उसे तो हर पाठक पढ़ते हुए अनुभव करता ही है। मुक्तिबोध की कविता ‘कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं’ के माध्यम से एक जेनुइन और प्रोग्रेसिव कवि के संघर्ष और उसके समय के साथ-साथ अपने समय की जाँच-पड़ताल का छोटा-सा प्रयास कर रहा हूँ।

दो सौ अठारह पंक्तियों की यह कविता छः हिस्सों में बँटी है। नेमिचंद जैन ने मुक्तिबोध रचनावली में इस कविता का रचनाकाल 1954-1962 ई. के बीच स्वीकार किया है। इस कविता का अंतिम संशोधित रूप 1962 ई. का है, जबकि यह 1955 ई. में ‘नयी दिशा’ और ‘काव्यधारा’ में प्रकाशित हो चुकी थी। ये सारे हिस्से एक-दूसरे से शृंखलाबद्ध हैं। यहाँ भी आप पायेंगे कि मुक्तिबोध की कविताओं पर जो यह आरोप लगता है (विशेषकर- ‘अँधेरे में

पर) कि ये कविताएँ फैंटेसी के बहाने से एक रेखा में न होकर बिखरी-बिखरी मालूम पड़ती हैं, किन्तु इन कविताओं को कई बार पढ़ने पर यह भ्रम खत्म हो जाता है। मैं दरअसल, मुक्तिबोध को एक ऐसा कवि मानता हूँ जिसकी यात्रा सीधे उद्देश्य की तरफ आँख टिकाये नहीं चलती; बल्कि अपने दौंये-बाँये पड़ने वाले सारे परिवेश को समेटती चलती है। यही वजह है कि अपने समकालीनों में उनकी कविता ज्यादा प्रखर, विस्तृत और बहुआयामी है। वह परंपरा के साथ ही अपने समय में बनते-बिगड़ते इतिहास को भी समेटती चलती है। केदारनाथ सिंह ने कहा भी है, “मुक्तिबोध की कविताएँ अपने समय के जीवंत इतिहास को कविता में बदलने की कठिन चुनौती का सामना करने वाली कविताएँ हैं।” अब मुक्तिबोध को पढ़ते हुए यह समझा जा सकता है कि वे किस भाँति अपने समय को देख रहे थे? और साथ ही कविता में गढ़ रहे थे कुछ और आँखें जिनके सहारे हम देख सके, अपने समय को। मुक्तिबोध कविता के सहारे एक ऐसा शास्त्र रच रहे थे जो समय और समाज की विसंगतियों को पहचानने में आम आदमी की मदद कर सके, उसे होने वाले षड्यंत्र की भनक दे और आने वाले संघर्ष के लिए तैयार कर सके। यही वजह है कि जहाँ हमारे समय की समस्याओं की पहचान उसमें मौजूद है। वहीं एक ऐसी दुनिया की निर्मिति की ख्वाहिश भी जहाँ आदमी सिर्फ आदमी हो; उसकी शक्ति में जानवर या पिशाच नहीं।

इस कविता में भी दो वर्ग हैं- एक वर्ग के लिए जीवन-कर्म-सफलता के मापदंड अलग हैं और दूसरे वर्ग के लिए अलग। मुक्तिबोध स्वयं को और समाज में रह रहे आम-आदमी को दूसरे वर्ग में रखते हैं। यह दूसरा वर्ग जीवन-कर्म-सार्थकता के मापदंड पर गतिशील है। हम मुक्तिबोध के वर्ग को या उस वर्ग की लड़ाई लड़ती रचना को आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा में ‘साधनावास्था’, तो रिचर्ड्स के शब्दों में ‘अंतर्वेशी’ काव्य कह सकते हैं। इस तरह के काव्य की रचना उच्च कोटि का सर्जक ही कर सकता है। एक ऐसा सर्जक जो हानि-लाभ, सुख-दुःख, यश-अपयश, जीवन-मृत्यु आदि की सीमाओं से परे हो। उसका जीवन, उसकी कथाएँ, उसके पात्र ‘विरुद्धों का

सामंजस्य’ के बीच से साकार होते हों। मुक्तिबोध यह सबकुछ संभव करके चलने वाले सर्जक थे, इसीलिए वे दिशासूचक भर नहीं, बल्कि दिशा-बोधक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। वे कविता की शुरुआत कुछ यूँ करते हैं:-

कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं / सफल जीवन बिताने में हुए असमर्थ तुम! / तरक्की के गोल-गोल / घुमावदार चक्करदार / ऊपर बढ़ते हुए जीने पर चढ़ने की / चढ़ते ही जाने की / उन्नति के बारे में / तुम्हारी ही ज़हरीली / उपेक्षा के कारण, निरर्थक तुम, व्यर्थ तुम!!

यह पहले वर्ग में शामिल कलमकार की टिप्पणी है, मुक्तिबोध के संदर्भ में। एक ऐसे कलमकार की जिसके लिए सफलता के मायने बेहद ही स्थूल हैं। ऐसा भी नहीं है कि ऐसे कलमकारों की जमात सिर्फ मुक्तिबोध के दौर में रही है, बल्कि इतिहास का हर दौर ऐसे लोगों से पटा पड़ा है। हमारे अपने समय में भी यह जमात ज्यादा सक्रिय है। जिसका उद्देश्य आड़ा-तिरछा, औना-पौना कुछ भी लिखकर यश-वैभव-विलास को प्राप्त करना है। लेकिन, बात सिर्फ इतनी हो तो कोई विशेष चिंता नहीं। यह जमात रचना और जीवन दोनों में बहुरूपिया की अदाकारी करने का भी हुनरमंद है। यह जन और समाज के सम्मुख जितना प्रगतिशील है, जीवन और व्यवस्था का उतना ही अधिक शिकार। यहाँ ध्यान दिया जाना चाहिए कि सफलता का ‘जीना’ ‘गोल-गोल घुमावदार चक्करदार’ है यानी किसी केन्द्रक की परिधि। केन्द्रक यानी सत्ता व्यवस्था, पूँजी, रूढ़ि, जात, धर्म, क्षेत्र आदि। लेकिन, मुक्तिबोध केन्द्रक के चक्कर लगाने में नहीं, बल्कि उसे ढाहने में संघर्षरत हैं, और शायद इसीलिए ‘उन्नति’ के ज़हरीली उपेक्षा’ के कारक हैं। बहुरूपियों के दल में शामिल न होने की वजह से, यश-वैभव-विलास का संवरण न करने की वजह से मुक्तिबोध उनकी नज़र में निरर्थक और व्यर्थ हैं। मुक्तिबोध उन्नति, प्रतिष्ठा और सफलता से पटाक्षेप करते हुए लिखते हैं-

‘उन्नति’ के क्षेत्रों में, ‘प्रतिष्ठा के क्षेत्रों में / मानव की छाती की, आत्मा की, प्राणों की! / सोंधी गंध / कहीं नहीं, कहीं नहीं / पूनो की चाँदनी यह सही नहीं, सही नहीं / केवल मनुष्यहीन वीरान क्षेत्रों में / निर्जन प्रसारों पर /

सिर्फ एक आँख से / 'सफलता' की आँख से / दुनिया को निहारती फैली है / पूनों की चाँदनी।

दरअसल, उन्नति और प्रतिष्ठा के क्षेत्र; खाये-अघाये हुए लोगों की निर्मिति है। जहाँ मानवता के तमाम मूल्य दरकिनार कर दिये गये हैं। मनुष्यता को सुरभित करने वाली सोंधी गंध शारीरिक अवयवों के साथ-साथ व्यक्तित्व से भी पलायन कर चुकी है। ऐसे ही निर्जन प्रसारों पर फैली हुई पूनों की चाँदनी घुग्घू, ओं, चमगादड़ों, प्रेतों-पिशाचों और जंगली सियारों के लिए है। आमजन इस चाँदनी से महदूद है। उसकी पहुँच से अब भी बहुत दूर है ये रौशनी। वैसे भी जो रौशनी मनुष्यता की हत्या कर फैले, उसका प्रसार सभ्यता नियामक मनुष्य जाति की ओर नहीं होना चाहिए। यहाँ यह बात विशेष रूप से गौरतलब है कि यह कविता कहीं-न-कहीं स्वतंत्र-भारत की नई आबोहवा से रूबरू कराती है, जहाँ आगमन के सपनों, खुली हवाओं, अपनी जमीन और आकाश के हिस्सों को भी नये तरह से पूँजीवाद ने अपनी गिरफ्त में लिया। जहाँ अंग्रेजों के जाने या कहें कि अंग्रेजी राज की मृत्यु के बाद उनके तथाकथित उत्तराधिकारियों ने बंदरबाँट शुरू कर दी। देश के नाम पर रचने-मरने वालों ने अपनी रोटी सेंकनी शुरू कर दी। पूर्व से तय सारे वृहत्तम उद्देश्य कहीं पीछे छूटते चले गये। निजी स्वार्थों ने नये वातावरण में अपनी घुसपैठ कर ली। नतीजतन पूर्व की भाँति अपने संघर्ष में लगे मुक्तिबोध सरीखे को उनकी ही जात के बहुरूपियों ने निरर्थक और व्यर्थ साबित करना शुरू कर दिया। मुक्तिबोध यह सब समझ रहे थे। उन्होंने तभी कहा कि यह 'पूनों की चाँदनी' सफलता की एक आँख से दिखाई पड़ रही हैं, जबकि यह यथार्थ नहीं है। इस विशाल देश का व्यापक समुदाय अभी भी अपनी मूल आवश्यकताओं से वंचित है और जीवन से संघर्ष कर रहा है। ऐसे संघर्षशील जनता के लिए 'कीर्ति-यश-रेशम' की चाँदनी भ्रम के सिवाय कुछ भी नहीं-

मनुष्य के लिए नहीं फैली यह / सफलता की, भद्रता की / कीर्ति-यश-रेशम की पूनों की चाँदनी।

मुक्तिबोध यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि व्यवस्था सदैव इस टोह में लगी रहती है कि वह कैसे विरोधी या प्रतिगामी शक्तिओं को अपने कुनबे में शामिल कर ले।

इसके लिए वह निरंतर चक्रव्यूह रचती है। मुक्तिबोध इन कुचक्रों से सावधान तो हैं पर आशंकित भी-

मुझको डर लगता है / मैं भी तो सफलता के चंद्र की छाया में / घुग्घू या सियार या भूत नहीं कहीं बन जाऊँ।

इस कविता के चौथे हिस्से में 'विकराल बरगद' दिखाई पड़ता है, जो कि 'अँधेरे में' के 'भयंकर बरगद' से बिल्कुल भिन्न है। जिसे मुक्तिबोध कुछ यूँ देखते हैं-

पशुओं के राज्य में बियाबान जंगल है / उसमें खड़ा है घोर स्वार्थ का प्रभीमकाय / बरगद एक विकराल / उसके विद्रूप शत / शाखा-व्यूहों निहित / पत्तों के घनीभूत जाले हैं, जाले हैं / तले में अँधेरा है, अँधेरा है घनघोर है... / वृक्ष के तने से चिपट / बैठा है, खड़ा है कोई / पिशाच एक जबर्दस्त मरी हुई आत्मा का / वह तो रखवाला है / घुग्घू के, सियारों के, कुत्तों के स्वार्थों का

वहीं 'अँधेरे में' का बरगद कुछ ऐसा है-

दीखता है सामने ही अंधकार-स्तूप-सा / भयंकर बरगद / सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों / गरीबों का वही घर, वही छत / उसके ही तल-खोह-अँधेरे में सो रहे गृहहीन कई प्राण / अँधेरे में डूब गए / डालों में लटके जो मटमैले चिथड़े / किसी एक अति दीन / पागल के धन वो / हाँ, वहाँ रहता है सिरफिरा कोई एक

हम देखते हैं कि इस कविता के 'विकराल बरगद' के तले में भी अँधेरा है और 'अँधेरे में' के भयंकर बरगद' के तल भी अंधकार में डूब गये हैं। एक से मरी हुई आत्मा का पिशाच चिपटा है तो दूसरे को एक सिरफिरे ने अपना ठौर बनाया है। एक घुग्घुओं, सियारों, कुत्तों के स्वार्थों के रखवालों का ठिकाना है तो दूसरा सभी उपेक्षितों, समस्त वंचितों का आश्रय स्थल। इस तरह दोनों कविताओं में प्रयुक्त बरगद एक दूसरे के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यह मुक्तिबोध की सभ्यता-समीक्षा का भी चिह्न प्रस्तुत करता है।

जहाँ स्वतंत्रता के बाद उसकी सार्थकता पर केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन जैसे प्रगतिशील कवि ने प्रश्नचिह्न खड़े करने शुरू कर दिये थे, वहीं मुक्तिबोध ने सत्ता और व्यवस्था के चक्कर काट रहे लोगों (जिनकी वास्तविक छवि 'अँधेरे में' कविता के विचित्र प्रोसेशन में दिखाई

पड़ती है।) की मंशा को अपनी कविता में स्पष्ट करते हुए सिर्फ एक ईमानदार कवि का दायित्व ही पूरा नहीं किया, बल्कि संघर्ष कर रहे वर्ग के साथ कदम ताल मिलाकर चलें भी।

यह देखना होगा कि 'नई कविता' के दौर में कला की स्वायत्तता और कलाकार की स्वतंत्रता पर बल दिया गया। लेकिन, इस तरह की माँग करने वाले वैसे ही लोग थे जिन्हें मुक्तिबोध सेठों-साहूकारों और बहुरूपिये राजनीतिज्ञों का सेवक बना देख रहे थे। प्रगतिशील काव्यधारा धीरे-धीरे व्यवस्था का शिकार होकर 'नई कविता' की शक्ल में नया कलेवर ले रही थी। देश जिस ओर जा रहा था, उसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि मुक्तिबोध ने उसे 'पशुओं का राज्य' कहा है। इतना सबकुछ होने के बावजूद मुक्तिबोध का विश्वास डिगता नहीं। उन्हें समाज और स्वयं पर पूरा भरोसा है। वे संभाव्य चेतना से लैस नज़र आते हैं।

वे कहते हैं-

तुम्हारे, पास हमारे पास / सिर्फ एक चीज है / ईमान का डंडा है, / बुद्धि का बल्लम है, / अभय की गेती है / हृदय की तगारी है- तसला है / नए-नए बनाने के लिए भवन / आत्मा के, / मनुष्य के, / हृदय की तगारी में ढोते हैं हमीं लोग / जीवन की गीली और / महकती हुई मिट्टी को।

ये सारी चीजें न तो किसी हाट-मेले में बिकती हैं और न ही इन्हें किसी शॉपिंग मॉल से खरीदा जा सकता है। इन

चीजों को देखना है तो 'बियाबान जंगल' में फैले 'पूनों की चाँदनी' से दूर होना होगा। जीवन को 'सफलता की आँख' से नहीं, सार्थकता के नजरिये से देखना होगा। उत्तर आधुनिकता के इस बेहद खतरनाक दौर में तमाम संघर्षों के बीच भी जीवन की गिली मिट्टी से उठ रही खुशबू को पहचानना होगा। कहीं-न-कहीं उसे शुष्क होने से बचाना होगा। उपर्युक्त पंक्तियों में मुक्तिबोध के कहन का निहितार्थ भी यही है और लक्ष्य भी।

इस तरह मुक्तिबोध कविता के अंतिम हिस्से में सफल लोगों तक यह जवाब पहुँचाना चाहते हैं कि उनकी जमात भी अपने संसार में, अपने संघर्ष में व्यस्त हैं। वे बिल्कुल ही उपेक्षित भाव से कहते हैं-

हमको फुरसत नहीं, खाते नहीं हम लोग!! / बहुत बिज़ी हैं हम

जिस भी मन, व्यक्ति, कार्य या व्यवस्था से हम दूर होना चाहते हैं, उसके लिए हमारे मुख से ऐसी ही शब्दावलि याँ फूटती हैं। मुक्तिबोध के जीवन की व्यस्तताएँ-समाज में वर्ग भेद के खात्मे की, राजनीति में बेहतर जनतंत्र की, रचना में ईमानदारी के साथ वर्तमान को दिखाने और भविष्य को गढ़ने की तथा रोटी की थीं- वे ये सारी लड़ाईयाँ अथक योद्धा की भाँति अंतिम सांस तक लड़ते रहें। यही वजह है कि उनकी पूरी सृजनात्मकता एक बेचैन मन की सृष्टि है, जो पाठक को भी अपनी जिम्मेदारियों का एहसास कराती और उन्हें बेचैन तथा उद्वेलित करती है।

संपर्क:

हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी (उ. प्र.) पिन- 221005
मो. 9455107472

उह रहस्यमय व्यक्ति/अण तक न पायी गयी मेरी परम अभिलषित है : 'अंधेरे में'

डॉ. रामकिंकर पाण्डेय

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
शासकीय लाहिड़ी महाविद्यालय,
चिरमिरी, कोरिया (छत्तीसगढ़)

वर्ष 2014 मुक्तिबोध के निधन और उनकी लम्बी कविता 'अंधेरे में' की रचना के पचास वर्ष पूरे होने का समय है। मुक्तिबोध का रचना काल कोई बहुत लम्बा नहीं था किन्तु अपने रचना काल में उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखीं जो हिंदी साहित्य के इतिहास और वैचारिकी की दुनिया में कालजयी बन गई। आधुनिक हिंदी कविता के विकास में मुक्तिबोध का एक अलग स्थान है। मुक्तिबोध कबीर और निराला की श्रेणी के कवि हैं बल्कि वैचारिक सम्पन्नता और दृढ़ता में वे कहीं आगे हैं। चूँकि मुक्तिबोध गहन वैचारिक कवि हैं, इसलिए उनकी कविता में जो जटिलता है वह वास्तव में संकल्पना के स्तर पर है। उनकी किसी भी कविता को समझने के लिए उनकी संकल्पनाओं की स्पष्ट समझ आवश्यक है। इस संबंध में नंद किशोर नवल का कहना है— बिना उनकी संकल्पनाओं को समझे हुए, जो उनकी कविताओं का ढाँचा भी तैयार करती है और उनके भीतर भी अनेक तरह से ग्रथित होती हैं, उनकी कविता की गाँठें नहीं खोली जा सकती। अध्यवसाय पूर्वक एक बार गाँठें खोल दी जाएं, तो फिर उन्हीं के मुहावरे में धरित्री अपने रत्न उगल देती है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने न केवल ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान का सिद्धांत दिया, बल्कि अपनी कविता के संबंध में आग्रह पूर्वक कहा कि कविता के भीतर की सारी नाटकीयता वस्तुतः भावों की गतिमयता है इससे उनके वैचारिक कवि होने को लेकर पैदा होने वाला भ्रम दूर हो जाना चाहिए। विचार उनमें हैं, लेकिन ठोस यथार्थ के रूप में नहीं, बल्कि सूक्ष्म रूप में। वे प्रायः उनके भाव में रूपांतरित होकर आए हैं, जिससे वे उधार लिए हुए न होकर वस्तुतः कवि के आत्म विस्तार के रूप में दिखलायी पड़ते हैं। (नंद किशोर नवल की पुस्तक मुक्तिबोध की कविताएँ : बिम्ब प्रतिबिम्ब की भूमिका से)

‘अंधेरे में’ मुक्तिबोध की प्रसिद्ध लम्बी कविता है जो उनके कठिन और तीव्र आत्मसंघर्ष तथा काव्य संघर्ष का चरम प्रतिफल है। इस कविता की रचना प्रक्रिया और मार्मिकता मुक्तिबोध के जीवन में साक्षात्कार की गई घटना से जुड़ी हुई है। इस संदर्भ में ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ की भूमिका में शमशेर बहादुर सिंह ने बताया है कि मुक्तिबोध के नागपुर वाले दिनों के जीवन के बहुत सारे संदर्भ इस कविता में सिमटे हुए हैं। एक घटना का वो जिक्र करते हैं कि जब एम्प्रेस मिल के मजदूरों की हड़ताल हुई और उन पर गोलियाँ चलाई गई उस समय मुक्तिबोध एक रिपोर्टर की हैसियत से उस घटना स्थल पर मौजूद थे और उन्होंने सिरों का फूटना और खून का बहना देखा था इस घटना के कई दृश्य हम ‘अंधेरे में’ कविता में देख सकते हैं। हरिशंकर परसाई जी ने इस संबंध में मुक्तिबोध पर संस्मरण लिखते हुए एक दूसरी घटना का जिक्र किया है कि मुक्तिबोध द्वारा तत्कालीन मध्यप्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों के लिए इतिहास के लिए पुस्तक तैयार की गई जिसका शीर्षक था- ‘भारतः इतिहास और संस्कृति’ जिसके विरोध में फासिस्ट संगठनों ने आंदोलन किया फलस्वरूप तत्कालीन मध्यप्रदेश सरकार ने 1962 ई. में इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया। इस घटना से मुक्तिबोध बहुत आहत हुए। उपर्युक्त दोनों घटनाएँ कहीं न कहीं उनकी लम्बी कविता ‘अंधेरे में’ की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं।

‘अंधेरे में’ कविता का आरंभ इन पंक्तियों से होता है-
जिंदगी के...

कमरों में अंधेरे

लगाता है चक्कर

कोई एक लगातार

यहाँ चक्कर लगाने वाले के पैरों की आवाज तो आती है लेकिन उसका रूप दिखाई नहीं देता, केवल उसके घूमने की आहट आती है।

तिलस्मी खोह में गिरफ्तार कोई एक

भीत-पार आती हुई पास से

गहन रहस्यमय अंधकार ध्वनि का

अस्तित्व जनाता

अनिवार कोई एक।

यहाँ हम देख सकते हैं कि जो है, वह अपनी भूमिका में निश्चित और अनिवार्य है, लेकिन उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है। धीरे-धीरे कविता जब अपनी लय में आगे बढ़ती है वह हमारे सामने कई दृश्य खोलती चलती है। विभिन्न दृश्यों के पश्चात हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह रक्तालोक स्नातपुरुष-

घुसती है लाल- लाल मशाल अजीब सी

अन्तराल- विवर के तम में

लाल-लाल कुहरा

कुहरे में सामने रक्तालोक-स्नात पुरुष एक

रहस्य साक्षात्।।

अब यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि यह रक्तालोक स्नात पुरुष कौन है। इसके पूर्ण व्यक्तित्व का चित्रण मुक्तिबोध आगे करते हैं और वास्तव में यही पुरुष कवि का प्रेरणा स्रोत है-

तेजो प्रभावमय उसका ललाट

गौरवर्ण दीप्त दृग

सौम्यमुख

संभावित स्नेह का प्रिय रूप

भव्य अज्ञानबाहु।

उपर्युक्त आभामंडल से युक्त पुरुष ही कवि के लिए रहस्यमय व्यक्ति है और साथ ही साथ वह कवि के लिए खोज का विषय भी है। यह रहस्य साक्षात् रक्तालोक स्नातपुरुष कोई और नहीं बल्कि यही पूर्णतम परम अभिव्यक्ति है- अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति और काव्य नायक के लिए यह जान लेना ही खतरनाक मान लिया जाता है। काव्य नायक द्वारा इस साक्षात्कार के बाद फासिस्ट ताकतों को जनक्रांति का अंदेशा होता है और वे काव्य नायक को किसी तरह दंडित कर देना चाहते हैं-

किसी काले डैश की घनी पट्टी ही

आँखों में बँध गई

किसी खड़ी पाई की सूली पर

मैं टाँग दिया गया

किसी शून्य बिन्दु के आँधियारे खड्डे में

गिरा दिया गया मैं

अचेतन स्थिति में

कविता में आगे के खंडों में जो दृश्य हैं वे बड़े भयावह हैं। नगर में सैनिक प्रशासन और मार्शल लॉ लगने के बाद जो जुलूस निकलता है वह काव्य नायक को विचलित कर देता है। एक रात जब काव्य नायक कमरे में विचार में डूबा रहता है, शोरगुल सुनकर अनुमान लगाता है कि कोई जुलूस निकल रहा है। गैलरी में जाकर जब वह जुलूस का दृश्य देखता है तो हतप्रभ रहता है। वह जुलूस शोभायात्रा है किसी मृत्यु दल की। यह सैनिकों और सैनिक अधिकारियों का जुलूस है। लेकिन इस दल में पूँजीवाद के सभी पक्षधर पत्रकार कवि, लेखक, विचारक, विद्वान, मंत्री, उद्योगपति और यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात डोमाजी उस्ताद भी शामिल है। यह दृश्य वास्तव में फासीवादी ताकतों के प्रसार और उनकी वैचारिक धरातल को उघाड़ता है। रात के अंधेरे में चलने वाले इस जुलूस को जब काव्य नायक देख लेता है तो फासिस्ट ताकतों उसे जान से मारने पर उतारू हो जाती हैं क्योंकि इससे उन्हें बेपर्दा होने और असल चरित्र के उजागर होने का खतरा महसूस होता है। ध्यान रहे फासिस्ट ताकतों में आलोचना सहने का सामर्थ्य नहीं रहता है। लेकिन उनके रोके क्रांति रुकती नहीं और बड़े-बड़े आतातायियों के चेहरे पर स्याही पुत जाती है और इस तरह फासिज्म के बढ़ते खतरे को लेकर लिखी गई यह कविता जनक्रांति के आह्वान पर समाप्त होती है।

फासिस्ट सैनिकों द्वारा खदेड़े जाने पर काव्य नायक भागता हुआ सड़क पर स्थित तिलक की मूर्ति के पास पहुँचता है जहाँ उसकी मुलाकात महात्मा गाँधी से होती है। तिलक और गाँधी दो ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्हें संकट की घड़ी में मुक्तिबोध याद करते हैं। यहाँ गाँधी काव्य नायक को एक शिशु सौंपकर गायब होते हैं जो बाद में फूलों के गुच्छे और बंदूक रायफल में बदल जाता है। यह जनता की उम्मीदों की एक किरण है जहाँ अभी कुछ संभावनाएँ बची हैं। कविता में मुक्तिबोध जिस जन क्रांति का जिक्र करते हैं वह जनता की उम्मीदों से ही पैदा होती है। कहीं आग लग गई कहीं गोली चल गई का शोर युवकों का व्यक्तित्व परिवर्तन कर रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस क्रांति को सशस्त्र क्रांति बतलाया है किन्तु नंदकिशोर नवल का मानना है कि यह जन क्रांति ही है प्रशिक्षित और नियमित

सेना द्वारा की जाने वाली सशस्त्र क्रांति नहीं। कविता में मुक्तिबोध ने क्रांति के समय पूँजीवाद समर्थक कवियों, चिंतकों, विचारकों और कलाकारों का खास जिक्र किया है साथ ही उन पत्रकारों का भी जिक्र किया है जो क्रांति के समय जन विरोधी संवाद और टिप्पणियाँ गढ़ते हैं और जन क्रांति के दमन में सहायक बनते हैं।

काव्य नायक इसी क्रम में सैनिकों से बचते हुए एक बरगद के पास खड़ा होता है, जहाँ एक सिरफिरा व्यक्ति रहा करता था जिसे लोग पागल समझते हैं। रात के समय उसके द्वारा गाए जाने वाले गीत को मुक्तिबोध मध्यवर्गीय सुविधाभोगी और समझौतापरस्त बुद्धिजीवी वर्ग की आत्मभर्त्सना और आत्मालोचन मानते हैं, जिससे काव्य नायक भी भीतर से उद्बुद्ध और प्रेरित होता है।

....ओ मेरे आदर्शवादी मन,
और मेरे सिद्धांतवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया ।।
उदरभरि बन अनात्म बन गए,
भूतों की शादी में कनात से तन गए,
किसी व्यभिचार के बन गए बिस्तर
अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया
बहुत-बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम।

कविता का अंश उस सिरफिरे पागल का प्रलाप है जिसे कवि ने अपने अनुसार गद्यानुवाद कह दिया है। पागल की यह आत्मभर्त्सना काव्य नायक को सपने में भी बेचैन करती है और वह यह सोचता है कि शायद यह सैनिक शासन, फासिस्ट विचारों की बढ़ती ताकत मानों उसकी ही निष्क्रियता का परिणाम है। काव्य नायक की बेचैनी इन शब्दों में प्रकट होती है—

क्या कहूँ, किससे कहूँ
कहाँ जाऊँ, दिल्ली या उज्जैन
उधर यह अपराध-बोध पीछा करता है
मानो मेरे कारण ही लग गया

मॉर्शल लॉ वह,
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया
मानो मेरे कारण ही दुर्घट
हुई यह घटना।

‘अंधेरे में’ कविता के आगे के दृश्यों में फासिस्ट ताकतों द्वारा चलाए जा रहे दमन चक्र का वर्णन मुक्तिबोध विस्तार से करते हैं। जहाँ हमें यह पता चलता है कि सत्ताधारी फासीवाद विचारों से बहुत डरता है इसीलिए काव्य नायक के मस्तिष्क की सघन जाँच होती है। अंधेरे कमरे में ले जाकर स्टूल पर बैठाकर उसकी हड्डी तोड़ी जा रही है और विभिन्न प्रकार की यातना देकर यह पता लगाने की कोशिश की जा रही है कि किस ऊर्जा के कारण इसके भीतर सत्ता-विरोधी, दमन-विरोधी विचार पैदा हो रहे हैं। काव्य नायक के सपनों को तोड़ने की कोशिश की जा रही है। वास्तव में कविता की इन पंक्तियों में हमें दमन का बर्बर, आततायी और क्रूर स्वरूप दिखाई देता है। फासिस्ट ताकतें सत्ता के विरोध में उठी हर उस आवाज को कुचल देना चाहती हैं जो जनक्रांति में सहायक हो सकती है—

दृश्य ही बदल गया, चित्र बदल गया
जबरन ले जाया गया मैं गहरे
अंधियारे कमरे के स्याह सिफर में।
टूटे से स्टूल पर बिठाया गया हूँ
शरीर की हड्डी जा रही तोड़ी।
लोहे की कील पर बड़े हथौड़े
पड़ रहे लगातार।

दमन चक्र बढ़ता ही जा रहा है, यातना बढ़ती जा रही है शरीर का मोटा अस्थि कवच निकाला जा रहा है, देखा जा रहा है कि मस्तक यंत्र में किन विचारों की ऊर्जा सक्रिय थी। आततायी सत्ता उसके विरोध से जुड़े विचार को नष्ट करना चाहती है—

भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे
तलधर अंदर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख्यालों के परचे
छपते रहते हैं बाँटे जाते।

इस संस्था के सेक्रेट्री को खोज निकालो
शायद उसका ही नाम हो आस्था,
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा ?

काव्य नायक की आत्मा को ही नष्ट किया जाना है, अर्थात् उसके विचारों के मूल को ही खत्म करके फासिस्ट ताकतें विद्रोह और जनक्रांति की सारी संभावना को नष्ट करना चाहती हैं, काव्य नायक सुनता है एक चिढ़ी हुई ऊँची खिझलाई आवाज—

स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता
क्रास एक्जामिन हिम थारोली!!

मुक्तिबोध ने दमन तंत्र की क्रूरता की संपूर्ण अभिव्यक्ति हेतु यहाँ उपयुक्त बिम्बविधान रचा है। सत्ताधारी दमन तंत्र के प्रतिनिधि चरित्र मि. गुप्ता द्वारा की जा रही सघन जाँच पड़ताल को कवि ने यहाँ शब्दों के माध्यम से और जीवंत कर दिया है। काव्य नायक इस भयंकर प्रताड़ना के बाद भी अपने को खत्म नहीं होने देता बल्कि वह और मजबूत होकर जनक्रांति से जुड़ना चाहता है—

समेटकर सब वह
वेदना-विस्तार करके इकट्ठा
मेरा मन यह, जोर लगाकर,
बलात् उनकी छोटी-सी कड़वी
गठान बाँधता सख्त व मजबूत
मानो कि पत्थर।
जोर लगाकर,
उसी गठान को हथेलियों से
करता है चूर-चूर,
धूल में बिखरा देता है उसको।
मन यह हटता है देह की हद से
जाता है कहीं पर अलग जगत् में।

काव्य नायक के पकड़े जाने, यातना दिए जाने और फिर रिहाई होने का पूरा रूपक कविता में अंतव्यपत्ति है। मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जो अपने मध्यवर्गीय संस्कारों से संघर्ष करते हुए ही अपने लिए एक विशिष्ट दृष्टि प्राप्त करते हैं। उन्हीं की तरह उनका काव्य नायक भी संघर्ष से क्रांति की संभावना तक पहुँचता है। मुक्तिबोध की खासियत

यह है कि वे सामाजिक राजनीतिक घटनाओं का वर्णन भी व्यक्ति से जोड़कर ही करते हैं। वे समाज के साथ-साथ व्यक्ति की महत्ता के भी पक्षधर थे, उनका काव्य नायक देश में घटित हो रहे सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल से बेहद आंदोलित है। फासीवादी सत्ता की स्थापना से वह गहरे तक उद्वेलित है, जिस कारण उसका दायित्व बोध उसे जनक्रांति की संभावना की ओर ले जाता है। सत्ताधारी दल द्वारा भयंकर उत्पीड़न के बाद वह एक गहन वैचारिक संघर्ष से गुजरता है। रिहाई के बाद वह नए साथी खोजने का प्रयास करता है जिनसे वह जनक्रांति की शुरुआत कर सके-

मुझे अब खोजने होंगे साथी
काले गुलाब व स्याह सिवंती
श्याम चमेली
सँवलाए कमल जो खोहों के जल में,
भूमि के भीतर पाताल तल में
खिले हुए कब से भेजते हैं संकेत
सुझाव संदेश भेजते रहते!!

काव्य नायक आगे बढ़कर सबको जोड़ना चाहता है, जन क्रान्ति के लिए सारे हथियार जुटा लेना चाहता है, उसमें अब एक विचित्र ऊर्जा का संचार भी हो चला है, वह तरोताजा महसूस करता है-

अचानक विचित्र स्फूर्ति से मैं भी
जमीन पर पड़े हुए चमकीले पत्थर
लगातार चुनकर
बिजली के फूल बनाने की कोशिश
करता हूँ।

यहाँ काव्य नायक का सारा आत्म संघर्ष अब जन संघर्ष में बदलना चाहता है और वह जैसे एक निष्पत्ति तक पहुँचकर सोचता है-

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी बाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता

अरूण कमल एक

ले जाने उसको धँसाना ही होगा

झील के हिम-शीत सुनील जल में।

यहाँ मुक्तिबोध ने अरूण कमल का प्रयोग फासिज्म के विरुद्ध क्रांति की संभावना के प्रतीक रूप में किया है। एक ऐसा प्रतीक जो जनक्रांति की संभावना जगाता है आज नहीं तो कल। काव्य नायक आगे भागता हुआ जाता है और देखता है कि सहसा अंधेरे की सुरंग गलियों में लोग चल रहे हैं। क्रांति की आहट दीख रही है किंतु अपनी मध्यवर्गीय दुर्बलता के कारण वह पीछे रह जाता है अकेला। लोगों को अंधेरे में क्रांति के रास्ते पर सोत्साह बढ़ता देख वह भी क्रांति की कल्पना लिए देखता है कि-

तारक दलों में भी खिलता है आँगन
जिसमें कि चम्पा के फूल चमकते
चमकता है आशय मनोज मुखों से
पारिजात- पुष्प महकते।

जनक्रांति के आह्वान से सभी उद्वेलित और आंदोलित हैं। कविता के अंतिम खंड में कवि लिखता है-

सब ओर विद्युत्तरंगीय हलचल
चुंबकीय आकर्षण
प्रत्येक वस्तु का निज-निज आलोक

हर चीज रोशनी में नए अर्थ को प्रदीप्त कर रही है। काव्य नायक उठकर गैलरी में जाता है और लोगों की भीड़ में उसे वही व्यक्ति दिख जाता है जो गुहा में दिखा था, काव्य नायक उसे पुकारना चाहता है किंतु वह भीड़ में गायब हो जाता है-

एकाएक वह व्यक्ति
आँखों के सामने
गलियों में, सड़कों पर, लोगों की भीड़ में
चला जा रहा है
वही जन जिसे मैंने देखा था गुहा में।
धड़कता है दिल
कि पुकारने को खुलता है मुँह
कि अकस्मात्
वह दिखा, वह दिखा
वह फिर खो गया किसी जन यूथ में

उठी हुई बाँह यह उठी रह गई!!

उस रहस्य पुरुष को काव्य नायक पाना चाहता है। वही रक्तालोक स्नातपुरुष कवि की अनखोजी परम अभिव्यक्ति व्यक्ति है जिसका साक्षात्कार वह करना चाहता है। वही शक्ति का विराट स्वरूप है जो गुहा से निकलकर भीड़ में मिल जाता है और यहीं कविता का अंत होता है जहाँ से कवि की तलाश फिर शुरू हो जाती है—

खोजता हूँ पठार....पहाड़.....समुंदर

जहाँ मिल सके मुझे

मेरी वह खोई हुई

परम अभिव्यक्ति अनिवार

आत्म सम्भवा।

इस तरह 'अंधेरे में' कविता अस्मिता की खोज की कविता बन जाती है, वह अस्मिता जिसे काव्य नायक परम अभिव्यक्ति कहता है 'अंधेरे में' कविता के दो पात्रों काव्य नायक और रक्तालोक स्नातपुरुष के संबंध में आलोचकों में एक लम्बी चर्चा चली है। डॉ. रामविलास शर्मा ने उसे

मुक्तिबोध से अभिन्न माना है और उसके आत्म संघर्ष को मुक्तिबोध के विभाजित व्यक्तित्व का परिणाम बताया है। इसके उलट डॉ. नामवर सिंह ने 'अंधेरे में' के काव्य नायक को मुक्तिबोध से सर्वथा भिन्न मध्यवर्ग का प्रतिनिधि चरित्र माना है। वास्तव में यदि देखें तो यह पता चलता है कि यह काव्य नायक बहुत हद तक मुक्तिबोध का ही प्रतिरूप है और साथ ही सामान्य मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का भी प्रतिनिधित्व करता है।

काव्य नायक के अतिरिक्त एक चरित्र है— रक्तालोक स्नातपुरुष। वह कविता की आरंभिक पंक्तियों में आता है और काव्य नायक को तरह-तरह से परेशान कर विचारमग्न कर देता है वह काव्य नायक के दरवाजे की साँकल बजाकर गायब हो जाता है और फिर कविता के अंत में पुनः दिखाई देता है किन्तु इस बार भी काव्य नायक जब उसे देखने गैलरी में आता है तो वह सड़क पर लोगों की भीड़ में खो जाता है। कविता उसी को प्राप्त करने की ललक के साथ समाप्त होती है।

संपर्क: 09425489956

मुक्तिबोध के साहित्य चिंतन के स्रोत

प्रेमशंकर सिंह

मार्क्सवादी स्रोत :

मुक्तिबोध का समस्त लेखन गहन वैचारिक लेखन है जिसके स्रोत तत्कालीन यूरोपीय और भारतीय समस्त चिंतनधाराओं में फैले हुए हैं। स्वयं उन्होंने 'तारसप्तक' के अपने पहले वक्तव्य में अपनी शुरुआती बेचैनी को व्यक्त करते हुए लिखा- "मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इस का स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका।"¹ पुनः वे अपनी वैचारिक पिपासा को व्यक्त करते हुए लिखते हैं- "दूसरी ओर, दार्शनिक प्रवृत्ति-जीवन और जगत् के द्वन्द्व-जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व-इन सब को सुलझाने की और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती। आगे चलकर मेरी काव्य की गति को निश्चित करने वाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। - क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त, और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"²

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता, उनकी चिंता के केन्द्र में थी। व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रश्न पर मार्क्सवाद ने उन्हें जो नई समझ दी है उनकी कविताओं के साथ-साथ उनके वक्तव्य में निम्नवत व्यक्त हुआ है-

"मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिए है जो उस स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिससे कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और साथ ही व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो।"³

मार्क्सवाद संबंधी इस नई समझ ने उनकी कविता के शिल्प को भी प्रभावित किया। लम्बी कविताओं का उनका शिल्प उनकी इस समझ से उद्भूत है, यह स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा- "परिणामतः स्वाधीनता के इस युग में मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गयीं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उस को साथ लिये-लिये मेरा आत्म-संवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा। कविता का कलेवर भी दीर्घतर होता गया।"⁴ मुक्तिबोध ने अपने इस वक्तव्य में अपनी कविता की 'सघन बिम्ब मालिकाओं' का महत्त्व स्वीकार किया है।

मुक्तिबोध की कविता की इस विशिष्टता को न सिर्फ उन्होंने बल्कि उनके अभिन्न मित्र शमशेर जी ने भी स्पष्ट किया है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की भूमिका में कवि शमशेर ने लिखा है- "मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघकर प्रगतिवाद से मार्क्सवादी दर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार संभाल और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि-रूप से, सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर, निराला की सुथरी और खुली मानवतावादी परंपरा को बहुत आगे बढ़ाया।"⁵

मार्क्सवाद ने मुक्तिबोध को जहाँ स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष की समस्याओं से रूबरू होने का साहस दिया वहीं हाल ही में मिली आजादी से मोहग्रस्त विभिन्न मध्यवर्गी बुद्धिवादी विभ्रमों को भेदकर समस्या के यथोचित प्रस्तुतीकरण में भी सक्षम बनाया। तभी वे कह सके कि-

“कि जो मानव भविष्यत्-युद्ध में रत है,

जगत् की स्याह सड़कों पर।

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में

सभी प्रश्नोत्तरी की तुंग प्रतिमाएँ

गिराकर तोड़ देता हूँ हथौड़े से

कि वे सब प्रश्न कृत्रिम और

उत्तर और भी छलमय,

समस्या एक-

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में

सभी मानव

सुखी, सुन्दर व शोषण-मुक्त

कब होंगे ? “⁶ (चकमक की चिंगारियाँ)

उनकी कविताओं को पढ़ते हुए हमें लोकतंत्र के मोहक आश्वासनों की बजाय तेलंगाना के संघर्षरत किसानों के क्रूर दमन की छवियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं। साहित्यकार के वैचारिक जगत को आकार देने की मार्क्सवादी समझ का ही अंग है विचारों की दुनिया में जनआंदोलनों की उष्मा के महत्त्व का स्वीकार।

रचना, आलोचना और जनांदोलन का पारस्परिक संबंध निरूपित करते हुए प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक मैनेजर पांडेय ने अपने निबंध 'मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष' में दर्ज किया है कि- “मुक्तिबोध ने उस समय लिखना

प्रारंभ किया था, जब छायावाद का अवसान और प्रगतिवाद का उत्थान हो रहा था। छायावाद का काल भारतीय जनता के राजनीतिक, सामाजिक जागरण का काल था और इस जागरण की अभिव्यक्ति छायावाद की रचनाशीलता में ही हो रही थी। प्रगतिवाद के दौर में भारतीय जनता की जाग्रत चेतना संघर्षशील चेतना में बदल रही थी और प्रगतिवादी साहित्य में जनता की संघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति हो रही थी। मुक्तिबोध की साहित्य चेतना के निर्माण में इन दोनों आंदोलनों का योगदान है। सन् 1942 का भारतीय जनता के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है; मुक्तिबोध के जीवन में भी इस वर्ष का क्रांतिकारी महत्त्व है। सन् 1942 में ही मुक्तिबोध का मार्क्सवाद की ओर झुकाव हुआ। मुक्तिबोध ने एक व्यवस्थित विश्वदृष्टि अर्जित करने के लिए गहन आंतरिक संघर्ष के फलस्वरूप मार्क्सवादी दर्शन को अपनाया था। इसलिए वे जीवन भर मार्क्सवादी साहित्य के विचारक और रचनाकार बने रहे। मार्क्सवाद के रूप में मुक्तिबोध को एक वैज्ञानिक और ओजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त हुआ; जिसके सहारे वे अपने समय के समाज और जीवन की वास्तविकताओं, समस्याओं और विचारधारात्मक संघर्ष को ही नहीं, इतिहास और परंपरा को भी ठीक से समझने में सफल हुए। एक मार्क्सवादी रचनाकार और विचारक अपने समय की समाज-व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था की ऐतिहासिक स्थिति की पहचान करता है और पहचान बताता है, वह वर्तमान के विचारधारात्मक संघर्ष में अपनी भूमिका निभाता है, और इन सबके साथ ही वर्तमान के विचारधारात्मक संघर्ष और भावी विकास के लिए परंपरा तथा इतिहास का पुनर्मूल्यांकन भी करता है।⁸ मुक्तिबोध का समय स्वतंत्रता के बाद लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष का समय था। नेहरू के नेतृत्व में शासक विचारधारा इस बात की वकालत कर रही थी कि लोकतंत्र की स्थापना में मध्यवर्ग सामाजिक आधार मुहैया करेगा। इसका कारण संभवतः यह बूर्जुआ विचार था कि मध्यवर्ग मूल्यगत स्तर पर व्यक्ति स्वातंत्र्य का हामी होता है और इसीलिए यह व्यक्तित्व की स्वतंत्रता पर आधारित लोकतंत्र को अपने जीवन मूल्य से पैदा करता है। मुक्तिबोध का वैचारिक संघर्ष मध्यवर्ग के लोकतांत्रिक आचरण में इस शासक

वर्गीय विश्वास के विरुद्ध संघर्ष था। इसके लिए वे सबसे पहले व्यक्ति की स्वतंत्रता की बूर्जुआ अवधारणा को प्रश्नांकित करते हैं जो व्यक्ति की मुक्ति को सामाजिक मुक्ति के व्यापक संदर्भ से काट देता है। व्यक्ति स्वातंत्र्य की बूर्जुआ अवधारणा के खिलाफ मुक्तिबोध की दावेदारी को निम्नांकित पंक्तियों में पढ़ा जा सकता है—

“कविता में कहने की आदत नहीं, पर कह दूँ
वर्तमान समाज चल नहीं सकता।
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता।
स्वातंत्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।”⁹

मुक्तिबोध ने इतिहास की जिस मार्क्सवादी समझ को अपनी वैचारिक ऊर्जा के लिए विकसित किया उसमें जनता के विद्रोहों और शासक सत्ता के द्वारा उसके क्रूरतापूर्ण दमन के चटक चित्र हैं। शासक वर्ग की इस दमनकारी सत्ता को वैचारिक वैधता प्रदान करने में विचारधाराओं का प्रमुख योगदान होता है।

यहीं पर मुक्तिबोध मध्यवर्ग के पूंजीवाद समर्थक भूमिका को चिह्नित करते हैं। इसीलिए मुक्तिबोध का वैचारिक संघर्ष फैलकर तत्कालीन हिंदी साहित्य के वैचारिक संघर्ष से जुड़ जाता है जिसमें शासक वर्गीय विचारधारा को मदद पहुँचाने वाले शीत युद्ध कालीन वैचारिक अस्त्रों का वे जनसंघर्षों की जमीन पर खड़ा होकर, स्वयं को दाँव पर लगाकर मुकाबला करते हैं। उन्हें अतीत के सभी विद्रोही अपने संगी-साथी और मित्र नजर आते हैं। इतिहास की निम्नवर्गीय (सबाल्टर्न) अवधारणा से काम करने वाले इतिहासकारों ने भी इस बात को लक्षित किया है कि विद्रोहों का व्यवस्थित आख्यान लिखना असंभव है क्योंकि शासक वर्गीय वैचारिक सहमति, उनके तमाम निशान मिटा देती है। उत्तरआधुनिकतावादी प्रख्यात इतिहासकार मिशल फूको ने इसीलिए वैकल्पिक संघर्ष की संभावनाएं मात्र पागलों के प्रलापों, राज्यबंदियों के अनुभवों और कवियों के असम्बद्ध शब्दचित्रों में तलाशी थी। मुक्तिबोध के काव्यरूप फैंटेसी में असम्बद्ध स्वप्न मालाओं की उपस्थिति दरअसल जन विद्रोहों के किसी व्यवस्थित आख्यान के निर्मित होने

की असंभाव्यता और इतिहास में फैले हुए इन विद्रोहों के चटक ‘पेंटिंग स्ट्रोक्स’ से बनी हैं। मुक्तिबोध के समय वैचारिक संघर्ष को नोट करते हुए रामजी राय ने लिखा है कि— “सब कुछ के बावजूद आजादी स्वयं में एक नया यथार्थ थी, इसके आकर्षण थे, व्यामोह, झांसे और कुटिलता थी, इनका असर तो देखिए कि इस ऐयारी चांदनी के अंदर लोगों की तकलीफें बढ़ रही थीं, गरीब, किसान, मजदूर जगह-जगह इसके खिलाफ आंदोलनों, हड़तालों आदि में उतर रहे थे, सरकार उन्हें पुलिस दमन के जरिए दबा रही थी लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी धीरे-धीरे इस सबसे किनारा कसने लगी। पहले सैद्धांतिक स्तर पर थी। फिर व्यवहार में भी, तीसरी कांग्रेस के प्रस्ताव में कहा गया कि इस स्वाधीनता का अर्थ है सबसे पहले अंग्रेजों के नियंत्रण से स्वाधीनता।”¹⁰ आगे इसी निबंध में उन्होंने मुक्तिबोध की विद्रोही चेतना से नक्सलवादी क्रांति की आहटें भी सुनी हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि मुक्तिबोध में सौन्दर्य की पिपासा और व्यापक जन समुदाय के सुख-दुख के कारणों की खोज उनके लेखकीय जीवन में आद्यंत फैली हुई है। इसी क्रम में वे मार्क्सवाद की ओर मुड़े हैं और मार्क्सवाद से वैचारिक उर्जा ग्रहण कर स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में जनपदीय हस्तक्षेप करते हैं। इसी क्रम में वे भारतीय शासक वर्ग द्वारा सृजित वैचारिक व्यामोह का मुकाबला करते हुए जन विद्रोहों की अनंत शृंखला को अपना साहित्यिक काम बनाते हैं। जन विद्रोहों का यही इतिहास उनके काव्यरूप फैंटेसी को भी जन्म देता है। इस तरह उन्होंने मार्क्सवाद को अपने समय में जारी संघर्ष में उतरकर सृजनात्मक हथियार में बदल दिया।

मुक्तिबोध की साहित्यिक चिन्ताओं के केंद्र में, उनकी कविताओं में जनान्दोलन एक महत्वपूर्ण स्रोत की तरह आता है। देश में उस दौर में चल रहे हाशिए के तबकों के आन्दोलनों से उनकी गहरी एका थी। अब हम देखेंगे कि उस सैद्धांतिकी में और उसके साहित्यिक आलोचनात्मक अनुप्रयोगों में मुक्तिबोध विचारधारा को कितना मान देते हैं और उसे कैसे लागू करते हैं। उन्हीं के शब्दों में “मार्क्सवादी दर्शन एक यथार्थ दर्शन है; यथार्थ-विकास का, मानव-संज्ञा के विकास का दर्शन है। अतएव उसके लिए सर्वाधिक मूलभूत और

महत्त्वपूर्ण है, जीवन-तथ्यों की वास्तविकता, जो राजनीति, समाजनीति, कला, आदि को उपस्थित करती है।¹¹

अर्थात् हम देख सकते हैं कि मुक्तिबोध मार्क्सवाद को अपनी जीवन दृष्टि और दर्शन के बतौर स्पष्ट करते हैं। राजनीति समाजनीति और कला के वैचारिक विश्लेषण के हथियार मुक्तिबोध को मार्क्सवाद से ही मिलते हैं। मानव संज्ञा के विकास की ऐतिहासिक गाथा को उसी विचारधारात्मक नजर से मुक्तिबोध देख पाते हैं। मुक्तिबोध ने नेमिचंद्र जैन को 30 अक्टूबर, 1945 में लिखी हुई चिट्ठी में लिखा— “याद है आपकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। आपने एक व्यक्ति के साथ बहुत नाजुक खेल खेला है। उसे कम्युनिस्ट बनाया, दुर्धर्ष घृणा के उत्ताप से पीड़ित और उसकी स्त्री के प्रति उसका रूख पलटा। अधिक सहनशील भावनामय उसे बनाया। यह काम बहुत बड़ा ही नहीं नाजुक भी है।”¹²

मुक्तिबोध विचारधारा को साहित्य-संस्कृति और विचार के क्षेत्र की ही चीज न मानकर जीवन जीने के तरीके और समाज से रिश्तों के संदर्भ में भी देखते हैं। नेमिजी को लिखी चिट्ठी में अपनी पत्नी के प्रति अपने रूख के बदलने की बात करते हुए वे विचारधारा के इसी नाजुक और बड़े काम की ओर इशारा करते हैं। मुक्तिबोध ने साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में पहली बार खतरे उठाते हुए समाज वैज्ञानिक और ऐतिहासिक रचना आयामों को संकेन्द्रित किया और विश्लेषित किया।

मुक्तिबोध ने क्लासिकीय मार्क्सवाद से अस्त्र जुटाकर साहित्य संदर्भों को उद्घाटित किया है। मजदूर वर्ग की पूँजीवाद में हालत, ऐतिहासिक अवस्था में उसके शोषण की परिस्थितियाँ मुक्तिबोध की विचारधारात्मक बहसों से गुजरती हैं। मनुष्य समाज के विकास की संकल्पना और उसके सिद्धांत मुक्तिबोध द्वारा विश्लेषित किए गए हैं। पुराने समाज और नए समाज का द्वंद्व वैचारिक क्षेत्र में द्वंद्वत्मक है। ठोस रूप से कहें तो दर्शन के क्षेत्र में भौतिकवाद तथा भाववाद की चली आ रही विचारधाराओं का युद्ध; असल में श्रमिक वर्ग के जनवाद और पूँजीवाद के बीच का गहरा संघर्ष है।

मुक्तिबोध अपने समय में चल रही शीत युद्धकालीन बहसों को बेहद सलीके से उठाते हैं और मार्क्सवादी दर्शन

के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के सहारे पूँजीवादी छद्म का भंडाफोड़ करते हैं। व्यक्ति और जनवाद की पूँजीवादी अवधारणाएँ कैसे असंगत हैं इसका विश्लेषण उन्होंने ‘साहित्य में सामूहिक भावना’ नाम के अपने निबंध में किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों कान्ट, हीगल, शोपेनहॉवर और बर्गसाँ पर टिप्पणी करते हुए वे वर्गीय दृष्टि से इनका प्रत्याख्यान उसी लेख में इन शब्दों में करते हैं— “बुद्धि जो कि अलिप्त, निर्मम स्व पर निरपेक्ष कही जाती है, उसी के क्षेत्र में इतनी आत्म केन्द्रिकता का विकास, पूँजीवादी समाज की विशेषता है। फिर साहित्य और कला का क्या कहना। लेख बहुत लम्बा हो जाने का डर है। केवल यही कहूँगा कि पूँजीवाद की प्राथमिक क्रान्तिकारी वैज्ञानिक (दृष्टिकोण-सम्बन्धी) स्फूर्ति का पर्यवसान, पूँजीवाद के क्रान्तिकारित्व हो जाने के अनन्तर, अलौकिक, श्रद्धालु अवैज्ञानिक सिद्धान्तों में परिणत हुआ, जिसका मूल कारण है पतनोन्मुख पूँजीवाद की घोर वैयक्तिकता। पतनोन्मुख पूँजीवादी साहित्य और दर्शन की दो विशेषताएँ हैं— प्रथमतः घोर वैयक्तिकता, दूसरे, दृष्टिकोण की अवैज्ञानिकता। इन दोनों की जड़ एक ही है और ये दो विशेषताएँ एक सिक्के की दो बाजुएँ हैं।”¹³

मुक्तिबोध कैसे भौतिकवादी ऐतिहासिक और द्वंद्वत्मक औजारों के सहारे पूँजीवाद की ज्ञानमीमांसा और उसके राजनीतिक अर्थशास्त्र को साफ-साफ देख लेते हैं। पूँजीवाद द्वारा स्वतंत्रता, समता और भाईचारे के दावे के पीछे फासिज्म के खतरों की भनक मुक्तिबोध सुन लेते हैं। अपनी कविता ‘अंधरे में’ उन्होंने इस बात का रचनात्मक साक्ष्य प्रस्तुत किया कि कैसे फासिज्म का खतरा और व्यक्ति-केन्द्रित पूँजीवादी मूल्य में गहरा संबंध है—

“गलियों में अंधकार भयावह....

मानो मेरे कारण ही लग गया

मार्शल लॉ वह,

मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया,

मानो मेरे कारण ही दुर्घट

हुई यह घटना।”¹⁴

मुक्तिबोध साहित्य में मार्क्सवाद के अनुप्रयोग की बहस को जीवन्त करते हुए अपने लेख ‘सामाजिक विकास और साहित्य’ में लिखते हैं कि— “जब मार्क्सवादी यह कहते हैं

कि साहित्य का विकास समाज के विकास पर अवलम्बित है, तो उसका आशय यह नहीं कि सामाजिक-राजनैतिक घटनाक्रम से यन्त्रानुबद्ध होकर साहित्य अपना मार्ग बनाता चलता है। उसका अभिप्राय यह है कि जिन सामाजिक-ऐतिहासिक शक्तियों की अभिव्यक्ति-मात्र वे घटनावलयों हैं, वे ताकतें ही साहित्य के रूप और स्वरूप, तत्त्व और विचार को जन्म देती तथा विकसित करती रहती हैं। समाज के विकास, हास तथा परिवर्तन के साथ ही, साहित्य में उस विकास, हास अथवा परिवर्तन का स्वरूप ही नहीं दिखायी देता, वरन् साहित्य स्वयं विकास, हास अथवा परिवर्तन का अंग हो जाता है। जैसा कि मैं स्वयं पहले कह चुका हूँ कि साहित्य का समाज से सम्बन्ध यांत्रिक नहीं है। हासकालीन पूँजीवादी समाज के अन्दर, एक ओर हासग्रस्त अत्याचारी शोषक वर्ग होता है, तो दूसरी ओर, क्रांतिकारी शोषित वर्ग भी सिर उठाता है। जो लेखक इन दोनों तत्त्वों को देखता है और उस क्रांतिकारी शोषित वर्ग की हिमायत करता है। उसका साहित्य हासकालीन पूँजीवादी-सामंतवादी समाज के अन्दर जन्म लेकर भी स्वयं हासग्रस्त नहीं हो पाता। उदाहरण: तॉलस्तॉय के उपन्यास, अथवा हासकालीन फ्रैंच पूँजीवादी मध्यवर्गीय समाज के अन्दर उगने और पनपनेवाला रोम्यौं रोलौं का साहित्य। यह साहित्य निश्चित रूप से क्रांतिकारी शोषित वर्ग का समर्थक और पृष्ठ-पोषक होता है।¹⁵

यह मानते हुए भी कि साहित्य और समाज के संबंध यांत्रिक नहीं होते मुक्तिबोध सामाजिक-ऐतिहासिक सच्चाईयों को साहित्य की केन्द्रीय वस्तु के रूप में चिन्हित करते हैं। ऐसे में उनका मानना है कि पतनशील सामंती पूँजीवादी समाज में जन्म लेकर भी, सामंती या पूँजीवादी विचारधारा के प्रभाव में आने के बाद भी, कोई लेखक जरूरी नहीं कि अपने समाज की सच्चाईयों का उद्घाटन न कर सके। उन्होंने तालस्ताय का उदाहरण दिया है। लेनिन ने तालस्ताय के उपन्यासों की व्याख्या करते हुए उन्हें 'क्रांतिपूर्व रूसी समाज का दर्पण' कहा था। मार्क्स ने इसी तर्क प्रणाली के आधार पर बाल्जाक को महान उपन्यासकार बताया था। मुक्तिबोध भी भक्तिकालीन कवियों के रचनाधर्म की व्याख्या इसी सूत्र के सहारे करते हैं। इसी उपरोक्त उद्धृत लेख में

उन्होंने कहा कि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से हासकालीन हासग्रस्त साहित्य उच्च भी हो सकता है। जैसे देव, मतिराम और बिहारी का साहित्य। मुक्तिबोध परंपरा को ऐतिहासिकता के नजरिए से देखते हैं इसीलिए वे समय के आयाम से निकालकर रचनाकारों को लड़ाने की प्रवृत्ति पर चोट करते हुए लिखते हैं- "पूर्व कालीन विकासयुग की कला की पश्चात् कालीन विकास युग की कला से, कला की श्रेष्ठता अश्रेष्ठता की दृष्टि से तुलना करना बेकार है। वैदिक साहित्य के कविर्मनीषी, कालिदास, तुलसी और महादेवी की परस्पर तुलना करना साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता की दृष्टि से मूर्खतापूर्ण है।"¹⁶

प्रगतिवाद का विश्लेषण करते हुए भी मुक्तिबोध गहरी मार्क्सिय चिन्तन धारा को केन्द्र में रखते हुए कहते हैं कि- "राजनैतिक दृष्टि से प्रगतिवाद प्रसार का हिमायती है, वर्गहीन समाज-सत्ता का पुजारी है।"

दार्शनिक दृष्टि से प्रगतिवाद विकासवाद में विश्वास रखता है, लेकिन यह डार्विन का वैज्ञानिक विकास नहीं है जो कार्य-कारणवाद को यांत्रिक अर्थ देता है। सच पूछा जाय तो यह जड़वाद सचमुच है ही नहीं। यांत्रिक भौतिकवाद (जिसे हम जड़वाद कह सकते हैं) का समुचित खण्डन साम्यवाद के आचार्यों द्वारा हो चुका है। हेगेल के केवल बौद्धिक परिकल्पनाओं (कन्सैप्ट्स) को यहाँ अधिक ठोस और तत्त्वयुक्त बनाया जाकर उसको पुष्ट किया गया है। इसके द्वन्द्वात्मक गतिविधि द्वारा आविर्भूत विकास यांत्रिक भौतिकवाद से अधिक स्वतंत्र और पूर्ण है। प्रगतिवादी एक निश्चित दार्शनिक एटीट्यूड उत्पन्न करता है, जो न 'स्व' से अधिक 'बाह्य' को और न 'बाह्य' से अधिक 'स्व' को महत्व देता है। वह कहता है कि इन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रक्रिया से विकास होता आ रहा है। जीवन की दृष्टि से प्रगतिवाद आज तक की सबसे ऊँची मंजिल है और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें जीवन को अधिक मूर्त रूप में ग्रहण किया है।¹⁷ हम देख सकते हैं कि यहाँ भी मुक्तिबोध वर्ग, भौतिकवाद और ऐतिहासिकता की कोटियों को सफलतापूर्वक साहित्य के क्षेत्रों में लागू करते हैं।

अर्थात् प्रगतिवाद को वे आज तक की (उनके समकाल तक की) सर्वोच्च मंजिल इसलिए मानते हैं क्योंकि उसने

जीवन को सर्वाधिक मूर्त किया है। उसने शोषण के शिकार सभी मनुष्यों को एकजुट होने और शोषण के खिलाफ आवाज बुलंद करने का आह्वान किया है। वह शोषणमुक्त वर्गहीन समाज सत्ता का स्वप्न लाता है। मुक्तिबोध ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दुस्तान के साहित्यिक परिदृश्य का जायजा लेते हुए कहा कि—“स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त, भारत में अवसरवाद की बाढ़ आयी। शिक्षित मध्यवर्ग में भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुईं। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह में बहे और खूब ही बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद, स्वार्थपरता की पार्श्वभूमि में, नयी कविता के क्षेत्र में पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये, और कुछ सिद्धान्तों की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। ये सिद्धान्त और उनके हमले, वस्तुतः, उस शीत-युद्ध के अंग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिंगटन से ली गयी थी। पश्चिम की परिपक्व मानववादी परम्परा से साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण न करके, उन नये व्याख्याताओं ने उसकी अत्यन्त प्रतिक्रियावादी साहित्यिक विचारधारा को अपनाया और फैलाया। नयी कविता के आप-पास लिपटे हुए बहुत-से साहित्यिक सिद्धान्तों में शीत-युद्ध की छाप है।”¹⁸ इस तरह समग्रतः हम देखते हैं कि मुक्तिबोधके लिए मार्क्सवाद रूढ़ अर्थों में विचारधारा नहीं है बल्कि वह उनके लिए विश्वदृष्टि का निर्माण करने वाला दर्शन है।

गैर मार्क्सवादी स्रोत

मुक्तिबोध के चिंतन का प्रमुख वैचारिक स्रोत मार्क्सवाद तो था ही, अन्य गैर मार्क्सवादी विचार सरणियों को उन्होंने अपने समय के साथ जूझते हुए अपने साहित्य में आयत कर लिया। इनमें प्रमुख है फ्रायड का मनोविश्लेषणवाद, इलियट की रचना प्रक्रिया संबंधी धारणाएँ और सार्त्र का अस्तित्ववाद।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी विचार-सरणी मार्क्सवाद के समानांतर तो चलती ही हैं जिसके कारण अनेकशः इनके मार्क्सवाद विरोधी होने का आभास मिलता है, लेकिन अनेक विचारकों की नजर में मूलतः पूंजीवाद के विरुद्ध होने के कारण मार्क्सवाद के साथ इनका संबंध पारस्परिकता का है। फ्रैंकफुर्ट स्कूल के अनेक विचारकों ने खासतौर पर विल्हेम राइख ने मार्क्सवाद और

मनोविश्लेषणवाद को संश्लेषित करने का सर्वाधिक प्रयास किया। लेकिन मुक्तिबोध न तो अस्तित्ववादी थे और न ही मनोविश्लेषणवादी। वे इन्हें विश्वदृष्टि के रूप में ग्रहण नहीं करते, बल्कि मानव जीवन के कुछ खास पहलुओं के ज्ञान के विकास के तौर पर ग्रहण करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध के काव्य में मूलतः अस्तित्ववाद की कुछेक अंतर्ध्वनियाँ सुनी थीं किन्तु यदि हम ‘कामायनी : एक पुनर्विचार’ नामक मुक्तिबोध की आलोचनात्मक पुस्तक एवं उनकी कविताओं को देखें तो आपाततः फ्रायडीय मनोविश्लेषण की कोटियाँ यत्र-तत्र बिखरी नजर आती हैं। उल्लेखनीय है कि फ्रायड पाश्चात्य बौद्धिक परंपरा में अनेक कारणों से मार्क्स के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चिंतक माने जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि जैसे मार्क्स ने व्यापक सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को, जो व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र होती हैं, विश्लेषित करने के लिए व्यापक सैद्धांतिक ढाँचा निर्मित किया उसी तरह फ्रायड ने मानव मन की भीतरी या आंतरिक प्रक्रियाओं को समझने और विश्लेषित करने के लिए उत्साही बोधगम्य सैद्धांतिक ढाँचा खड़ा किया। फ्रायड ने मानव मनोविज्ञान को समझने के लिए उसकी दो कोटियों का निर्माण किया। इसमें से मानव व्यवहार को निर्धारित करने में अचेतन की प्रबल शक्ति को तो उन्होंने मान्यता अवश्य दी, किंतु उनका मुख्य उद्देश्य अचेतन को सचेतन के नियंत्रण में लाना था। इसके लिए उन्होंने स्वप्न, मतिभ्रंश आदि दैनंदिन परिघटनाओं का अध्ययन किया। किन्तु, उल्लेखनीय है कि वे अचेतन के पुजारी नहीं थे। उनकी विश्लेषणात्मक कोटियों का ऐतिहासिक संदर्भ स्पष्ट न हो पाने के बावजूद यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः मनोविकृतियों की उनकी दुनिया पूंजीवादी समाज की गलाकाटू प्रतियोगिता और इससे उत्पन्न मनुष्य के असुरक्षा बोध से पैदा होती है।

मुक्तिबोध ने मुख्य रूप से मनोविश्लेषणात्मक कोटियों का इस्तेमाल जयशंकर प्रसाद द्वारा निर्मित भाव प्रतीकों के ठोस पूंजीवादी संदर्भों को स्पष्ट करने के लिए किया। वे कहते हैं कि— “प्रसाद जी, वस्तुतः अन्तर्मुख कवि हैं। वे भावों को इस प्रकार अनुभूत करते हैं, इस तरह पहचानते हैं, जैसे हम अपने घर की भीत, टेबिल, दवात, छड़ी आदि

वस्तुएं अच्छी तरह जानते हैं। भाव मानव-प्रसंगों के बीच पैदा होते हैं। जिस प्रकार मानव-प्रसंग उलझे हुए होते हैं, उस तरह भाव भी। भाव चाहे जितने ग्रंथिल क्यों न हों, प्रसाद में ऐसी विश्लेषण प्रधान मर्म दृष्टि थी कि जो उन भावों को, सारी जटिलता और समग्रता के साथ, किन्तु फिर भी जहां तक बने वहां तक सरलीकृत रूप में, विश्लेषित और संश्लेषित रूप में, चित्रित करती थी। प्रसाद जी की अन्तर्मुखता इतनी गहन थी कि वे अपने अन्तर्जगत् में उपस्थित भावों को, उनके भेद और अभेद को, रूपों और गुणों को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे।¹⁹

मुक्तिबोध, जयशंकर प्रसाद द्वारा प्रयुक्त भाव प्रतीकों को समझने के लिए मनोविश्लेषण की कोटियों का प्रयोग तो करते हैं लेकिन इसके जरिए वे प्रसाद के भाव प्रतीकों को भाव प्रतीक नहीं रहने देते। इसके जरिए वे मनु की मनःस्थिति को जयशंकर प्रसाद की मनःस्थिति में रूपांतरित करते हैं और इसे संक्रमणकालीन भारत के एक हिंदी बौद्धिक द्वारा अपने समय और समाज से जूझने की प्रक्रिया के बतौर निरूपित करते हैं।

जयशंकर प्रसाद संबंधी विवेचन के अतिरिक्त भी मुक्तिबोध के काव्य संसार में मनोविश्लेषात्मक कोटियों का अनेकशः सृजनात्मक प्रयोग हुआ है। यदि हम मुक्तिबोध की कविताओं का मुख्य कथ्य मध्यवर्ग का मानसिक उहापोह मानें तो इस मध्यवर्गीय मन की गुत्थियों को खोलने के लिए मुक्तिबोध मनोवैज्ञानिक युक्तियों का सहारा लेते हैं। मध्यवर्गीय मनुष्य अपनी जीवन-स्थितियों के औचित्य निर्माण के लिए झूठे तर्कों का सहारा लेता है और अपने आदर्शों, विवेक इत्यादि को दमित कर देता है। उनकी अनेक कविताओं में यह दमित अवचेतन भास्वर रूप से मौजूद है—

ऐसा यह ज्ञान-मणि
मरने से मिलता है;
जीवन के जंगल में
अनुभव के नये-नये गिरियों के ढालों पर
वेदना-झरने के,
पहली बार देखे-से, जल-तल में
आत्म मिलती है
(कहीं-कहीं, कभी-कभी)

अरे, राह-गलियों में

पड़ा नहीं मिलता है ज्ञान-मणि।²⁰

उनकी प्रतिनिधि कविता 'अंधेरे में' में भी अवचेतन के भीतर छिपी हुई इन दमित भावनाओं की छवियां अनेक रूपकों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं—

पाता हूँ अकस्मात्
दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष,
मेरे ही अपने यहां पड़े हुए हैं
विचारों की रक्तिम अग्नि के मणि वे
प्राण-जल-प्रपात में घुलते हैं प्रतिपल !!²¹

हालांकि डॉ. रामविलास शर्मा ने मध्यवर्गीय अन्तर्मन की मुक्तिबोध की पहचान को स्वयं मुक्तिबोध की उलझन बताया है किन्तु ध्यान से देखने पर मुक्तिबोध का समस्त लेखन मध्यवर्ग के ऐतिहासिक विश्वासघात की छानबीन बन कर प्रकट होता है। जिस मध्यवर्ग पर देश को सामंती व्यवस्था से आधुनिक जनतांत्रिक माहौल में ले जाने का दायित्व था वह अपनी अंतर्निहित कमजोरियों के कारण इस दायित्व को पूरा कर पाने में अक्षम था। दरअसल मध्यवर्ग की मुक्तिबोध द्वारा की गई आलोचना हिंदी की साहित्यिक परंपरा में एक खास भूमिका अदा करती है। उनकी कविता 'भूल-गलती' विस्तार से एक मध्य युगीन रूपक का सहारा लेकर आधुनिक दौर के इस मध्यवर्गीय विश्वासघात की आलोचना करती है। उक्त कविता का मध्यवर्गीय माहौल हमें यह भी याद दिलाता रहता है कि वस्तुतः भारतीय मध्यवर्ग अपनी चेतना में लोकतंत्रिक मूल्यों के प्रति गहराई से प्रतिबद्ध हो ही नहीं पाया था। एक तरह से उनकी यह आलोचना भविष्यवाणी की तरह दिखाई पड़ती है जब हम आज मध्यवर्ग को गैरलोकतांत्रिक, फासीवादी प्रवृत्तियों को पोषित करने वाले प्रमुख सामाजिक आधार के रूप में देखते हैं। मध्यवर्ग के संकट को निरूपित करते हुए मुक्तिबोध अपनी कविता 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' में बताते हैं कि दरअसल मध्यवर्ग बुनियादी श्रमिक जनता के साथ एकरूपता हासिल करने की बजाय स्वयं को उच्च वर्ग के साथ जोड़ने में अधिक रुचि लेता है। इस तरह स्पष्ट है कि जिस मध्यवर्ग को लोकतंत्र का वाहक बताया

जा रहा था वह अपने संस्कारों से मध्ययुगीन था और आम जनता का साथ देने की बजाय शासन तंत्र में अपनी जगह खोजने की कोशिश करता था।

मनोविश्लेषण के औजारों का सहारा लेकर एक समाजशास्त्रीय कार्यभार निभाने की मुक्तिबोध की यह युक्ति निश्चय ही उनके समूचे मार्क्सवादी दृष्टि बिन्दु के मातहत अन्य विचारधाराओं के सृजनात्मक समाकलन की समता का द्योतक है।

मनोविश्लेषण के अतिरिक्त जिस दूसरी गैर मार्क्सवादी चिंतन पद्धति को आलोचकों ने मुक्तिबोध में लक्षित किया है वह है अस्तित्ववाद। दोनों विश्व युद्धों के बीच पश्चिमी बौद्धिक जगत में अस्तित्ववाद की महत्वपूर्ण और प्रभावकारी उपस्थिति रही। अस्तित्ववादी चिंतकों में हम मुख्य रूप से सार्त्र, काफ़्का और कामू का नाम ले सकते हैं। जिन्होंने अपने विचारों की संपुष्टि के लिए पाश्चात्य चिंतन पद्धति के भीतर अस्तित्ववाद की एक दीर्घतर परंपरा को आविष्कृत किया।

अस्तित्ववाद का प्रभाव

मुक्तिबोध की कविता पर मार्क्सवादी आलोचना के शिखर पुरुष रामविलास शर्मा ने अस्तित्ववादी होने का आरोप लगाया है। मुक्तिबोध की इस आत्मास्वीकृति के बाद देखते हैं कि अस्तित्ववाद उनकी कविता और विचारधारा में कैसे खोजा जाता है। रामविलास जी ने कहा “मुक्तिबोध अस्तित्ववाद, रहस्यवाद और मार्क्सवाद का समन्वय करते हैं।”²²

अस्तित्ववाद के प्रमुख दार्शनिक कीर्केगार्ड के मुताबिक केवल व्यक्ति सत्य है, उसकी उलझनें तथ्यों की छानबीन से या तथ्यों के बारे में सोचने-विचारने के हमारे जो नियम हैं उनसे दूर नहीं होती। अर्थात् मनुष्य के आभ्यंतर में संचरित संघर्ष और द्वंद्व, वेदनाएँ ही ज्ञान का मूल आधार मुहैया कराती हैं। अस्तित्ववाद के एक अन्य बड़े पुरस्कर्ता दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने बताया कि यांत्रिक संसाधनों वाली सभ्यता एक रोग की तरह है। मनुष्य जितना ही अपने विचारों को बाह्य की कसौटी पर कसता है उतना ही अस्तित्वमान विशेषता से उसकी दूरी बढ़ती है। उनके अनुसार चिन्तन की यांत्रिक और वस्तुगत व्यवस्थाओं ने मानव मन को कुचल दिया। यास्पर्स के ही समकालीन दार्शनिक हीडेगगर भी वस्तुगत ज्ञान की सत्ता का निषेध

करते हैं। मनुष्य जैसे जनमता है उसका वस्तुगत ज्ञान उसे नहीं हो सकता क्योंकि वह मायालोकों में खोया हुआ है। मनुष्य की नियति इस सत्य से साक्षात्कार में है कि यह साक्षात्कार निरुद्देश्य, निरर्थक है।

अस्तित्ववाद के प्रमुख दार्शनिक सार्त्र का मानना था कि मनुष्य जब पैदा होता है तो वह मानवीयता प्राप्त नहीं करता बल्कि मानवीयता वह अर्जित करता है अपनी इच्छा से, उद्देश्य निर्धारित करके। ‘मैन इज कन्डेम्ड टु बी फ्री’ नामक वाक्य जो कि बाद में बहुत बार उद्धृत किया गया, का तात्पर्य इसी संदर्भ में समझा जाना चाहिए कि मनुष्य इस संसार में अकेला है। वह किसी पर निर्भर नहीं हो सकता। स्वतंत्रता उसकी नियति है। तब इस दायित्व बोध के कारण गहरी वेदना उत्पन्न होती है। अस्तित्ववादियों के अनुसार मनुष्य अपनी क्षमता को सर्जनात्मक ढंग से कर्ममय जीवन में चरितार्थ करके अपना निर्माण स्वयं करता है। अस्तित्ववादी विचारक मूल्यों की बात करते हैं। रामविलास जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा— “वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपना उद्देश्य निश्चित करता है तब वह निर्णय मूल्यवत होता है। किन्तु क्या मूल्यवान है, क्या मूल्यहीन है यह तय करने का सवाल तभी उठता है जब किसी तरह की मूल्य धारणा पहले से प्रचलित होती है— — — (अस्तित्ववाद) चेतना को वस्तुगत भौतिकता से वैसे ही अलग रखता है जैसे ब्रिटिश दार्शनिक बर्कले यहाँ वह रोमांटिक साहित्य की उस धारा से मिल जाता है जो भावार्थ से प्रभावित थी..... जो अस्तित्ववादी खुदा को नहीं मानते थे वे खुदा के बेटे को भी नहीं मानते। इसलिए खुद ही खुदा के बेटे बन जाते हैं; खुद ही सलीब उठाने की दिमागी कसरत करते हैं..... सलीब होने की क्रिया से जो उन्हें आध्यात्मिक आनंद प्राप्त होता है उसमें आत्म निर्वासन संबंधी उनकी धारणा सहायक होती है। निर्वासन, पहले समाज से, फिर खुद से। मुक्तिबोध की कविता ‘अँधेरे में’ का विश्लेषण करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि इस कविता का ‘मैं’ दो व्यक्ति चरित्रों में विभाजित कर दिया गया है और “एक नाटकीय कौशल मात्र नहीं, बल्कि इसका आधार ‘आत्म-निर्वासन’ (सेल्फ एलियनेसन) है। ‘अँधेरे में’ की अंतिम पंक्तियाँ उस ‘अस्मिता’ या ‘आइडेन्टिटी’ की

खोज की ओर संकेत करती हैं जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है।²³

अपनी किताब 'नई कविता और अस्तित्ववाद' में रामविलास जी को नई कविता और अस्तित्ववाद की तुक भिड़ाने की इतनी जल्दी मची है कि वे अस्तित्ववाद का खाका पेश करते समय सीधे मुक्तिबोध पर टूटते हैं। आत्मनिर्वासन की जिस प्रक्रिया की ओर रामविलास जी ने इशारा किया है उसकी दो व्याख्याओं की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट कराया है। पहली व्याख्या मार्क्सवादी सेल्फ एलियनेशन वाली है और दूसरी अस्तित्ववादी लेकिन रामविलास जी का पूरा तर्क सुने बिना यह तय कर पाना सचमुच मुश्किल है कि अस्तित्ववाद मुक्तिबोध के ज्ञानात्मक स्रोतों और वैचारिकी के घटकों में से एक था या नहीं। व्यक्तिवाद से शुरू करके रामविलास जी बिम्बों तक में अस्तित्ववादी लेखकों रोकांतै, सार्त्र, कामू की तुलना नई कविता के कवियों विशेषतः मुक्तिबोध से करते हुए उन्हें अस्तित्ववादी सिद्ध करते हैं। "हिंदी के अधिकांश नई कविता लिखने वालों का हाल रोकांतै जैसा है। ऊब, उबकाई, अकेलापन, बुरे-बुरे सपने, त्रास, आत्महत्या की चाह, सड़ांध का बोध, भीड़ में अजनबीपन का एहसास होने की समस्या से परेशानी आदि-आदि लक्षण इनमें भी मिलते हैं। बीमार आदमी को कभी-कभी हर चीज बीमार नजर आती है।"²⁴

रामविलास जी का तर्क आगे बढ़ता है और विभाजित व्यक्तित्व वाली थीसिस की कविताओं से यूँ पुष्टि करते हैं- "विभाजित व्यक्तित्व वाले विक्षेप में यह देखा जाता है कि रोगी कभी एक व्यक्ति की भूमिका पूरी करता है कभी दूसरे की। कभी वह पूर्ण असम्पृक्त होकर दोनों का द्वंद्व देखता है।"²⁵

अब इन सबका हिन्दी आलोचना में रामविलास जी एक ऐसा उपचार सुझाते हैं जो आलोचना की किसी भी कोटि में नहीं अँट सकता। यह आलोचना 'घर का बैद्य' शीर्षक से लिखी जानी चाहिए थी। "पृथ्वी के नीचे दब चुके, अँधेरे कमरों में खो जाने का सपना आदमी अक्सर तब देखता है जब देर से खाना खाकर बाईं करवट सो जाए। खासकर तली भुनी चीजें खाकर। व्यायाम करने

उचित समय पर अल्पाहार करने से दुःस्वप्न दूर हो सकते हैं। उम्र 50 से ज्यादा हो तो रात्रि को केवल फलाहार अति उत्तम है।"²⁶

हिन्दी आलोचना में देशी वैद्यकी का यह नमूना और कुछ बताता हो या न बताता हो इतना जरूर बताता है कि रामविलास जी अस्तित्ववादी दार्शनिक कोटियों और नयी कविता के बीच जो संबंध बैठा रहे हैं वह आकाश कुसुम है, बंध्यापुत्र है। मुक्तिबोध के काव्य में आए गहरे आभ्यांतरी द्वंद्वों को इससे खराब आलोचनात्मक नजर से देख पाना असंभव हैं।

मुक्तिबोध की अधिसंख्य कविताओं में सत्य की सत्ता से युद्ध के रंगों के साथ अपने ही भीतर गहरी छीलछाल की भी ध्वनियाँ मौजूद हैं। 'अँधेरे में' शीर्षक कविता में आए मुक्तिबोध के एक लंबे काव्यबिंब के सहारे इस बात को और भी बेहतर तरीके से स्पष्ट किया जा सकता है-

"प्रश्न थे गंभीर, शायद खतरनाक भी,
इसीलिए बाहर के गुंजान
जंगलों से आती हुई गुंजान
जंगलों से आती हुई हवा ने
फूँक मार एकाएक मशाल ही बुझा दी...
कि मुझकों यो अँधेरे में पकड़कर
मौत की सजा दी।
किसी काले 'डैश' की घनी काली पट्टी ही
आँखों पर बाँध गयी,
किसी खड़ी पाई की सूली पर मैं टाँग दिया गया,
किसी शून्य बिन्दु के आँधियारे खड्डे में
गिरा दिया गया मैं
अचेतन स्थिति में।"²⁷

रामविलास जी के प्रतिमानों से अगर इस कविता की व्याख्या की जाए तो यहाँ यह घने काले डैश की पट्टी, खड़ी पाई की सूली, शून्य बिंदु का आँधियारा खड्डा यह सब अकेलेपन, अजनबियत, संत्रास, कुंठा जैसी अस्तित्ववादी धारणाओं के वाहक हैं और इसके लेखक को जरूर रात में बुरे सपने आते होंगे। यह बिम्बमालाएँ विभाजित मस्तिष्क द्वारा अपने डर का प्रक्षेपण हैं। अगर कविता के पूरे शिल्प को देखा जाए तो ये बिम्बमालाएँ फासिस्ट समाज की

पृष्ठभूमि में चल रहे सांस्कृतिक हमलों की आधारभूमियाँ हैं। काला रंग और अँधेरा निराला की भी कविता 'राम की शक्ति पूजा' में भी आता है और तब रामविलास शर्मा इसकी व्याख्या करते हुए विरोधाभास के सौन्दर्य को निरूपित करते हैं। चारों ओर स्तब्ध हवाओं में और अँधेरों में जलती हुई सिर्फ एक मशाल को रामविलास जी महत्त्वपूर्ण बताते हैं। अगर सिर्फ बिम्बमालाओं के आधार पर किसी कवि को अस्तित्ववादी सिद्ध किया जा सकता है या उसके काव्य के घनीभूत पीड़ा के आधार पर बरास्ते आत्मनिर्वासन, अस्तित्ववादी बताया जा सकता है तो निराला भी आस्तित्ववादी सिद्ध किए जा सकते हैं। आखिर शिशिर की शर्वरी में हिंस्र पशुओं से भरी रात में, गहरे अकेलेपन और अवसाद में क्या अस्तित्ववादी मिलान नहीं किया जा सकता? निश्चय ही नहीं और ठीक इसीलिए नयी कविता या मुक्तिबोध का बिम्बों के आधार पर अस्तित्ववादी सिद्ध किया जाना असंगत आलोचना बोध है।

'एक स्वप्न कथा' कविता का विश्लेषण करते हुए रामविलास जी ने लिखा 'एक स्वप्न कथा' में मुक्तिबोध फिर मनोविश्लेषण शास्त्र, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। स्याह समुंदर के पांखी कहते हैं। सहस्रों वर्षों से जो सागर उफनता आया है, उसका भाष्य करो, सागर के अतल का निरीक्षण करो। मुक्तिबोध को यह सीख मनोविश्लेषण-शास्त्र से मिली है। सागर में बैठ कर वह उस पत्थर को खोजते हैं जो "पूरे ब्रह्माण्ड की केन्द्र क्रियाओं का तेजस्वी अंश हो।" यह हुआ रहस्यवाद। "ग्लानिकर समुद्र में मुझे गश आता है," उनके अन्तः स्थिति सम्वेदन उन्हीं पर कड़क उठते हैं, सतहों पर छटपटा कर गिरना, माथे पर चोट लगना, लहरों द्वारा रक्त का चूसा जाना-यह सब अस्तित्ववादी भावजगत का कार्यक्रम है। कविता के अन्त में समुद्र पर सर्चलाइट से रोशनी फेंकता हुआ एक जहाज आता है :

वह जहाज

क्षोभ विद्रोह भरे संगठित विरोध का

साहसी समाज है!!

भीतर व बाहर के पूरे दलिदर से

मुक्ति की तलाश में

आगामी कल नहीं, आगत वह आज है!!

बाह्य शोषण और आन्तरिक पाप से एक साथ मुक्ति। अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद का समन्वय।'²⁸

इस उद्धरण में रामविलास जी ने जिस तरह कविताओं के अंशों में विचारधाराएँ खोजी हैं वह अजीब हैं। सहस्रों वर्षों से उफनते सागर के भाष्य को वे मनोविश्लेषण शास्त्र से मिला बताते हैं जबकि इसी कविता में मुक्तिबोध बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस काले सागर के दिक्काल का अंकन करते हैं-

"हो न हो

इस काले सागर का

सुदूर स्थित पश्चिम किनारे से

जरूर कोई नाता है

इसीलिए हमारे पास सुख नहीं आता है।'²⁹

कहाँ तो मनोविश्लेषण शास्त्र और कहाँ साम्राज्यवाद विरोधी यह सुसंगत चेतना। दूसरी तरफ सतहों पर छटपटा कर गिरना, माथे पर चोट लगना आदि बिम्ब जिन्हें रामविलास जी अस्तित्ववादी भावजगत के कार्यक्रम बताते हैं, वे मुक्तिबोध की कविता में आभ्यन्तर के द्वंद्वों को और गहरा करने का यत्न करते हैं।

रामविलास जी की मुख्य आपत्ति आभ्यन्तर जगत् से है जिसको वे येन-केन प्रकारेण भाववाद से जोड़ देते हैं। शीतयुद्ध के समय की आलोचना में जो राजनीति चल रही थी उसके अनुसार रामविलास जी का यह प्रस्थान बिन्दु आधुनिकता का और उसके रास्ते कलावाद का विरोध था। रामविलास जी अपने सामंतवाद विरोध और साम्राज्यवाद विरोध के एजेंडे को लागू करने के लिए सीमा से इतना आगे बढ़ जाते हैं कि नए सामाजिक गतिविज्ञानों की अभिव्यक्ति कर रही मुक्तिबोध की कविता उनकी पकड़ से बार-बार छूट जाती है। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष जिसको कि रामविलास जी ने अस्तित्ववादी खॉचे में फिट करके देखा वह दरअसल और कुछ नहीं बल्कि मध्यवर्ग की वही परिस्थितियाँ हैं, वही द्वन्द्व हैं जो एक तरफ उसे बदलाव की राजनीति के लिए लड़ रहे निम्नवर्गीय विचारधारा की तरफ धकेलते हैं और दूसरी तरफ अपनी सामाजिक महत्वाकांक्षाओं

की सीढ़ियाँ चढ़ने का प्रलोभन भी दिखाते हैं।

संदर्भतः कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने पाश्चात्य ज्ञान सरणियों में अस्तित्ववाद को पढ़ा भले ही हो, वे उसे जानते भले ही रहे हों, उसे मानते न थे। उनकी कविता से यह बात सिद्ध होती है।

इलियट और नई समीक्षा

मुक्तिबोध के रचनात्मक और वैचारिक वैभव के नजदीक इलियट कुछ खास कारणों से पड़ते हैं। ऐतिहासिक रूप से इलियट भी रोमांटिसिज्म विरोधी आंदोलन के नायक के रूप में देखे जाते रहे हैं। मुक्तिबोध भी छायावाद के अपने विशिष्ट पाठ के लिए हिंदी आलोचना में याद किए जाते हैं। मुक्तिबोध और टी.एस. इलियट के साहित्य की पड़ताल करने से पहले यहाँ हम इलियट के काव्य सिद्धांतों का सरसरी तौर पर जायजा लेने का यत्न करेंगे। इलियट ने रोमांटिक कविता के खिलाफ आवाज बुलन्द की जिसमें वर्ड्सवर्थ के मुताबिक कविता भावों का आवेगमय प्रवाह थी (Poetry is the spontaneous overflow of powerful emotions...) इस काव्य सिद्धांत से बहस करते हुए इलियट ने कविता को कवि के व्यक्तित्व से मुक्ति दिलाने का तर्क उठाया। कविता की सत्ता कवि के व्यक्तित्व की सत्ता के प्रतिरूप की तरह रोमांटिक कविता में आती थी। पर इलियट ने कवि की भूमिका की व्याख्या माध्यम के रूप में की। इलियट ने माना कि निजी और व्यक्तिगत अनुभवों का हस्तक्षेप कविता में नहीं होना चाहिए और कवि के व्यक्तित्व को कविता पर हावी नहीं होना चाहिए। ठीक यही बिन्दु है जहाँ इलियट निर्व्यक्तिकता का अपना सिद्धांत पेश कर रहे हैं। रोमांटिसिज्म की उच्छल आत्मपरकता के खिलाफ वे वैज्ञानिक वस्तुपरकता की प्रतिष्ठा करते हैं। निर्व्यक्तिकता की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये इलियट उदाहरण भी विज्ञान से देते हैं। निर्मला जैन और कुसुम बाँठिया की पुस्तक 'पाश्चात्य साहित्य चिंतन' में इस उद्धरण को सटिप्पण पढ़ना इलियट के सम्प्रेष्य को रेखांकित कर देता है। "निर्व्यक्तिकरण की यह प्रक्रिया कला को विज्ञान की स्थिति के निकट पहुँचा देती है। इलियट ने अपने मंतव्य को विज्ञान से एक 'व्यंजनात्मक सादृश्य' देकर स्पष्ट किया है; "मैं आपको इस पर विचार

करने के लिए आमंत्रित करता हूँ कि जब आक्सीजन और सल्फर डाई आक्साइड से युक्त प्रकोष्ठ में प्लेटिनम तार का प्रवेश कराया जाता है तो क्या घटित होता है.....प्लेटिनम के तार की मौजूदगी में उक्त दोनों गैसों को मिलाया जाता है तो उनसे सल्फ्यूरिक एसिड बनती है। यह संयोजन तभी घटित होता है जब प्लेटिनम मौजूद हो; फिर भी उस नवनिर्मित गैस में प्लेटिनम का कोई चिह्न नहीं बचता और स्वयं प्लेटिनम पर भी कोई प्रभाव पड़ता प्रतीत नहीं होता वह निष्क्रिय, तटस्थ और अपरिवर्तित रहता है। कवि का मानस प्लेटिनम का तार है। हो सकता है कि वह स्वयं व्यक्ति के अनुभव से अंशतः या पूर्णतः परिचालित हो परन्तु कलाकार जितना सिद्ध होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और स्रष्टा मानस के बीच का पार्थक्य पूर्ण होगा और उतनी ही सिद्धि के साथ उसका मानस आवेगों को, जो उसकी सामग्री होती है, पचाकर रूपांतरित करेगा।"²⁹

इलियट कलाकार की प्रगति को आत्मबलिदान मानते हैं। वे कविता को कविता के रूप में देखने के आग्रही रहे। अपने निबंध संग्रह 'सैक्रेड वुड' और बाद के निबंध 'फ्रंटियर्स आफ क्रिटिसिज्म' में भी उनका जोर कविता को जीवनीपरक या अन्य पद्धतियों से न देखने पर रहा। कविता की स्वायत्तता इलियट के लिए प्राथमिक थी। अपने प्रसिद्ध निबंध 'हेमलेट एण्ड हिज प्रॉब्लम्स' में वे 'आब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का प्रतिपादन करते हैं। निर्मला जैन ने लिखा- "अभिव्यक्ति के लिए आब्जेक्टिव कोरिलेटिव का संधान (जिसे भारतीय साहित्य शास्त्र की 'विभावन व्यवहार' विषयक अवधारणा के समतुल्य माना जा सकता है) अमूर्त अनुभूति का मूर्त वस्तु व्यापार में रूपांतरण है। यह प्रक्रिया अमूर्त के मूर्त में ही नहीं, बल्कि वैयक्तिक के निर्व्यक्तिक में रूपांतरण की प्रक्रिया भी है। इलियट ने अनुभूति के कलात्मक रूपों में अभिव्यक्ति का एकमात्र तरीका इसी 'विभावन व्यापार' के संधान को माना है..... अमूर्त अनुभूति वैयक्तिक होती है। संप्रेषण के लिए मूर्त वस्तुरूप ग्रहण करना इस वैयक्तिक अनुभव का वस्तुरूप निर्व्यक्तीकरण है और उस वस्तु सामग्री के माध्यम से तत्संबंधी अनुभूति का उद्बोध उस सार्वजनीन सामग्री का व्यक्ति सिद्ध अनुभव है

अर्थात् भोक्ता मानस का वैयक्तिक भाव कर्ता कलाकार द्वारा निर्वैयक्तिक कला रूपों के माध्यम से ही पाठक। आलोचक तक संप्रेषित होता है। बिना इस क्रिया से गुजरे उसका संप्रेषण/ग्रहण संभव नहीं होता।³⁰

मुक्तिबोध से इलियट का संबंध रचनाप्रक्रिया के विश्लेषण के आधार पर किया जा सकता है परन्तु मुक्तिबोध के रचना-संसार में व्यक्ति का सवाल या व्यक्ति के आभ्यन्तर का सवाल वर्गीय कोटियों में गहरे विन्यस्त है। इलियट वर्गीय कोटियों के बजाय दूसरी क्लासिकीय श्रेणियों का प्रयोग करते हैं। मुक्तिबोध के यहाँ रचना प्रक्रिया में निर्वैयक्तिकता कभी नहीं होती। कला के निर्माण के प्रथम क्षण में अनुभव अपने बद्धमूलों से पृथक् तो होते हैं लेकिन तत्क्षण के आभ्यन्तर के लोक से द्वंद्व में उतर जाते हैं। यहाँ हम देख सकते हैं कि व्यक्तित्व का निर्वैयक्तीकरण उस पहले क्षण में नहीं होता। कला निर्माण के दूसरे क्षण में भी अनुभवों के फैंटेसी में बदलने की प्रक्रिया में द्वंद्वात्मक गति विराजमान रहती है जिसमें कलाकार का मूल अनुभव गतिशील होता है। तीसरे क्षण में भाषा जो कवि चुनता है और फैंटेसी जो कवि के आभ्यन्तर में विकसित होती है, के बीच द्वंद्वात्मक संबंधों का संगठन होता है और भाषा के पीछे समाजैतिहासिक अर्थविस्तार, कवि के मन में ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञानों के लगातार विकसित होते द्वंद्व दोनों एक दूसरे को परस्पर परिवर्धित, परिवर्तित करने की दिशा में आगे बढ़ते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा-

“इसीलिए अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान में, कवि को नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक ओर, मूल फैंटेसी के मूल-मर्म की अभिव्यक्ति पर उस सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केन्द्रीकरण हो जाता है, तो दूसरी ओर इस केन्द्रीकरण के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विस्तार होने लगता है। उसे नये-नये साक्षात्कार होने लगते हैं। एक साक्षात्कार कई भाव-सत्त्यों का उद्घाटन करता है। एक साक्षात्कार कवि को दूसरे साक्षात्कार तक पहुँचा देता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चालू रहती है।

“उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के पीछे भाषा की अगाध अनवरत साधनाशक्ति है। भाषा फैंटेसी को काटती-छाँटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैंटेसी भाषा को सम्पन्न

और समृद्ध भी करती है।

कवि की यह फैंटेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ-अनुषंग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है। जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्संदेह महान कवि है।³¹

इस तरह हम देखते हैं कि इलियट के कला रचना के निर्वैयक्तिकता सिद्धांत से मुक्तिबोध की कला निर्माण के तीन क्षणों की थीसिस अलग है। उस अवधारणा में मुख्य बात है द्वंद्व जो इलियट के रचना प्रक्रिया में नहीं है।

इसी तरह इलियट के आब्जेक्टिव कोरिलेटिव वाले सिद्धांत को भी मुक्तिबोध से जोड़ना समीचीन नहीं जान पड़ता। अमूर्त अनुभूति का मूर्त वस्तुव्यापार में रूपान्तरण और ऐन्द्रियानुभूति के क्षणों में मूर्त तथ्यों के उपस्थित होते ही। संवेग का पैदा होना और वस्तु बोध का समाप्त हो जाना, मुक्तिबोध के रचना प्रक्रिया वाली अवधारणा से कतई मेल नहीं खाता। मुक्तिबोध के यहाँ समस्या अमूर्त के मूर्तीकरण की नहीं है। वहाँ समस्या संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के फैंटेसी के शिल्प में कविता में बदलने की है, अर्थात् इलियट जिसको मूर्त और अमूर्त के नाम से अभिहित कर रहे हैं, मुक्तिबोध के यहाँ उनमें परस्पर द्वंद्वात्मक संबंध हैं।

मुक्तिबोध के अपने शब्दों में गैर-माक्सिय दर्शन पर जो टिप्पणी है, उससे उनकी दार्शनिक अवस्थिति और साफ हो जाती हैं। मुक्तिबोध द्वारा पाश्चात्य दार्शनिक वैचारिकियों के इस आलोचनात्मक विश्लेषण के साथ बात समाप्त की जा सकती है- “किन्तु यूरोप में रोमैण्टिक कवियों की प्रभाव-छायाओं को हटाकर, रिक्त मध्यवर्गीय नैतिकता और तथाकथित आदर्शवाद के विरुद्ध, नाटकों के क्षेत्र में, शॉ ने कलम उठायी। मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों के प्रति विरक्ति एल्डूस सक्सले ने अपने उपन्यासों में प्रकट की। काव्य के क्षेत्र में टी.एस. इलियट की उसी महाविरक्ति ने अपने बंजर मैदान दिखलाये। सामाजिक ह्रास को नष्ट करने के लिए शॉ किन्ही अर्थों में ‘अतिमानव’ की अवैज्ञानिक प्रतिक्रियावादी फ्रासिस्टिक कल्पना को थामे रहे। (उन दिनों पश्चिमी यूरोप में नीत्शे तथा स्पेंगलर बहुत लोकप्रिय

दार्शनिक थे।) इसीलिए, बर्नार्ड शॉ के बारे में लेनिन ने यह कहा कि शॉ साहब बुरी संगत में फँसे हुए अच्छे आदमी हैं। अपनी 'अतिमानव' की कल्पना का किसी-न-किसी रूप में परित्याग कर शॉ समाजवाद के भक्त हुए तथा नवीन साम्यमूलक समाज-रचना उनका आदर्श हुआ। इसके विपरीत, मध्यवर्गीय जीवन-मूल्यों के प्रति विरक्ति से ग्रस्त होकर, एल्ड्रस हक्सले की सम्पूर्ण मानव-श्रद्धा ही समाप्त हो गयी। मनुष्य को ओरांगउटांग से अधिक महत्व देना उन्हें स्वीकार न हुआ। टी.एस. इलियट, इशरवुड, एल्ड्रज हक्सले को अपनी जर्जर आत्मा की समस्याओं का हल गिरजाघर तथा वेदान्त में ही दीखा, और उन्हीं की मनोवृत्तियों वाला कवि एज़रा पाउण्ड अन्त में राजनैतिक क्षेत्र में घोर फ्रासिस्ट हो गया।'³²

संदर्भ :

1. संपा. तारसप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003, पृ. 21
2. वही, पृ० 22
4. वही, पृ० 44 (पुनश्च से)
5. वही, पृ० 45
6. मुक्तिबोध, चांद का मुंह टेढ़ा है, संग्रह की शमशेर बहादुर सिंह द्वारा लिखी गई भूमिका से, पृ० 25-26
7. वही, पृ० 168
8. मैनेजर पाण्डेय, संकलित निबंध (संपादक मधुरेश)
9. चांद का मुंह टेढ़ा है, मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ० 290

10. रामजी राय मुक्तिबोध, नक्सलवादी का अवांगार्ड कवि, संपा० रामजी राय, अक्टूबर-दिसम्बर अंक, पृ० 22, 23
11. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ० 135
12. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-6, पृ० 230
13. वही, पृ० 38
14. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-2, अंधेरे में, पृ० 334
15. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, पृ० 42-43
16. वही पृ० 44
17. मुक्तिबोध रचनावली-पाँच, पृ० 30
18. भाग- 5, पृ० 207।
19. संपा. नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ० 448
20. वही, रचनावली-2, पृ० 261-62
21. नई कविता और अस्तित्ववाद, रा०वि० शर्मा, पृ० 141
22. वही, पृ० 107 से 109
23. वही, पृ० 115
24. वही, पृ० 117
25. वही, पृ० 118
26. अँधेरे में, रचनावली-2, पृ० 323
27. नयी कविता और अस्तित्ववाद, रामविलास शर्मा, पृ० 141
28. रचनावली-2, पृ० 269
29. पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, निर्मला जैन, कुसुम बाँठिया, पृ० 125-126
30. वही, पृ० 129
31. संपा. नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली-4, पृ. 92-93
32. संपा. नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ० 52

संपर्क : 09415703379

मुक्तिबोध के पाठकों की समस्याएँ

सुनील कुमार साव

लालबाबा कॉलेज (हावड़ा) में अध्यापनरत।

‘स्पष्ट’ नामक ब्लॉग-लेखन, ‘चंद्रकांता संतति’ की समस्याएँ विषय पर एम.फिल. तथा संजीव के कथा साहित्य पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से पीएच.डी. के लिए शोधरत।

लेखन एक लड़ाई है, अंधेरे से मुक्ति की लड़ाई। केवल अपनी मुक्ति नहीं, जन-जन की मुक्ति। इस लड़ाई में लेखक आजीवन अंधेरे से जूझता रहता है, मगर हार नहीं मानता। यही अपराजेय भावना लेखक को अंधेरे से लगातार लड़ने की प्रेरणा देता है। इस मुक्ति-संग्राम में लेखक आत्मोत्सर्ग तक करने से पीछे नहीं हटता, क्योंकि वह जानता है; उसका आत्मोत्सर्ग जन-जन को अंधेरे से मुक्ति दिला सकता है।

आदिम युग से तकनीकी युग तक लेखन जारी है, शिला-लेख से ब्लॉग लेखन तक। लेखन के विकास के साथ-साथ पठन के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ है। जैसे-जैसे लेखन की मात्रा बढ़ी है, वैसे-वैसे पढ़ने की क्षमता भी घटी है। फलस्वरूप अध्ययन-मनन-प्रवचन-प्रयोग का दायरा संकुचित होता जा रहा है। हद तो तब हो गई, जब ‘किताब कैसे पढ़ी जाए’¹ विषय पर भी व्यंग्य लिखा जाने लगा है।

आज हिंदी फ़िल्मों का बाजार 500 करोड़ तक जा पहुँचा है।² स्टार प्लस के सीरियल्स टी. आर. पी. के नए कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं।³ हिंदी एफ. एम. चैनल्स का दायरा हमारे जीवन में तीव्रता से बढ़ रहा है। अखबारों में पाठकों की संख्या बढ़ाने की होड़-सी लग गई है।⁴ विश्वकप के बाद प्रीमियर लीग और सुपर लीग की खेल प्रतियोगिताएँ भी हिंदी में प्रसारित होने लगी हैं। फेसबुक, वॉट्स-ऐप, ट्विटर आदि सोशल साइट्स पर भी युवा पीढ़ी हिंदी में गुफ्तगू करते हुए, थकती नहीं। ऐसे में दैनंदिन व्यस्तता को त्यागकर कितने लोग साहित्य पढ़ते हैं? और साहित्य में भी कितने लोग मुक्तिबोध के साहित्य को पढ़ने के लिए समय निकाल पाते हैं? इसके बावजूद चाहे मुक्तिबोध हो या कोई और, लेखक कभी नहीं भूलता की उसकी शक्ति पाठक है। जिसे स्पष्ट करते हुए देवेन्द्र सिंह लिखते हैं- “सोचें, हम लिखने वालों की शक्ति कहाँ हैं? सेनापति की शक्ति जैसे सेना में निहित होती है, नेता की जनता में, कप्तान की टीम में, वैसे ही लेखक की शक्ति पाठक में है।”⁵ यही कारण है कि लेखक की सार्थकता साहित्य से पाठक को जोड़ने में है।

मुक्तिबोध का नाम आते ही अधिकांश पाठक तनावग्रस्त हो जाते हैं। उनके साहित्यास्वादन में बाधा उत्पन्न हो जाती है। वे खिन्नता का अनुभव करते हुए, मुक्तिबोध से निराला और नागार्जुन को

श्रेष्ठ और सुपाठ्य बताने लगते हैं। एक बार जब मन में बैठ जाता है कि मुक्तिबोध का काव्य कठिनतम है तो जीवन-भर हम मुक्तिबोध को दूर से ही प्रणाम करने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

ऐसा नहीं है कि यह समस्या केवल सामान्य पाठक तक ही सीमित है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में सहृदय पाठक भी इस समस्या से जूझ रहे हैं। यही कारण है कि मुक्तिबोध की कविता में नंददुलारे वाजपेयी को हाहाकार⁶, शमशेर बहादुर सिंह को आधुनिक यथार्थ कथा का भयानकतम अंश⁷, रामविलास शर्मा को असुरक्षित जीवन की कविता⁸, नेमिचंद्र जैन को एक अचरज लोक में साहसिक यात्रा का-सा,⁹ त्रिलोचन शास्त्री को दुःख, त्रास, वैमनस्य, दुर्नीति आदि का यथातथ्य अनुभव कराने वाले¹⁰, नामवर सिंह को आत्मसंघर्ष के कवि¹¹, कुँवर नारायण को समकालीन जीवन के भयानकतम अंश¹², श्रीकांत वर्मा को मनुष्य के आत्म-संहार की भयानक और आक्रामक तस्वीरें¹³, नंद किशोर नवल को संघर्ष और सौन्दर्य के विलक्षण कवि¹⁴, केदारनाथ सिंह को भाषा का अजनबीपन¹⁵, अशोक वाजपेयी को भयानक खबर का कवि¹⁶ आदि विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह विविध रूप सामान्य पाठकों से विशिष्ट पाठकों तक की समस्याओं की ओर ध्यान केंद्रित करते हैं, जिन्हें नंदकिशोर नवल आदि मुक्तिबोध के परवर्ती आलोचकों ने बखूबी समझा है।

मुक्तिबोध की काव्य-यात्रा भी अजीब है, जिन्हें जीते-जी पाठकों, प्रकाशकों तथा समकालीन साहित्यकारों ने हासिये का लेखक माना; वही मरने के बाद हिंदी साहित्य के मूर्धन्य साहित्यकार माने जाने लगे। इस असंगति को स्पष्ट करते हुए नंदकिशोर नवल लिखते हैं- “एक समय था कि वे सिर्फ ‘तार सप्तक’ के एक कवि के रूप में जाने जाते थे। फिर वह समय आया जब वे सफल नहीं, बल्कि एक सार्थक कवि के रूप में एकाध विद्वान की दृष्टि में आयें। 1964 में उनकी मृत्यु हुई और उसी वर्ष उनका भारी-भरकम कविता संग्रह ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ प्रकाशित हुआ। उसके बाद ऐसा लगा कि वे स्वयं अपने कृतित्व को छेक कर खड़े थे और अब उनके उसके सामने से हट जाने से उसका प्रकाश सम्पूर्ण हिन्दी जगत पर विकीर्ण हो

उठा है। देखते-देखते मुक्तिबोध युवा पीढ़ी के ही आदर्श कवि नहीं हो गये, उन्हें निराला के बाद दूसरा वैसा महत्त्वपूर्ण कवि माना गया।”¹⁷ ऐसे में यह जानना जरूरी हो जाता है कि वे कौन से कारण थे? जिन्होंने मुक्तिबोध को जीते-जी बीस वर्ष के लंबे रचनाकाल में कभी भी महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होने दिया। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए, नामवर सिंह लिखते हैं- “इतना समर्थ कवि बीस वर्षों की काव्य साधना के बाद भी सहृदयों में प्रिय नहीं हो सका। यह प्रश्न मेरे मन में बराबर उठता रहा है और बार-बार विचार काव्य-शिल्प पर जा कर अटक जाता है।”¹⁸ अर्थात् शिल्प ही वह कारण है, जो मुक्तिबोध को सहृदय पाठकों तक पहुँचने से रोकता है।

किसी भी कृति में शिल्प का महत्त्व अंतर्वस्तु के महत्त्व से बिल्कुल कम नहीं होता है, क्योंकि अंतर्वस्तु तब तक सफल नहीं माना जा सकता है, जब तक हम उसे शिल्प का सफलतम ढाँचा नहीं प्रदान करते हैं। यह शिल्प और अंतर्वस्तु का संतुलन ही है, जो किसी रचना को कालजयी बनाता है। मुक्तिबोध तो कालजयी हैं, और रहेंगे। परंतु उनके पाठकों के समक्ष शिल्प संबंधी दुरुहता भी रहेगी।

नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के काव्य शिल्प में कई अवरोध देखे हैं। उनके अनुसार मुक्तिबोध के काव्य में आत्म-संवाद शैली¹⁹, नाटकीयता का अभाव²⁰, प्रलंबित वाक्य विन्यास वाली दमतोड़ लय²¹, एक बिम्ब को समस्त संभावनाओं तक खींचना²², परस्पर विरोधी बिम्बों का प्रयोग²³, अत्यधिक संक्षेपण²⁴ आदि शिल्प संबंधी कई अवरोध हैं। आगे कुँवर नारायण ने मुक्तिबोध के काव्य में अनुकूल फार्म का अभाव²⁵, भाषा में छायावादी किस्म का फैलाव और उलझाव²⁶ तथा त्रिलोचन शास्त्री ने काव्य रूढ़ियों के अभाव²⁷ आदि शिल्प संबंधी कई अवरोधकों का उल्लेख किया है। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध के काव्य और पाठक के बीच शिल्प संबंधी एकाधिक बाधाएँ मौजूद हैं, जिन्हें पार किए बिना मुक्तिबोध को समझना बहुत मुश्किल है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि मुक्तिबोध के साहित्य और उनके पाठकों की बीच केवल शिल्प ही बाधक है या अंतर्वस्तु भी, तो हम पायेंगे कि मुक्तिबोध के साहित्य का

अंतर्वस्तु भी अपनी भयावह सच्चाई के कारण पाठकों से दूर हो जाता है। मुक्तिबोध के साहित्य की भयावहता को स्पष्ट करते हुए श्रीकांत वर्मा लिखते हैं, “समकालीन मनुष्यता का यथार्थ सचमुच ही इतना भयावह है कि उसे देख कर आदमी अंधा हो सकता है, संबोधित कर गूँगा हो सकता है और उससे साक्षात्कार करते हुए आत्मघात कर सकता है।”²⁸ ऐसे में कोई साहसी पाठक ही होगा; जो ऐसे भयानक यथार्थ का साक्षात्कार करना स्वीकार कर सकता है।

हिंदी में “एक लंबे अर्से तक कविता आनंदित और आह्लादित करने की वस्तु समझी जाती रही है, और कुछ कवि तथा अनेक पाठक आज भी इस परंपरा को निभाए चल रहे हैं।”²⁹ फलस्वरूप हिंदी कवि समकालीन यथार्थ की भयावहता को उजागर करने से इंकार करते हैं। जिसे स्पष्ट करते हुए श्रीकांत वर्मा लिखते हैं, “गूँगे और अंधे हो जाने के भय से हिन्दी की ‘यशस्वी’ कवि-पीढ़ी ने जिस यथार्थ से साक्षात्कार करने से इंकार किया, मुक्तिबोध ने उसे संवाद योग्य बनाया।”³⁰ ऐसे में मुक्तिबोध सचमुच तारीफ़ के काबिल हैं। समकालीन जीवन की भयावहता को सार्थक अर्थों में बयान करने में मुक्तिबोध अतुलनीय हैं।

शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध की रचनात्मकता के उन पारखियों में से एक हैं, जिन्होंने मुक्तिबोध की जनवादी चेतना को सर्वप्रथम व्याख्यायित किया। प्रारंभिक पारखियों में से एक होने पर भी उन्हें मुक्तिबोध के साहित्य के पाठकीय अवरोधों से संघर्ष करना पड़ा। यह संघर्ष केवल रूप और अंतर्वस्तु तक सीमित नहीं था। शमशेर पाठकीय अवरोधों के नवीन स्तरों का भी उल्लेख करते हैं, जिसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- “मुक्तिबोध के साथ मेरी समस्या होती है (अक्सर ही पाठकों की होती है; मैं भी एक साधारण पाठक ही हूँ) अव्वल तो पढ़ने की ! (ईमानदारी की बात) रचना की दीर्घकाय विराटता हताश करती है। ए ग्रिम रियलिटी; अंदर-बाहर सब ओर से। वस्तु और शिल्प, रूप और अंतरात्मा, रचना-प्रक्रिया और पाठक की प्राथमिक प्रतिक्रिया सबमें एक अजीब ग्रिमेनेस। मैं बचकर कहाँ जा सकता हूँ। घिर ही जाता हूँ, फँस ही जाता हूँ।”³¹ ऐसे में मुक्तिबोध के सामान्य पाठक की क्या

हालत हो सकती है? यह अवश्य चिंता का विषय है।

मुक्तिबोध के सार्थक व्याख्याताओं में नंदकिशोर नवल का नाम अविस्मरणीय है। उन्होंने मुक्तिबोध के पाठकीय अवरोध संबंधी विवादों के एक बड़े कारण की ओर संकेत किया है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो, “मुक्तिबोध संभवतः पाठकों की कठिनाई को ध्यान में रखकर अनेक बार स्वयं भी अपनी फैंटेसी में आने वाली वस्तुओं के प्रतीकार्थ का संकेत कर देते थे। यदि उन संकेतों को भी समझा गया होता, तो उनकी ऐसी कविताओं को लेकर जो विवाद चलता रहा है उसमें बहुत कुछ कमी आ जाती।”³² मगर विवाद समाप्त नहीं होता। विवाद का बने रहना ही मुक्तिबोध के पाठकीय अवरोधों के बने रहने का संकेत है।

मुक्तिबोध की कविताओं का सम्पादन करते हुए त्रिलोचन शास्त्री उनके काव्य में शिल्प के अलावा लेखकों द्वारा पाठकों को प्रदान की जाने वाली कई सुविधाओं की कमी की ओर भी इशारा करते हैं। जिसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं - “उनकी कविताओं में व्याख्या का तत्त्व भी घुला मिला रहता है। व्याख्यात्मक कविताएँ पाठकों को थकाती हैं। मुक्तिबोध पाठक की मान्यताओं को भी ध्यान में नहीं लाते। मुक्तिबोध उस स्वभाव के कवि हैं, जो पाठक को सावधान देखना पसंद करते हैं।”³³ ऐसे में पाठक अपनी दैनंदिन व्यस्तताओं में मुक्तिबोध जैसे साहित्यकार को क्यों पढ़ें? जहाँ पाठकीय उपेक्षा का स्तर सर्वोपरि है। आखिर कितनी व्याख्याएं पढ़ी जा सकती हैं? आखिर लेखक के साहित्य को पढ़ते समय कितने लोग उनकी मान्यताओं को पढ़ते-पढ़ाते हैं? आखिर कब तक सावधान रहकर एकरसता से ऊब न हो?

इसी समस्या से दो-चार होते हुए केदारनाथ सिंह मुक्तिबोध की द्विभाषिकता की समस्या (घर में मराठी और साहित्य में हिंदी) को सामने लाते हैं। इस रचनात्मक अंतराल को पाटने में मुक्तिबोध सफल नहीं हुए, जिसका उल्लेख करते हुए केदारनाथ सिंह लिखते हैं- “उनकी घर की भाषा और कविता की भाषा का द्वंद्व उनकी पूरी कविता की बनावट में एक अजीब-सा रचनात्मक अजनबीपन पैदा करता है। यह अजनबीपन उनकी कविता में परिचित शब्द-समूह और पूरे वाक्य विन्यास को अनेक झटके देता है।”³⁴

इस तरह भाषिक अजनबीपन भी मुक्तिबोध के पाठक के लिए अवरोध का कार्य करते हैं।

वस्तुतः इतने पाठकीय अवरोध, इतनी भयावहता, इतनी एकरसता, इतनी शिल्पगत अनगढ़ता, इतना भाषिक अजनबीपन आदि होने के बावजूद आखिर मुक्तिबोध के साहित्य में ऐसा क्या है जो लगातार पाठकों को अपनी ओर खींचता रहता है। आओ, बार-बार आओ, मुक्तिबोध से मुक्ति का बोध पाओ।

ऐसे में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मुक्तिबोध को कैसे पढ़ा जाए? या मुक्तिबोध को पढ़ते समय कौन-कौन-सी सावधानियाँ बरतनी चाहिए? या मुक्तिबोध के साहित्य को ग्रहण करने वाले पाठक की क्या योग्यताएँ होनी चाहिए?

मुक्तिबोध के पाठकों की योग्यताओं की तलाश में उनके साहित्य के पारखियों के पास ही जाना चाहिए। इस क्रम में सबसे पहले हम शमशेर बहादुर सिंह के माध्यम से यह जानने का प्रयास करते हैं कि वे मुक्तिबोध को कैसे पढ़ना उचित समझते हैं। उनका मानना है कि “मुक्तिबोध की कविता को किसी राजादाँ की बातों की तरह सँभल-सँभल कर, सोच-सोच कर, बल्कि कभी-कभी दोहरा-दोहरा कर पढ़ना चाहिए।”³⁵ अर्थात् एक बार पढ़कर भूलने वालों के लिए मुक्तिबोध का साहित्य नहीं है। मुक्तिबोध का सच्चा पाठक वही हो सकता है, जो उसे सावधानी से ग्रहण करने के लिए तत्पर हो। यही कारण है कि एक बार मुक्तिबोध को पढ़ लेने और अर्थ और भाव-व्यंजनाएँ हृदयंगम कर लेने के बाद कविता हृदय पर, चेतना पर, हावी हो जाती है। आप मुक्तिबोध के चित्रों के पैटर्न समझ लेने के बाद उन्हें उम्र भर नहीं भूल सकते।³⁶ अर्थात् एक बार हृदयंगम करने के बाद मुक्तिबोध अविस्मरणीय हो जाते हैं।

यह अविस्मरणीयता ही मुक्तिबोध के सहृदय पाठकों में उनके प्रति आदर की भावना को और गहरा करता है, जिसे स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध रचनावली के संपादक नेमिचंद्र जैन लिखते हैं, “कम-से-कम अपने लिए तो मैं यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मुक्तिबोध की सारी रचनाओं से साक्षात्कार ने मेरे मन में लेखक के रूप में

उनके प्रति आदर की भावना को और भी गहरा कर दिया है।”³⁷ अर्थात् जितना हम मुक्तिबोध की रचनाओं से साक्षात्कार करेंगे, हमारे मन में उतना ही उनके प्रति आदर भाव गहरा होता जायेगा।

मुक्तिबोध को सरसरी निगाह से आनंदमग्न होकर नहीं पढ़ा जा सकता है। उन्हें समझने के लिए गंभीर अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। तभी मुक्तिबोध के साहित्य को आत्मसात करना संभव हो सकता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कुँवर नारायण लिखते हैं- “वैसे मुक्तिबोध की कविताएँ अपने ढंग से भरपूर प्रभाव छोड़ती हैं, बशर्ते कि पाठक में वह लंबा धैर्य हो, जिसकी माँग उनकी कविताओं की बनावट करती है।”³⁸ कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि धैर्यपूर्वक अध्ययन से मुक्तिबोध के साहित्य को समझा जा सकता है।

संस्कृत का एक बहु-प्रचलित श्लोक है ‘श्रद्धावान लभ्यते ज्ञानम्’ अर्थात् ज्ञान के प्रति श्रद्धाभाव रखनेवाला ही उसे ग्रहण कर सकता है। अस्थिर चित्त वाले को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मुक्तिबोध के साहित्य के साथ भी कुछ ऐसा ही है, तभी तो त्रिलोचन शास्त्री को लिखना पड़ा कि- “मुक्तिबोध पाठक को अपने विश्वास में लेना चाहते हैं, उनकी रचना का प्रकार ऐसा है कि दुचित्ता पाठक उसे ग्रहण नहीं कर सकता। पूरी तरह कवि के समानान्तर चल सकने वाला पाठक ही कवि का प्रिय साथी बन सकता है। ऐसे पाठक को ही धीरे-धीरे प्रतीति होगी कि कवि हमें क्या दे रहा है।”³⁹ अर्थात् स्थिर चित्त वाले पाठक ही मुक्तिबोध के सच्चे पाठक बन सकते हैं।

सच कड़वा होता है और कड़वी चीजों से लोग परहेज करते हैं। यही कारण है कि साहित्य में यथार्थ की कांट-छांट की परंपरा चल पड़ी है। अब यथार्थ को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता है। उसे पाठक और बाज़ार की रुचि के अनुसार तैयार किया जाता है, परंतु मुक्तिबोध ऐसी कांट-छांट का विरोध करते, जिसे स्पष्ट करते हुए त्रिलोचन शास्त्री लिखते हैं - “मुक्तिबोध पाठक को उद्बोधित नहीं करते। वे चाहते हैं कि पाठक स्वयं उदबुद्ध हो। वह अपनी आँखों सत्य को देखे और वास्तव को वास्तव रूप में जाने। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में पाठक अथवा विचारक

अनेक बार बेचैनी का अनुभव करेगा ; यह मुक्तिबोध का अभिप्रेत है, क्योंकि बेचैनी अगर क्रिया शक्ति है तो कुछ कराके रहेगी।⁴⁰ इस तरह मुक्तिबोध अपने पाठक को यथार्थ दिखाकर उन्हें बेचैन करते हैं , ऐसे में जिन्हें सच का सामना करने से भय लगता हो, वे मुक्तिबोध के पाठक नहीं बन सकते हैं।

अब सवाल यह है कि क्या मुक्तिबोध अपने साहित्य की कठिनता से अवगत नहीं थे ? क्या उन्हें पाठकीय रुचि का ज्ञान नहीं था ? क्या मार्क्सवादी होकर भी वे सरल भाषा का प्रयोग करने में असमर्थ थे ? या यह सब जानने के बावजूद मुक्तिबोध की दृष्टि में उनका साध्य बड़ा था उस साध्य तक पहुँचने का साधन नहीं।

मुक्तिबोध अपने साहित्य की कठिनता से अवगत थे, परंतु इससे वे कभी लक्ष्यच्युत नहीं हुए। उन्हें जनता के साहित्य की सच्ची पहचान थी, जिसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं-“ ‘जनता का साहित्य’ का अर्थ जनता को तुरंत ही समझ में आने वाले साहित्य से हरगिज़ नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता-मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते।⁴¹ परंतु ऐसा नहीं है, साहित्य, नौटंकी और किस्सा तोता-मैना से बड़ी चीज़ है।

ऐसे में यह जानना भी जरूरी है कि मुक्तिबोध की दृष्टि में उनके साहित्य को समझने वाले पाठक की क्या योग्यताएँ होनी चाहिये ? वह पाठक किस योग्यता के सहारे मुक्तिबोध के साहित्य को समझने में सफल हो सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं - “जो लोग ‘जनता का साहित्य’ से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरंत समझ में आये, जनता उसका मर्म पा सके, यही उसकी पहली कसौटी है - वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है।⁴² अर्थात् जनता का साहित्य पढ़ने वाले पाठक को शिक्षित नहीं, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होना आवश्यक है; तो फिर बिना सुशिक्षित और सुसंस्कृत हुए, मुक्तिबोध का साहित्य कैसे समझा जा सकता है ?

हमारी शिक्षा प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयी स्तरों में विभाजित है। ऐसे में यह कहना कि प्राथमिक स्तर का साहित्य ही महान है और विश्वविद्यालयी स्तर का

साहित्य नहीं, तो यह केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन ही नहीं है, बल्कि जनता से गहारी भी है। जिसे स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं - “कुछ साहित्य तो निश्चय ही प्रारंभिक शिक्षा के अनुकूल होगा, तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिए। प्रारंभिक श्रेणी के लिये उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है, और सर्वोच्च श्रेणी के लिये उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है; यह कहना जनता से गहारी है।⁴³ ऐसे में स्पष्ट है कि प्रत्येक साहित्य का अपना स्तर होता है। प्रारंभिक स्तर के साहित्य से सर्वोच्च स्तर के साहित्य की तुलना करना व्यर्थ है। वस्तुतः यह भी कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध का साहित्य सर्वोपरि शिक्षा का साहित्य है, उसे समझने के लिए पाठक को भी उस स्तर तक पहुँचना चाहिए।

इस तरह हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध का पाठक वही हो सकता है, जो सचेतन, विचारशील, धैर्यवान , क्रियाशील , सुशिक्षित , सुसंस्कृत आदि हो। इन गुणों से संपन्न पाठक ही मुक्तिबोध को सहज रूप में ग्रहण कर सकता है। ऐसे में हमें उन सारे पाठकों (जो मुक्तिबोध के साहित्य को दुरुह मानते हैं) यह पूछना चाहिए कि आप में मुक्तिबोध के पाठक बनने के कितने गुण मौजूद हैं ? क्या आपने कभी सोचा है ? अगर नहीं सोचा है तो अभी सोचिए, क्योंकि जब जागो तभी सवेरा माना गया है। इस तरह आरोप लगाने वाले सजग पाठकों को आत्म-निरीक्षण का बेहतरीन मौका मिल जाता है।

संदर्भ :

1. नवल, हँसते हँसाते, जीवनलता, कोलकाता, 2007, पृ.-07
2. http://en.wikipedia.org/wiki/List_of_highest-grossing_Indian_films.
3. <http://www.tellytrp.in>
4. http://hi.wikipedia.org/wiki/पाठक_संख्या_के_अनुसार_भारत_में_समाचार_पत्रों_की_सूची।
5. सिंह, देवेन्द्र, हम किसके लिए लिखते हैं?, अभिधा, अरविंद कुमार (सं.), जनवरी-जून-जुलाई-दिसंबर (संयुक्तांक-13-14), 2014, पृ.-90.
6. वाजपेयी, नंददुलारे, गजानन माधव मुक्तिबोध, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-17
7. सिंह, शमशेर बहादुर, मुक्तिबोध और उनका काव्य, मुक्तिबोध

- कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-21.
8. शर्मा, रामविलास, मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-49.
9. जैन, नेमिचंद्र, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-16.
10. शास्त्री, त्रिलोचन, मुक्तिबोध का काव्य-वैशिष्ट्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-55.
11. सिंह, नामवर, आत्मसंघर्ष के कवि: गजानन मुक्तिबोध, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-64.
12. कुँवरनारायण, मुक्तिबोध की कविता की बनावट, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-79.
13. त्रिपाठी, अरविंद (सं.), श्रीकांत वर्मा रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ.-86
14. नवल, नंदकिशोर, मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2005, पृ. 12
15. सिंह, केदारनाथ, कालबद्ध और पदार्थमय, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-107.
16. वाजपेयी, अशोक, भयानक खबर की कविता, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-121.
17. नवल, नंदकिशोर (सं.), मुक्तिबोध कवि-छवि (भूमिका), नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-07.
- 18,19,20,21,22,23. सिंह, नामवर, आत्मसंघर्ष के कवि : गजानन मुक्तिबोध, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-72.
24. उपरोक्त, पृ.-73.
25. कुँवरनारायण, मुक्तिबोध की कविता की बनावट, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-76.
26. उपरोक्त, पृ.-82.
27. शास्त्री, त्रिलोचन, मुक्तिबोध का काव्य-वैशिष्ट्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-54.
28. त्रिपाठी, अरविंद (सं.), श्रीकांत वर्मा रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ.-86.
29. सिंह, नामवर, आत्मसंघर्ष के कवि: गजानन मुक्तिबोध, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-72.
30. उपरोक्त, पृ.-87.
31. सिंह, शमशेर बहादुर, मुक्तिबोध और उनका काव्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-21-22.
32. नवल, नंदकिशोर, मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2005, पृ. 12
33. शास्त्री, त्रिलोचन, मुक्तिबोध का काव्य-वैशिष्ट्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-54.
34. सिंह, केदारनाथ, कालबद्ध और पदार्थमय, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-108.
35. मुक्तिबोध, गजानन माधव, चाँद का मुँह टेढ़ा है (भूमिका-शमशेर बहादुर सिंह), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता, 1964, पृ.-24.
36. सिंह, शमशेर बहादुर, मुक्तिबोध और उनका काव्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-22.
37. जैन, नेमिचंद्र, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 15-16.
38. कुँवरनारायण, मुक्तिबोध की कविता की बनावट, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-74-75.
39. शास्त्री, त्रिलोचन, मुक्तिबोध का काव्य-वैशिष्ट्य, मुक्तिबोध कवि-छवि, नंदकिशोर नवल (सं.), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृ.-55.
40. उपरोक्त
41. जैन, नेमिचंद्र, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.-75.
42. उपरोक्त
43. उपरोक्त, पृ.-75-76
- संपर्क :** 10, एस. पी. बैनर्जी रोड, आलमबजार, कोलकाता - 700035 मो. 09836943231

वस्तु एवं रूप का अन्तर्बन्ध एवं मुक्तिबोध

सोनम सिंह

शोध छात्रा, हिंदी विभाग,
कलकत्ता विश्वविद्यालय,

“किसी भी साहित्यिक कृति में दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है—एक उसकी वस्तु और दूसरा उसका रूप। वस्तु रूप से अविच्छिन्न होती है जिसका प्रमाण यह है कि वह रूप के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती।... साहित्यिक कृति में अभिव्यक्त भाव और विचार उसकी वस्तु होते हैं और उन्हें प्रकट करने का ढंग उनके रूप का निर्माण करता है। ...भाषा, शैली, शिल्प, प्रविधि आदि इस रूप के ही तत्त्व हैं। ...यह रूप कोई निष्क्रिय वस्तु नहीं है। यदि वह अपना और वास्तविक रूप हुआ तो यह वस्तु को प्रत्यक्षतः प्रभावित करता है। इस प्रकार यह सही है कि साहित्यिक कृति में वस्तु और रूप एकात्म होते हैं।”¹ नंद किशोर नवल ने अपने इस कथ्य में वस्तु और रूप के स्वरूप को स्पष्ट किया है। जहाँ वे साहित्य के विवेचन को वस्तु एवं रूप के बिना अधूरा मानते हैं, वहीं वे वस्तु एवं रूप की एकात्मकता को भी स्वीकार करते हैं।

‘वस्तु और रूप’ के प्रश्न पर मार्क्सवादी समीक्षकों ने विस्तार से विचार किया है। मुक्तिबोध ने अपने विभिन्न समीक्षात्मक निबंधों में इस विषय पर अपना चिंतन व्यक्त किया है। वस्तु के विषय में वे कहते हैं— “काव्य का वस्तु तत्त्व वह मनस्तत्त्व है जो अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठा है, हाँ यह सही है कि इस मनस्तत्त्व का आधार—कारण कवि की प्रकृति और जीवन—जगत् इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया के गुम्फों से तैयार हुआ है।”²

मुक्तिबोध ‘काव्य-वस्तु’ और ‘काव्य-विषय’ में अंतर मानते हैं। वे कहते हैं— “तुलसी का ‘मानस’ वाल्मीकि का ‘रामायण’ दोनों का विषय एक होते हुए भी मेरे ख्याल से दोनों के काव्यगत वस्तु-तत्त्व अलग-अलग हैं।”³ काव्य-विषय एवं काव्य-वस्तु के संबंध में मुक्तिबोध की दृष्टि बिल्कुल निर्भ्रान्त है। काव्य वस्तु अर्थात् मनस्तत्त्व के विषय में उनका कहना है कि मनस्तत्त्व कवि मन के भीतर की अंतर्गत-व्यवस्था का ही एक भाग होता है। वस्तुतः रचनाकार का संवेदनशील मन बाह्य जीवन-जगत का निरन्तर आभ्यन्तरीकरण करता रहता है। काव्य-वस्तु आभ्यन्तरीकृत तत्त्व का रचनाकार की प्रवृत्ति द्वारा संशोधित संपादित-विकसित रूप होता है।

अपनी पूरी स्थापना को तीन सूत्रों में व्यक्त करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं—

1. “अन्तर्तत्त्व संशोधित-संपादित-आत्मसातकृत बाह्य-जगत ही है।

2. मन का स्वातन्त्र्य सापेक्ष है।

3. मन की ऊर्जा में ही उसकी स्वतंत्रता है, किंतु वह ऊर्जा भी देह-स्थिति और वातावरण से नियंत्रित है।”¹⁴

मन के भीतर अन्तर्तत्त्व का कलावस्तु में रूपांतरण चार सोपानों में होता है। जिनके विषय में मुक्तिबोध कहते हैं- “कला के वस्तु-तत्त्व अन्तर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। वे ऐसे अन्तर्तत्त्व हैं जो बाहर के धक्के से या उन धक्कों के संचय से उद्बलित अर्थात्- 1. तरंगायित, 2. मानसिक दृष्टि के सम्मुख उद्घाटित 3. जीवन मूल्यों तथा पूर्वोत्तर अनुभवों से आलोकित तथा 4. अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठते हैं।”¹⁵

ये चारों सोपान क्रमशः विकास के द्योतक हैं। मुक्तिबोध ने मनस्तत्त्वों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या किए जाने की बात कही है। मनस्तत्त्वों की इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या को वे वर्णनात्मक और विवेचनात्मक रूप में करने की बात करते हैं।

मार्क्सवादी दर्शन ‘वस्तु’ के अध्ययन अन्वेषण में द्वन्द्वात्मक पद्धति अपनाने का आग्रह करता है। ताकि उस वस्तु को उसकी समग्रता में जाना जा सके। मार्क्सवाद के अंतर्गत ‘वस्तु’ को उसके द्वन्द्वात्मक रूप में सामाजिक नैतिकता एवं दायित्वबोध से जोड़कर देखा गया है। “मार्क्सवादी दृष्टि से यदि कलाकृति कलात्मक है तो वह नैतिक भी होगी।”¹⁶

द्वन्द्ववाद की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके द्वारा वस्तु को एक विशेष सत्ता या अस्तित्व के रूप में देखकर वस्तु के अंतर्सम्बन्धों तथा अंतर्विरोधों के साथ जाँचा जाता है। इसके विपरीत पराभौतिक दृष्टि में वस्तु को जड़ पदार्थ का रूप मानते हुए इसे एक अलग इकाई मानकर व्याख्या की जाती है। द्वन्द्ववाद की दृष्टि में जीवनानुभव ही रचना में सौन्दर्यानुभव बनकर प्रकट होते हैं। अतः कला में निहित वस्तु का निर्माण इन्हीं जीवनानुभवों द्वारा होता है। वस्तुतः परिवर्तनशील जीवन के साथ वस्तु तत्त्व भी निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं एवं यहीं पर आकर निरंतर परिवर्तनशील वस्तु के साथ धीमी गति से परिवर्तित होने वाले रूप का द्वन्द्व आरंभ होता है। नयी वस्तु जीवन

की गतिकता की पहचान है तो पुराना पड़ चुका रूप उस गतिशील तत्त्व को अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होता है। इसी कारण नयी वस्तु के साथ नये रूप की तलाश करनी पड़ती है और इस तरह कला में वस्तु एवं रूप का यह द्वन्द्व चलता रहता है।

वस्तु एवं रूप के इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के विषय में मुक्तिबोध ने बहुत कुछ कहा है। उन्होंने लिखा है- “कला के मनस्तत्त्व अंतर्तत्त्व-व्यवस्था का ही एक भाग है। यह अंतर्तत्त्व-व्यवस्था, आत्मसातकृत जीवन-जगत् ही है। अतएव कला के मनस्तत्त्व भी आत्मसातकृत जीवन-जगत् का अंग है। आत्मसातकृत जीवन-जगत् (और) बाह्य जीवन-जगत् में हमेशा द्वन्द्व होता है, फिर सामंजस्य होता है, फिर द्वन्द्व होता है। आत्मसातकृत जीवन-जगत् मन की विकासमान स्थिति का द्योतक है। बाह्य-जीवन-जगत् मानव संबंधों की अपनी विकासमान विशेष स्थितियों के विशेष स्तर को उपस्थित करता है। परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करने वाले इन दोनों केन्द्रों में आधारभूत परस्पर सामंजस्य है, साथ ही द्वन्द्व भी है।”¹⁷ यहाँ पर स्पष्ट है कि द्वन्द्व का यह रूप आत्मसातकृत जीवन-जगत् तथा बाह्य जीवन-जगत् के मध्य घटित होता है। इसके साथ ही मुक्तिबोध इनमें परस्पर सामंजस्य भी स्वीकार करते हैं। वस्तु एवं रूप के मध्य द्वन्द्व के साथ ही परस्पर सामंजस्य का होना भी जरूरी है। इस सामंजस्य के अभाव में श्रेष्ठ रचना की उत्पत्ति संभव नहीं है। क्योंकि वस्तु एवं रूप के मध्य होने वाले द्वन्द्व के बाद ही परस्पर सामंजस्य की स्थिति बनती है और इसके अभाव में रचना अपने श्रेष्ठ एवं समग्र रूप में नहीं आ सकती है। मुक्तिबोध ने आगे रूप पक्ष पर विचार करते हुए उसके निर्माण की प्रक्रिया के विषय में बताया है। वे कहते हैं- “तरंगायित होने का सम्बन्ध आवेग से है। उद्घाटित होने की अवस्था का सम्बन्ध बोध-पक्ष से है- ऐसे बोध पक्ष से जो ज्ञानात्मक आधार पर स्थिर होकर व्यक्तिबद्धता की स्थिति से अनुभवकर्ता को ऊँचा कर देता है। वस्तुतः यहीं से रूप पक्ष भी आरम्भ हो जाता है। मनस्तत्त्व यहाँ रूप लेकर प्रस्तुत होता है।”¹⁸ अर्थात् वस्तु अपना रूप स्वयं लेकर आती है। मुक्तिबोध एक अन्य स्थान पर इस तथ्य को प्रकट भी करते हैं- “महत्वपूर्ण बात

यह है कि रूप अपनी स्थिति के लिए तत्त्व पर ही अवलंबित है। तत्त्व अपने प्रकट होने की प्रक्रिया में रूप निर्धारित और विकसित करता है।⁹ मुक्तिबोध के इस कथन का विश्लेषण करें तो इसका अर्थ है रचना-प्रक्रिया के दौरान ही वस्तु के संग-संग रूप का भी निर्माण होता जाता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भी रचना-प्रक्रिया में निर्णायक महत्त्व विषय-वस्तु का ही माना है। वे कहते हैं- “कला और विषय-वस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य-रचना के लिए निर्णायक महत्त्व की नहीं हैं। निर्णायक भूमिका हमेशा वस्तु की होती है।”¹⁰ यही कारण है कि विषय-वस्तु जैसी होती है, प्रायः वैसा ही साहित्य का रूप होता है। ‘कामायनी: एक पुनर्विचार’ शीर्षक रचना के आधार पर ही मुक्तिबोध पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने अपनी आलोचना में रूप या शिल्प की नितांत उपेक्षा की है। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह बात सही भी लगती है- लेकिन तभी तक, जब तक मुक्तिबोध की आलोचना दृष्टि हमारी दृष्टि से ओझल रहती है। मुक्तिबोध ‘कामायनी की भाषागत शब्द-संवेदनाओं, सघन-बिम्बमाला, उज्ज्वल प्रतीक-विधान, सशक्त रूपक-योजना की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य आदि को समझने में असमर्थ नहीं थे। ‘कामायनी: एक पुनर्विचार’ शीर्षक पुस्तक के अंत में ‘अन्ततः’ शीर्षक के अंतर्गत उन्होंने स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछा है- “क्या यह आवश्यक नहीं कि ‘कामायनी’ के साहित्यिक-सौन्दर्य का भी विवेचन किया जाये?”¹¹ इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है- “भावना या अनुभूति की प्रभावोत्पादकता वह कसौटी नहीं है, जिससे हम जीवन के प्रति कवि-दृष्टिकोण के औचित्य-अनौचित्य की जाँच कर सकें। कभी-कभी होता यह है कि भावना की रसात्मकता, वस्तु-तत्त्व के अनौचित्य को ढाँक देती है या उस पर परदा डाल देती है। ...इसलिए कलाकृति के वस्तु तत्त्व और उसके प्रति कलाकार की दृष्टि इन दोनों की समीक्षा और मूल्यांकन आवश्यक है।”¹²

उनका सामाजिक दायित्व बोध उन्हें वस्तु की प्रभावक्षमता पर विचार करने के लिए बाध्य करता है एवं जहाँ वे यह देखते हैं कि भव्य रूप तंत्र ने वस्तु तत्त्व की कमियों को ढाँक लिया है। वहाँ वे उसकी कमियों को सीधे शब्दों में

रेखांकित करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि ‘कामायनी’ का रूप या शिल्प उन्हें प्रभावित नहीं कर सका। वे ‘कामायनी’ के अद्भुत काव्य-सौन्दर्य, उसके विदग्ध रूप-रचना से पूर्णतः अभिभूत थे। उन्होंने ‘कामायनी’ को सामन्तीय बुर्जुवा भावधारा की अंतिम ‘क्लासिक उपलब्धि’ के रूप में स्वीकार किया है। कामायनी के समान ही एक रचना करने की उनकी तीव्र आकांक्षा थी, जिसमें जीवन का संश्लिष्ट चित्रण हो।

वस्तु एवं रूप का विवेचन करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने भी साहित्य को समाज हित से जोड़कर देखा है। उन्होंने अपनी पुस्तक ‘संस्कृति और साहित्य’ की भूमिका में लिखा है- “मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज-हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके लिए बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समान रूप से वंदनीय हैं और दोनों ही की परंपरा समान रूप से वांछनीय है।”¹³ डॉ. शर्मा के इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह है कि साहित्य में रूपवादी विचार धारा सामाजिक हित अथवा अहित को महत्त्व नहीं देती है और दूसरी यह कि चूँकि उसके लिए निर्णायक तत्त्व साहित्य का रूप होता है इसलिए उसके लिए समाज-हितकारी और समाज-विरोधी इन दोनों प्रकार के साहित्य में कोई फर्क नहीं होता। यहाँ डॉ. शर्मा एवं मुक्तिबोध का कथन एक समान दिखाई पड़ रहा है।

अगर गतिशीलता की दृष्टि से विचार करें तो वस्तु में जितनी गतिशीलता होती है उतनी रूप में नहीं। रूप में वस्तु की तुलना में स्थायित्व अधिक और लचीलापन कम होता है। इस कारण रूप, वस्तु से पीछे छूट जाता है। रूप और वस्तु परस्पर विरोधी हैं। रूप और वस्तु का विरोध बढ़कर जब संघर्ष की अवस्था में पहुँच जाता है तब उस संघर्ष का हल ढूँढ़ना पड़ता है।

भारतेन्दु ने कवित्तों और सवैयाँ में अपनी स्वच्छन्द प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति की थी। उनकी स्वच्छन्द प्रेम-भावना और कवित्तों तथा सवैयाँ का मध्यकालीन रूप दोनों में ही एक विरोध दिखलायी पड़ता है। यह विरोध बढ़ते-बढ़ते छायावादकाल में जब संघर्ष की अवस्था में पहुँच गया तब छायावादी कवियों ने कवित्तों और सवैयाँ के

मध्यकालीन रूप को तोड़कर नये रूपों की सृष्टि की और इस प्रकार उक्त संघर्ष को हल किया। अंततः यह कहा जा सकता है कि वस्तु और रूप का संबंध सरल न होकर अत्यन्त जटिल होता है।

अर्नस्ट फिशर ने वस्तु और रूप के अंतः सम्बन्धों पर विचार करते हुए रूपवादिता या रूप के आग्रह के मूल कारण को बड़े ही तर्कसंगत ढंग से स्पष्ट किया है। अपनी 'नेसेसिटी ऑफ आर्ट' नामक पुस्तक में उन्होंने खनिज-धातु-वैज्ञानिक, जीवनशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय विवेचनों से इस बात को सिद्ध किया है कि वस्तु-तत्त्व निरंतर परिवर्तित होता रहता है, पुराने रूप या ढाँचे के अंदर रहकर भी। लेकिन जब उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है तो वह पुराने रूप को तोड़कर अपने लिए नया रूप गढ़ लेता है। रूप की विशेषता यह है कि वह धीरे-धीरे बनता है, लेकिन निर्मित हो जाने पर काफी देर तक स्थिर रहता है। उनके अनुसार "जिसे हम रूप कहते हैं वह एक प्रकार की अवस्था है, संरचनात्मक संगठन है, वस्तु-तत्त्वों का सापेक्षिक संतुलन है।"¹⁴

वर्तमान संदर्भों में उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि जब ह्रासकालीन रूप या ढाँचे को जबरदस्ती बनाये रखने का प्रयास किया जाता है, तो इस पूरे प्रयास में निहित एकवर्गीय स्वार्थ की भावना लक्षित होती है। इस संदर्भ में मुक्तिबोध ने लिखा है- "यही कारण है कि पूँजीवादी व्यवस्था के पक्षपाती उसके पूँजीवादी वस्तु तत्त्व की बात न करके, उसके लोकतांत्रिक रूप या ढाँचे की बात करते हैं।वे पूँजीवाद और साम्यवाद के ऐतिहासिक संघर्ष से लोगों का ध्यान हटाने के लिए उनके मस्तिष्क में यह विचार भरने का प्रयास करते हैं कि यह संघर्ष लोकतंत्र और अधिनायकवाद का संघर्ष है।"¹⁵

वस्तुतः मुक्तिबोध की दृष्टि में यह एक किस्म का साहित्यिक छद्म है जहाँ मुख्य विषय-वस्तु से लोगों का ध्यान हटाकर गौण स्थानों के आडम्बर में केन्द्रित किया जाता है।

अपनी समीक्षा के दौरान मुक्तिबोध ने पाया कि वस्तु और रूप का संबंध उत्पादक-उत्पाद्य का न होकर द्वन्द्वात्मक है।

किंतु केवल इतना कह लेना ही मुक्तिबोध के लिए

पर्याप्त नहीं था। वे वस्तु और रूप के संबंध को ही नहीं बल्कि वस्तु को भी द्वन्द्वात्मक प्रक्रियाओं की परिणति मानते हैं। इसलिए उनका कहना है कि अभिव्यक्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया में तत्त्व स्वयं बदलने लगता है। एक कलाकार होने के नाते वे रचना-प्रक्रिया के रहस्य का बोध करते हैं और बार-बार यह कहते हैं कि कला-रचना के प्रथम क्षण से तीसरे क्षण के पूरा होते-होते उसके तत्त्व या अंतर्वस्तु में कुछ ऐसा घटित हो जाता है, जो रचनाकार का वांछित प्रयोजन नहीं होता। यह परिवर्तन घटित होता है रचना के रूप-ग्रहण की प्रक्रिया में भाव के अभिव्यक्त होने के प्रयास में, जिसे मुक्तिबोध रचना का तीसरा या अंतिम क्षण कहते हैं। मुक्तिबोध अभिव्यक्ति के क्षण की प्रक्रियात्मक व्याख्या करते हुए लिखते हैं- "अभिव्यक्ति का संघर्ष दीर्घ होता है। कला का यह तीसरा क्षण दीर्घ होता है। उस संघर्ष में अभिव्यक्ति के स्तर तक आते-आते हमारे मनोमय तत्त्व-रूप बदलने लगते हैं। होता यह है कि उस संघर्ष के दौरान भाषा के भीतर अवस्थित ज्ञान-परम्परा और भाव-परम्परा के कारण, जो पहले से ही शब्द-संयोग बने हुए हैं उन शब्द-संयोगों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े हुए जो अर्थानुषंग हैं, उन अर्थानुषंगों के प्रभाव में आकर, समशील-समरूप अर्थानुषंगों को आत्मसात् कर मनोमय रूप-तत्त्व अपने को और पुष्ट करते हैं। फलतः वे इस हद तक बदल भी जाते हैं। जब वे अपने खास साइज और अपनी खास काट की अभिव्यक्ति पा लेते हैं, तब उनके तत्त्व और रूप पहले से बहुत कुछ बदले होते हैं। सामाजिक सम्पदा होने के कारण भाषा मनोमय रूप-तत्त्वों को उनके प्रकट होने के दौरान घटा-बढ़ा देती है और अनजाने ढंग से उनमें नये रूप तत्त्व ला देती है।"¹⁶

मुक्तिबोध के इस उद्घरण से स्पष्ट है कि साहित्य वास्तव में भाषिक परम्परा से जुड़ा हुआ है एवं भाषा चूँकि समाज से जुड़कर नित्य परिवर्तन एवं विकास की दिशा में अग्रसर होती है अतः साहित्य में प्रकट होने वाली वस्तु ही नहीं रूप भी समय के साथ स्वयं में काट-छाँट करता जाता है। इसी कारण रचनाकार के मानस में उत्पन्न भावों का प्रथम क्षण अंतिम क्षण तक पहुँचने पर अपनी जरूरत के अनुसार नया रूप धारण कर लेते हैं। अतः यह तय है

कि साहित्य में प्रयुक्त वस्तु एवं रूप दोनों ही गतिशील हैं। एक के मूल्य को दूसरे से कम करके नहीं आँका जा सकता। इसीलिए मुक्तिबोध भी कला के तीसरे क्षण के विवेचन के रूप की अपनी स्वायत्तता को स्वीकार करते हैं।

वस्तु और रूप के संबंध में मुक्तिबोध ने 'कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्स' का उल्लेख किया है। इस 'कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्स' को उन्होंने अभिव्यक्ति के रास्ते में बाधक तत्त्व कहा है। इसके संबंध में वे कहते हैं— "हमारी अभिव्यक्ति-साधना अपने कंडीशंड रिफ्लैक्सेज को जन्म देती है। अर्थात् अभिव्यक्ति का एक पूर्व-नियंत्रित मार्ग बन जाता है। होता यह है कि हम केवल कुछ ही चुने हुए मर्मानुभवों को प्रकट करते हैं। हमारी अभिव्यक्ति के माध्यम से जो बातें प्रकट होती हैं, उनसे कहीं अधिक विस्तृत और व्यापक हमारे मर्मानुभव हैं। किंतु हमने कुछ ही मर्मानुभवों के अनुरोध से तदनुरूप अभिव्यक्ति का एक ढाँचा खड़ा किया जो आगे चलकर हमारा बंदीगृह बन जाता है।"¹⁷

मुक्तिबोध स्पष्ट करते हैं कि रचनाकार जब अपने ही बनाए घेरे में आबद्ध हो जाता है तब वह रचना में कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्सेज को जन्म देता है। इसी संदर्भ में वे कहते हैं— "वास्तविकता यह है कि स्वयं के द्वारा विकसित किए गये व्यवधान, जो कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्सेज का ही एक अंश होते हैं, उस आधुनिक तत्त्व की आधुनिक अर्थ-सत्ता को समाप्त कर देने की राह देखते हैं।"¹⁸ 'कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्सेज' अगर अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक तत्त्व बनकर आता है तो रचनाकार को आत्मनिरीक्षण का अवसर भी प्रदान करता है। वस्तुतः इन साहित्यिक रिफ्लैक्सेज को तोड़ने के लिए रचनाकार को साहसपूर्वक आत्मसंघर्ष करना पड़ता है। स्वयं के प्रति निर्मम एवं कटु आलोचक बनना पड़ता है, तभी जाकर वह अपनी रचना के लिए नयी भूमि की खोज कर पाता है। मुक्तिबोध ने इसी संबंध में आगे लिखा है— "कंडीशंड साहित्यिक रिफ्लैक्सेज बनने का नियम प्राकृतिक है। किंतु उसके साथ यह भी स्वाभाविक है कि कवि-मनुष्य के अंतर्व्यक्तित्व में परिवर्तन होता जाये। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नयी भाव श्रेणियाँ, पुराने रिफ्लेक्सों से टकरायेंगी ही। यदि साहसपूर्वक कवि इस

आत्मसंघर्ष को तीव्र करता गया और आत्मनिरीक्षण द्वारा उसे और सार्थक बनाता गया, तो यह आशा की जानी चाहिए कि वह नयी भूमि की खोज करके रहेगा।"¹⁹ इस तरह हम देखते हैं कि मुक्तिबोध ने न केवल वस्तु एवं रूप के संबंध को द्वन्द्वात्मक बताया है, बल्कि रचनाकार के मानस को भी द्वन्द्वात्मक बताया है। वस्तुतः यह द्वन्द्वात्मक संबंध सृजन के लिए अनिवार्य है। अंततः मुक्तिबोध के कथन का विश्लेषण करने पर हम निष्कर्ष रूप में पाते हैं कि हर भिन्न वस्तु-तत्त्व के लिए एक भिन्न 'रूप' भी अपेक्षित होता है। एक रचनाकार की लम्बी काव्य-यात्रा पर विचार करते हुए यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उसमें वस्तु और रूप का द्वन्द्व किस स्तर पर है। इस विकास-यात्रा में यह भी देखना आवश्यक है कि रचनाकार के वस्तु विकास का स्वरूप, उसकी दिशा क्या है, अर्थात् उसकी दृष्टि का विकास, उसकी मूल्य भावना का विकास किस दिशा में हुआ है। तब जाकर ही मालूम हो सकता है कि उसके द्वारा गृहीत रूप; तत्त्व के अनुकूल विकसित हो पाया है या नहीं, उसने अपनी सौन्दर्य की 'थियरी' में अपेक्षित परिवर्तन किया है या नहीं।

'वस्तु एवं रूप' के संबंध में लल्लन राय ने तीन प्रमुख बिन्दु या सूत्र दिये हैं; जो यहाँ द्रष्टव्य हैं— (क) रूप का वस्तु-तत्त्व के प्रति पूर्ण अनुकूल होना, (ख) रूप की मौलिकता और (ग) रूप की सार्वजनीनता। प्रथम सूत्र के अनुसार वे सभी कृतियाँ श्रेष्ठ हैं, जिनमें कृतिकार प्रभावशाली ढंग से अपने कथ्य को पाठक तक पहुँचा सकें। रूप की मौलिकता का प्रश्न भी बहुत-कुछ उसकी अनुकूलता के साथ सम्बद्ध है। किंतु इसके अंतर्गत तीन बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। पहली तो यह कि कोई भी घिसा पिटा पुराना रूप नये विचारों को अपने अंदर समाहित करने में असमर्थ होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक नयी चेतना से सम्पन्न कलाकार को नये रूप या नये शिल्प-तंत्र का विकास करना पड़ता है। इसमें कवि नये शब्दानुषंगों, नये अर्थानुषंगों के माध्यम से नये मुहावरों और अभिव्यक्ति की नयी भंगिमाओं के निर्माण का प्रयास करता है। यह नयापन या मौलिकता, सहजता में बाधक बन जाती है। इस संबंध में तीसरी बात यह है कि कभी—

कभी रूप की मौलिकता 'अतिरिक्त मौलिकता' के रूप में कथ्य या वस्तु शून्यता के लिए छद्मावरण बन जाती है।²⁰ लल्लन राय के इस लम्बे उद्धरण से रूप का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने रूप के हर पहलू पर विचार करने की चेष्टा की है। रूप की अनुकूलता, मौलिकता एवं सार्वजनीनता इन सभी मुद्दों पर सोचते समय लल्लन राय ने पूर्णतः स्पष्ट किया है कि नया रूप मौलिक होने के साथ सहज हो यह आवश्यक नहीं। इसके साथ ही यह असहजता कई बार रूप के लिए छद्मावरण का कार्य भी कर सकती है। इस कारण वस्तु शून्यता का पता लगाना आलोचकों के लिए मुश्किल हो सकता है। क्योंकि नये रूप के छद्म से निकलने के बाद ही आलोचक वस्तु तत्त्वों का अवलोकन कर सकेगा।

वस्तु एवं रूप के संदर्भ में पाश्चात्य विद्वानों ने भी गहराई से विचार व्यक्त किया है। इस संबंध में जार्ज लुकाच कहते हैं- "विषय-वस्तु की नवीनता नए कला रूपों की माँग करती है जो इस बात को प्रमाणित करता है कि वस्तु में परिवर्तन ही मूलतः कला-रूपों में परिवर्तन का कारण है।"²¹

जॉर्ज लुकाच ने नयी वस्तु के साथ नये रूप की माँग को आवश्यक बताया है। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स की दृष्टि से अवगत होना भी आवश्यक है। एंगेल्स को लिखे एक पत्र में उन्होंने अपनी रचनाओं को कलात्मक पूर्णता तक ले जाने की इच्छा व्यक्त की थी। प्रकाशन के पूर्व अनेक संशोधनों की चर्चा करते हुए उन्होंने 'पूँजी' के प्रथम खंड को पूर्ण रूप से कलात्मक बतलाया था। वे इस तथ्य से भलीभाँति परिचित थे कि साहित्य और कला को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दायरे में लाने के लिए यह जरूरी है कि उसके रूपवादी आधार को तात्त्विक बनाया जाए। अपने जीवन में उन्होंने बार-बार साहित्य सृजन और कलात्मक अभिव्यक्ति पर जोर दिया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय वे अपने जीवन-दर्शन को मूर्त रूप देने में व्यस्त थे उस समय यूरोप में कलावाद अपने चरमोत्कर्ष पर था। कार्लमार्क्स ने एक स्थान पर कहा है- "मनुष्य जब उन विचारों के बारे में बात करता है जो समाज को क्रांतिकारी बनाते हैं तो वे यही कहते हैं कि

पुराने समाज के भीतर नये समाज के तत्त्व निर्मित हो गये हैं। यहाँ तक कि पुराने विचारों की समाप्ति अस्तित्व की पुरानी शक्तों की समाप्ति के साथ पद प्रति पद होती है।"²² मार्क्स के अनुसार वस्तु तत्त्व के लिए सामाजिक जीवन ही महत्त्वपूर्ण आधार हो सकता है क्योंकि कलात्मक रूप तो विचारों और अनुभवों को सम्पोषित और सम्प्रेषित करने के साधन हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि साहित्य में पुराने कलात्मक रूपों का प्रयोग नये वस्तु तत्त्व के लिए वैसे ही होता है जैसे कि पुराने विकसित साधनों का प्रयोग नयी वस्तुओं के लिए होता है। बाद में जब नये वस्तु तत्त्व के प्रभाव से धीरे-धीरे गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है तो कलात्मक रूप भी बदल जाता है। वस्तुतः वस्तु तत्त्व और रूप का सम्बन्ध मूलाधार और अधिरचना से है। प्लेखानोव के अनुसार मूलाधार और अधिरचना के बीच संबंध का सार तत्त्व मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार इस प्रकार से है।

"1. उत्पादन शक्तियों के विकास की स्थिति।

2. इन शक्तियों के द्वारा निर्धारित आर्थिक संबंध।

3. प्राप्त आर्थिक आधार पर विकसित सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था।

4. उस समाज में रहने वाले लोगों के सोचने की आदत जो कुछ तो सीधे प्राप्त आर्थिक स्थितियों से और कुछ उस समग्र सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था से जो उस आर्थिक नींव पर खड़ी है, निर्धारित होती है।

5. विभिन्न विचारधाराएँ जो उस सोचने की प्रणाली के मूल गुणों को बताती हैं।"²³

प्लेखानोव के इस निष्कर्ष के संबंध में सत्य प्रकाश मिश्र ने कहा है- "प्लेखानोव का यह निष्कर्ष साहित्य के संदर्भ में यही सिद्ध करता है कि साहित्य में 'वस्तुतत्त्व' मात्र भौतिक परिस्थिति के संदर्भ में मनुष्य की स्थिति और सामाजिक संबंधों के द्वन्द्वात्मक परिणतियों का पर्याय ही नहीं होती है बल्कि उसमें उस काल विशेषज्ञ का समग्र ऐतिहासिक विकास, आधार और अधिरचना के सभी गुणात्मक परिवर्तनों की प्रतीति भी विद्यमान रहती है।.... साहित्य की दृष्टि से वस्तुतत्त्व का तात्पर्य है वह वस्तु जो मनुष्य ही हो मनुष्य का पर्याय हो। घोषित मनुष्यता या प्रचारित-मनुष्यता

के तत्त्व वस्तु के बजाय वस्तुतत्त्व छिपाने के साधन भी हो सकते हैं। इसलिए इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर जिस प्रकार के साहित्य की रचना होगी उसमें एक प्रकार का आदर्शवादी और वैचारिक वस्तु तत्त्व होगा। परिणामस्वरूप उसका रूप तत्त्व भी उसी प्रकार से यथार्थ को अधिक छिपाने के तत्त्व से युक्त होगा। प्रतीकों और चिह्नों का प्रयोग अधिक होगा।²⁴ इसलिए वस्तु को अधिक 'जनप्रिय' तथा यथार्थ युक्त बनाने के लिए उसका संबंध मनुष्य से बनाये रखना जरूरी है। मार्क्स के शब्दों में कहें तो— 'वस्तुतः वस्तु तत्त्व साहित्य में 'मनुष्य होने' का प्रमाण है। वह 'समाज तत्त्व' का पर्याय है और रूप मनुष्य के रहने के विभिन्न तरीकों का रूपांतरण है।'²⁵ मनुष्य के होने का यही प्रमाण मुक्तिबोध की समीक्षा में भी सुनायी पड़ता है। जहाँ वे कहते हैं— "यदि हमारी काव्य-प्रेरणा वस्तुतः जनजीवन से उद्भूत हुई हो, तो जनजीवन की वर्तमान परिस्थितियाँ और उसके कष्टों का कारण भी हमारे अनुभूति-क्षेत्र का अंग होगा। ... राजनीति और साहित्य मात्र अभिव्यक्ति में भिन्न है। उनका मूल है आज का यथार्थ यानी जन-जीवन का यथार्थ, उसके लक्ष्य, उसके अभिप्रेत, उसके संघर्ष। हमारे समाज में कुछ ऐतिहासिक महाप्रक्रियाएँ चल रही हैं।.... समाज के अन्तराल में द्वन्द्वों का यह संघर्ष ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस संघर्ष की तीव्रता दिन-ब-दिन गहरी होती जा रही है। संघर्ष व्यापक होता जा रहा है। जब तक हम अपनी बुद्धि, प्राण-मन, हृदय और आत्मा की समस्त अनुभूति के आधार पर, जन-जीवन के चित्र नहीं खड़े करते, तब तक गरीब किंतु बुद्धिमान लेखक के जीवन-कार्य का प्रथम अनुच्छेद भी समाप्त नहीं होता।'²⁶

मुक्तिबोध का यह उद्धरण जहाँ साहित्य में मनुष्य तथा उसके यथार्थ का चित्रण करने की बात कहता है, वहीं यथार्थ वस्तु तत्त्व के लिए रचनाकार को तीव्र संघर्ष के लिए तैयार करता है। सही वस्तु का चुनाव एवं साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति के लिए केवल मनुष्य से जुड़े रहना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि मनुष्य से जुड़े समस्त सामाजिक द्वन्द्वों से भी साहित्यकार का जुड़ना आवश्यक है। जन-जीवन के इस चित्रण के अभाव में मुक्तिबोध साहित्यकार

के कर्तव्य को अधूरा मानते हैं।

रूप और वस्तु के संदर्भ में सत्य प्रकाश मिश्र ने एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है, वे कहते हैं— "वस्तु तत्त्व किसी प्रकार के आदर्शों या नियमों के आधार पर निर्मित नहीं होता है... इसीलिए साहित्य में बाहरी सिद्धांत या आदर्श के आधार पर साहित्य के वस्तु तत्त्व की काल्पनिक रचना, चाहे वह मार्क्सवाद के सिद्धांत के आधार पर ही क्यों न हो, एक प्रकार का आदर्शवादी सिद्धांत है।.... सिद्धांत के प्रकाश में दुनिया को देखने से और दुनिया की दृष्टि से सिद्धांत को परखने से भिन्न प्रकार की रचनाओं का निर्माण होता है। पहली प्रक्रिया रूपवादी है, दूसरी प्रक्रिया वस्तुवादी।'²⁷ लासाल को लिखे मार्क्स और एंगेल्स के पत्रों द्वारा सत्य प्रकाश मिश्र ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है। मार्क्स ने "चरित्रों को समकालीन सिद्धांतों के लिए भोंपू के रूप में बदलने को भयानक कमी के रूप में स्वीकार किया है।'²⁸ इन उद्धरणों से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट है कि वस्तु तत्त्व को किसी भी घेरे में आबद्ध करके निर्मित करना, वस्तु को किसी सिद्धांत के चश्मे से देखना उसके साथ अन्याय है। ऐसा करना वास्तव में साहित्य में रूपवादी होने के प्रमाण को प्रकट करता है। साहित्य जब रूप को लेकर चलने लग जाता है, तब वस्तु शून्यता पैदा होती है। अतः उचित यही होगा कि वस्तु के निर्माण का दायित्व सामाजिक एवं तद्युगीन ऐतिहासिक द्वन्द्वों पर छोड़ दिया जाए। वस्तु को स्वतः निर्मित होने दिया जाय। रूप का निर्माण भी क्रमशः नयी वस्तु के अनुरूप होता चला जाता है। मुक्तिबोध के अनुभव और सिद्धांत का द्वन्द्व उनकी कविताओं में भी है। 'अंधेरे में' कविता इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उसमें तत्त्व का अतिरेक रूप का निर्धारण करता है।

मुक्तिबोध द्वारा 'वस्तु और रूप' शीर्षक पर लिखे उनके चारों निबंध प्रमाणित करते हैं कि यह विषय उनके लिए कितना महत्वपूर्ण था। वस्तुतः एक मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते मुक्तिबोध के लिए 'वस्तु' सदैव 'रूप' से ज्यादा महत्वपूर्ण रही है। मार्क्सवादी आलोचकों के विपरीत भाववादी आलोचक रूप की आलोचना करके वस्तुगत कमजोरियों को प्रायः ढँकने का काम करते हैं।

कलावादी आलोचकों के लिए जब 'सौन्दर्य' वस्तुगत न होकर उनकी आत्मतुष्टि की चीज बन जाता है, तब मुक्तिबोध के लिए आलोचक का यह दायित्व बन जाता है कि, वह आलोचना में रूपवादिता के आग्रह को रोकने की कोशिश करें। कहना न होगा कि अपने विभिन्न आलोचनात्मक प्रतिमानों में मुक्तिबोध ने अपने इस दायित्व को बखूबी निभाया है।

संदर्भ :

1. नवल, नंदकिशोर, प्रगतिशील साहित्य और रूप की समस्या, आलोचना, जुलाई-सितम्बर-1976, संपादक-नामवर सिंह, पृष्ठ-14
2. सं. नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, सन्- 2007, पृष्ठ-107
3. वही, पृष्ठ-106
4. वही, पृष्ठ-108
5. वही, पृष्ठ-101
6. M. Rosenthal and P. Yudin, A Dictionary of Philosophy "Aesthetic and Ethics" Moscow Progress Publishers, 1967, Page No.9
7. सं. नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, सन्- 2007, पृष्ठ-108-109
8. वही, पृष्ठ-109
9. मुक्तिबोध गजानन माधव, नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध, नागपुर, विश्व भारती प्रकाशन, सन्-1964, पृष्ठ-104
10. शर्मा, डॉ. रामविलास प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, सन्-1954, पृष्ठ- 8
11. सं. नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, सन्- 2007, पृष्ठ-325-326।
12. वही, पृष्ठ-326
13. शर्मा, रामविलास, संस्कृति और साहित्य, किताब महल, इलाहाबाद, सन् 1953, पृष्ठ-6-7
14. Fischer, Ernst, The necessity of art : A Marxist Approach, Translator, Anne Bostock,

Penguin Books Ltd. (English Paperback), 1978, Page No.-124

15. मुक्तिबोध गजानन माधव, नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, नागपुर, विश्व भारती प्रकाशन, सन्-1964, पृष्ठ-101
16. सं. नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, सन्- 2007, पृष्ठ-329
17. वही, पृष्ठ-128।
18. वही, पृष्ठ-214।
19. वही, पृष्ठ-214।
20. राय, लल्लन, मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि : वस्तु और रूप के संदर्भ में, आलोचना, जुलाई-सितम्बर, सन्-1976, संपादक- नामवर सिंह, पृष्ठ-55
21. लूकाच, जार्ज, द मिनिंग ऑफ कांटेम्प्रेरी रिएलिज्म (अंग्रेजी), मर्लिन प्रेस, लंदन, सन्- 1963, पृ.108
22. मार्क्स, एंगेल्स, दमेनिफेस्टों ऑफ दि कम्युनिस्ट पार्टी (इंग्लिश एडिशन ऑफ 1888, एडिटेड बाई-एंगेल्स) पब्लिशर्स, द युनिवर्सिटी ऑफ ऐडलैड (साउथ ऑस्ट्रेलिया), पृष्ठ-72
23. प्लेखानोव, जॉर्जी, द फन्डामेंटल प्रॉब्लम ऑफ मार्क्सिज्म, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, सन्-1976, (ट्रांसलेटेड बाई, पॉल फ्लीवर्स) पृष्ठ-70
24. कमला प्रसाद, मैनेजर पांडे, ज्ञानरंजन, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र समग्र चिंतन, पहल द्वारा प्रकाशित, वितरक-संभावना प्रकाशन, हापुड़, सन्- 1977, पृ. 78-79
25. मार्क्स, एंगेल्स, सेलक्टेड वर्क्स, वाल्यूम-3, प्रोग्रेस पब्लिशर्स ऑफ सोवियत यूनियन, सन्-1975, पृ. सं 289-299
26. सं. नेमिचंद्र जैन, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-5, राजकमल प्रकाशन, सन्- 2007, पृष्ठ-282
27. कमला प्रसाद, मैनेजर पांडे, ज्ञानरंजन, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र समग्र चिंतन, पहल द्वारा प्रकाशित, वितरक-संभावना प्रकाशन, हापुड़, सन्- 1977, पृ. 80
28. वही, पृष्ठ-80

संपर्क: 9007893794

ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण'

विचार एवं शब्द की परंपरा कभी खत्म नहीं होती। हिंदी कविता से मुक्तिबोध का अवसान 'पाषाण' जैसे जनकवि के आरंभ में पुनर्सृजित हो जाता है। साठोत्तरी जनवादी कविता के अन्यतम हस्ताक्षर के रूप में 'पाषाण' की काव्ययात्रा सतत् प्रवहमान है। 'बंदूक और नारे' (1969) से लेकर 'मैं भी गुरिल्ला हूँ' (1969), 'विसंगतियों के बीच' (1972), 'कविता तोड़ती है' (1977), 'धूप के पंख' (1983), 'खंडहर होते शहर के अंधेरे में' (1988), 'वाल्मीकि की चिंता' (1991), 'चौराहे पर कृष्ण' (1993) और 'पतझड़-पतझड़ वसंत' (2009) से अभी तक उनका सृजन क्रम अविरत है। अपने साहित्य-पितर मुक्तिबोध के पचासवें प्रयाण वर्ष पर वे अपना हर्फनामा अर्पित करते हुए भवितव्य की ओर संकेत कर रहे हैं।

एक हर्फनामा : मुक्तिबोध से जुड़ते हुए

भीड़ में हूँ- नीड़ में।
भावनाओं की ज्वार की लहरों पर
उछलता-कूदता
'डोमा जी उस्ताद' के जुलूस की
चकाचौंध से
चौधियाता
देश-देशांतर भागता-भटकता
पहुँचा भीड़ में-नीड़ में।
तिनका-तिनका
प्यार का सैलाब
चाहतों का फैलाव
यह भीड़!
हारे-थके पावों में
ऊर्जा के नए संचार का
स्रोत ढूँढ़ती
कई-कई हांशिए तोड़ती-लाँघती
दिशा-दर दिशा
यह भीड़!
जितना लगाव
राज-समाज को राज-भवन से है

उस से ज्यादा मुझे
इस भीड़ से
यानी
बार-बार टूटे
बार-बार छले गए
खण्डित-विखण्डित
सपनों के नीड़ से है।
बूढ़े बरगद के तने पर पोस्टर।
सूरज
अब डूबा
-तब डूबा।
काली पटभूमि
वक्ष चीरती
बिजली की रेखा।
साँझ की आखिरी लाली में
मैंने पश्चिम के
धुंधुआते मेघों से जूझते
सूरज को
आँख भर देखा।
दहक रहे
लाल-लाल

हाथ के लिखे
किसान-मजूर के
टेढ़े-मेढ़े
आड़े-तिरछे अक्षर।
'चकमक पत्थरों' की रगड़ से
आस-पास
छिट-पुट
फुदकती रोशनी
अद्भुत एक नाटक-सा रचते
स्याह-सफेद
इधर-उधर लुढ़के शिलाखण्ड।
'लौट रहे हार का बदला चुकाने'
रक्तप्लावित स्वर श्यामल'
मुक्ति के
विश्वास के।
तुम्हारी 'पुकारती हुई पुकार'
उतर आई है भीड़ के कण्ठ में-
घूर रहीं घिरती अँधेरे को
सुर्ख होती आँखें
भीड़ की।

बढ़ा रहे घेरा
जाने-पहचाने
ज्ञात-अज्ञात
युवक-युवतियाँ
'भावी के सहचर'।
रह-रह गूँजती
घाव-खाए
पके-पकाये
कण्ठों की गुहार।
हवा के पर कतरने
और
पानी के पाँव बाँधने के खिलाफ
हक की आँखों से
हाथ-हाथ
हथियार बनती
भीड़।
आदत बदलते हुए
कविता में
एक हर्फनामा
आज
मुझे दर्ज करना है
'हाँ'
नहीं चल सकता
वर्तमान समाज नहीं चल सकता
पूँजी से जुड़ा हृदय
नहीं बदल सकता'
ओ मेरे मंत्रदाता!
पंख कटा बाज नहीं उड़ सकता।

'दो पाटों के बीच पिसने की
नीच ट्रेजेडी' पर
रोए थे तुम
मुक्तिबोध!
यकीन मानो 'पार्टनर'
पूछा था जिन से तुम ने
उनकी 'पालिटिक्स' का पता
वे तुम्हारे ही पार्टनर
फूँकेगे
बेहतर दुनिया का
नया
दिशा बोधक मंत्र
साफ करेंगे तमाम कूड़ा-कर्कट
'झाड़ू' बनती बन्दूक से कभी
'बन्दूक' बनती झाड़ू से कभी।
जुड़ता हुआ
तुम्हारे ही हृदय के
खौलते हुए खून से
संशय के कई-कई द्वीपों को
पार कर पढ़ता हूँ
समय का शिला-लेख
-उभरती नयी इबारत
गाँधी और भगत की।
दुहरानी नहीं अब
पुरानी 'भूल'
पुरानी 'गलती'।
एक सौ चौवालिस से बेफिक्र

आग और मोती के
गलियारों को लाँघती
कफर्यू के आतंक को
टेंगा दिखाती
ठाँव-ठाँव
गाँव-शहर उमड़ती भीड़
बदलेगी
सत्ता-समाज का जीर्ण-शीर्ण
व्याकरण
धरती की रक्ताक्त हथेली पर
रचेगी हरियाली की भाषा
ढहायेगी
नयी अभिव्यक्ति की राह रोकते
'मढ़ और गढ़'
लाएगी
'सहस्रार रक्तकमल'
कीचड़-काँदो में धँसकर।
घुमावदार बावड़ियों के तल का
पानी तलाशती भीड़ की
पोस्टर से
उच्छ्वसित उल्लसित आँखों में
लहराता है
ओ मुक्तिबोध!
ओ मेरे कॉमरेड!!
तुम्हारे स्वप्नों के
नये भारत का
भवितव्य।

संपर्क :

मो. 09748728879

रामदरश मिश्र

जन्म 1924, गोरखपुर जिले के डुमरी गाँव में हुआ। ये अपने परिवेशगत अनुभवों एवं सोच को सृजन में उतारते हुए गाँव की मिट्टी, सादगी और मूल्यधर्मिता को अपनी रचनाओं में पिरोते हैं। गीत, नई कविता, छोटी कविता, लंबी कविता, गज़ल यानी कि कविता की विभिन्न शैलियों में उन्होंने अपनी सार्थक उपस्थिति रेखांकित की है। रामदरश मिश्र जी हिंदी साहित्य संसार के बहुआयामी रचनाकार हैं।

कुछ तो बचा है

अब की गाँव गया तो
तो गाँव के चारों ओर व्याप्त सन्नाटे ने मुझे डँस लिया
बस खेत ही खेत
कहाँ गये गाँव के तीनों बागीचे
और यहाँ-वहाँ खड़े पेड़
भतीजे ने कहा—
“गतवर्ष आई बाढ़ ने इन्हें निगल लिया”
गाँव में इतने वर्षों से बाढ़ आती रही है
फसलों को तो हड़पती रही है
लेकिन पेड़ उसमें डूबे हुए भी
उसे चुनौती देते रहे हैं
“डायन, तू चाहे जितना जोर लगा ले
हम सही-सलामत रहेंगे”
और बागों के साथ
हमारे तीज-त्योहार, शादी ब्याह
खेल-कूद की यात्राएँ चलती रही हैं
ऋतुएँ उन पर अपनी आभा बिखेरती रही हैं
पंछियों का सहगान गूँजता रहा है
थकी यात्राएँ यहाँ आकर छँहाती रही हैं
तो पता नहीं क्यों
इस बार एक भी पेड़ नहीं बचा
शाम को पूरब दिशा की ओर निकला

तो मन एकाएक चहक उठा
अरे खलिहान में
पाकड़ के दो बड़े-बड़े पेड़ अभी ज़िन्दा हैं
इन्हें देखते ही कितना कुछ जाग उठा
लगा कि वसंत आ गया है
और इन पर किसलयों की लाल आभा फैल गई है
इन पर बैठ कर कोकिल कूक रहे हैं,
डाँटों से भर गया है खलिहान
एक पाकड़ के नीचे मेरा भी खलिहान है
मैंने कितनी बार दँवरी हाँकी है
ओसौनी की है
रातों को सोया हूँ, अनेक सपने देखे हैं
लगा कि चैता का राग उठ रहा है
और चाँदनी में तैरता हुआ
चला जा रहा है दिगंतों की ओर
सामूहिक हँसी-ठट्ठा के स्वर में समय नहा रहा है
इस पाकड़ के नीचे बरम बाबा की पीढ़ी है
ब्याहने जाते दूल्हे को लेकर
महिलायें यहाँ आ गई हैं
और उनका वैवाहिक मंगल-गान गूँज रहा है
इन पाकड़ों को देखकर मैं आश्चर्य हुआ
चलो, कुछ तो बचा है गाँव में गाँव का

लमहे

मैंने कभी महान कार्य के लिए
महान समय की प्रतीक्षा नहीं की
मैं तो धीरे-धीरे लमहों के साथ चलता रहा
लमहे मुझमें
मैं लमहों में ढलता रहा
महान समय तो चले जाते हैं
अपना महान प्रकाश फैला कर
पीछे छूट जाता है एक सन्नाटा
मेरे भीतर अँधेरे में
लमहे जगमगा रहे हैं जुगनुओं की तरह
और धीरे-धीरे एक गूँज तैर रही है

अंगीठी

वह सोचता है कि
अच्छा हुआ महान नहीं बना
उसकी लपटें चारों ओर नहीं फैलीं
वह तो घर के कोने में
जलता रहा अंगीठी की तरह
और चुपचाप देता रहा—
भूखों को रोटियाँ
और ठिठुरते शरीरों को
उष्मा का धीमा-धीमा प्यार
और घर घर बना रहा

पैसे के समय में

न सुबह उसकी, न शाम उसकी
न कोई छुट्टी उसकी
न कोई ऋतु उसकी
वह तो पैसे के समय में चलता रहता है
पैसा चाहे गरीब की आह से निकला हो
चाहे अमीर की वाह से
कैसी है यह जिन्दगी
जो एक बंद कमरे में सिमट कर
पैसे का जाप किया करती है
और बाहर समय की तमाम छवियाँ
चारों ओर उत्सव मनाती रहती हैं
और अपने से जुड़ी जिन्दगियों को
जीने की लय प्रदान करती हैं

हँसी और दंश

उस कबाड़ी बच्चे के हाथ में
लोहे का एक टुकड़ा आ गया
उसे अपने छोटे साथी को देकर
खिलखिला कर हँसने लगा
वह धन-परस्त अपने दरवाजे पर उदास बैठा था
उसे पहले भी बहुत कुछ मिल चुका है
आज भी मिला था
किन्तु पड़ोसी को भी मिल गया
यह मलाल उसे डँस रहा था।

रविकांत

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

रिटायरमेंट

रिटायरमेंट के बाद से
दादा (पिता जी)
हफ्ते-दर-हफ्ते अपने पुराने कागजात
पढ़ाई के, नौकरी के
लेकर बैठ जाते हैं, और
बूढ़ी आँखों से खोजते रहते हैं,
उनमें न जाने कौन-सी तारीख !
उसी पुलंदी में,
उन्होंने मुड़ी-तुड़ी मेरी चिट्ठियों को
कितना सहेजकर रक्खा हुआ है,
मटमैले पोस्टकार्डों और अंतर्देशीय
से पढ़ लेते हैं, वे हर्फ़, दो हर्फ़
और मूछों पर बिछ जाती है,
न जाने कौन-सी मुस्कान !
फिर,
उसी के बीच से निकालते हैं वे
एक फोटो, जिसमें अम्मा के साथ
हम चार भाई-बहिन हैं।
चश्मा उतारकर वे देखते हैं देर तक
और हौले-हौले उंगलियों से
उसकी धूल साफ करने की,

करते हैं कोशिश
तभी उनकी आँखों में तैर जाती है,
एक खोयी-सी चमक
और लौट आती है,
न जाने कौन-सी रौनक !
फिर, वे धीरे-से निकालते हैं एक लिफाफा
जिसमें उन्होंने आज भी सजा रखी हैं
सौ-सौ की हरी-हरी पाँच पत्तियाँ
जिन्हें जीता था मैंने, एक भाषण प्रतियोगिता में।
लेकिन, उस हील-हुज्जत में हार गया था मैं,
जब दादा ने नहीं करने दिए खर्च, वे रुपए।
उन पाँच पत्तियों को बार-बार
निहारते हुए उनके गालों की झुर्रियों में सिहरन
और कंधों में मजबूती
दिखाई देती है
और फिर देखते हुए मेरी तरफ,
एक विजयी मुस्कान के साथ
रख देते हैं वह लिफाफा।
फिर बंद हो जाती है पोटली
दिन दो-चार या एकाध सप्ताह के लिए ।

कविता और जीवन

कविता और जीवन;
दो शब्द और उनकी अलग-अलग
अर्थ-छवियाँ जरूर हैं,
लेकिन,
दोनों में गहरा, बहुत गहरा
और सहकार का संबंध है।
दोनों में आए तीन-तीन अक्षर
एक ही व्याकरण,
एक ही व्यवहार,
और, एक ही संसार के
कार्य-व्यापार के अपरूप रूप हैं।
कविता और जीवन से,
व्युत्पन्न है
कवि और मनुष्य
एक विशिष्ट और दृढ़ उसका समस्त विस्तार।
मनुष्य और मनुष्यता के बिना
न हो सकता है कवि
और
न उसकी कविता।
कविता और जीवन
ठीक वैसे ही है जैसे
जौ और चने के आटे से बनी रोटियाँ
जिनसे झरती है, सत्तू की महक।

ब से बकरी

मैंने बचपन में पढ़ा
ब से बकरी,
ब से बरगद।
ब से बकरी,
जिसे शाम को खेत में
चराना और लौटकर
थन से लगकर दूध पीना
फिर प्राइमरी स्कूल में अव्वल आना।
ब से बरगद;
जिसकी छाँव में बैठकर,
कौवे, गिलहरी
नेवले, गौरैया
की हँसी-ठिठोली और
निरंतर गतिशीलता से सीखा
जीवन का फलसफ़ा।
अब कोई बच्चा
नहीं जानता; बकरी और बरगद।
उसने तो सीखा है
ब से बंदूक
और, जाना है,
ब से बाज़ार।

संपर्क :

24 मिलिनी पार्क, लखनऊ विश्वविद्यालय परिसर,
लखनऊ, उत्तर प्रदेश-226007
मो. 09451945847

आत्म-वक्तव्य के साथ दो कविताएँ

देवेश पथ सारिया

मैं खगोल शास्त्र में शोध कर रहा हूँ, मेरे शोध का विषय “हमारी आकाश गंगा के तारा समूह” पर केंद्रित है। खगोल से नाता होने के नाते मैं धरती एवं मनुष्य की सूक्ष्मता को अनुभव करता हूँ एवं आकाश के अनंत को भी। आम जिंदगी की छोटी-बड़ी उधेड़बुनें, विडंबनाएँ, मुझे कविता लिखने को प्रेरित करती हैं। मेरे लिए समाज अनंत सूक्ष्म प्रसंगों का ताना-बाना है, जिनमें से कुछ पर मैं लिखने को प्रेरित हो जाया करता हूँ।

बेगलिस्तान से नखलिस्तान

तपिश से परे
ढूँढने एक नखलिस्तान
रेगिस्तान की गरम धूल पर
लिखता अपने पाँव से
अपने आने,
चलते जाने की दास्तान
कि हाँ! मैं भी था यहाँ
नथुने थे जल रहे
ले रहा था गरम साँस
खून भी था खौल रहा
ईंधन बन, मेरी यात्रा का
सफल-असफल जो भी होऊँ
मैंने किया था प्रयास
नखलिस्तान, किसी दुनिया में
पा ही जाऊँगा, उसके बूते
कालांतर में, मेरे काटे रास्तों पर
घटित होगा, अवश्यभावी मरु में
उड़ता हुआ आएगा फिर तूफान
मिटाने मेरे पाँव के निशान
यूँ ही मिटाता रहा है वह
आदि से आदिम के निशान
निशान मिटते हैं तो भी क्या ?
रेगिस्तान में जो बाकी रह जाए,
वह रेत है
मेरी दास्तान को संभाले, गाते
इस रेगिस्तान के प्रेत हैं।

छावरी माँ

जब जन्म देती है एक माँ
कोई-कोई ही पूछता है,
“जच्चा-बच्चा ठीक हैं,
माँ का कितना खून बहा,
क्या सर्जरी करनी पड़ी ?”
वरना, कुशल-क्षेम
सिर्फ बच्चे की होती है
जन्मदात्री की फ़िक्र
क्यूँ नहीं करते लोग,
अन्यथा शल्य-चिकित्सा
झेले मरीज सी ?
लाजमी है,
नवजीवन का स्वागत
होती ही ऐसी है कुछ
शिशु की मुस्कुराहट
अचरज यह,
कि माँ की अनदेखी
और शिशु की मुस्कान के भक्तों में
सबसे चरम पर उन्मत्त, बावरी
स्वयं, माँ होती है।

संपर्क:

पी.डी.एफ. आर्यभट्ट प्रेक्षण विज्ञान शोध संस्थान,
मनोरा पीक, नैनीताल, उत्तराखंड- 263002
मो. 09557308789

अशोक 'अंजुम'

राजल

(1)

यूँ परबतों से उतरती है शान पानी की,
वे गीत छेड़ रही है जुबान पानी की।
ये बादल हैं परिन्दे हैं अर्श पर पैरले,
या कि निकली है सफ़र पे उड़ान पानी की।
बढ़ी जो प्यास तो दर्या ने भी मुँह मोड़ लिया,
लगी हैं जाल बिछाने दुकान पानी की।
ये कहीं राह में बेसुध न होके गिर जाए,
यूँ बढ़ रही है मुसलसल थकान पानी की।
ये शहर बढ़ रहे हैं ले के क्रातिलों का हुजूम,
मुझे डर है कि ये ले लें न जान पानी की।

(2)

बड़ी मासूमियत से सादगी से बात करता है
मेरा किरदार जब भी ज़िंदगी से बात करता है
बताया है किसी ने जल्द ही ये सूख जाएगी
तभी से मन मेरा घण्टों नदी से बात करता है
कभी तो तीरगी मन को हमारे घेर लेती है
तो उठ के हौसला तब रौशनी से बात करता है
नसीहत देर तक देती है माँ उसको ज़माने की
कोई बच्चा कभी जो अजनबी से बात करता है
मैं कोशिश तो बहुत करता हूँ उसको जान लूँ लेकिन
वो मिलने पर बड़ी कारीगरी से बात करता है
शरारत देखती है शक्ल बचपन की उदासी से
ये बचपन जब कभी संजीदगी से बात करता है।

(3)

हादिसातों की कहानी कम नहीं
हौसलों में भी रवानी कम नहीं
मेरे बाजू हैं मुसलसल काम पर
यूँ समन्दर में भी पानी कम नहीं
साथ तेरे जो गुज़ारी है कभी
चार दिन की ज़िन्दगानी कम नहीं
प्यार हमको आपसे था ही नहीं
आपकी ये सचबयानी कम नहीं
हम अँधेरों की कहानी क्यों कहें
साथ में यादें सुहानी कम नहीं

(4)

कौन सीरत पर ध्यान देता है
आईना जब बयान देता है
मेरा किरदार इस ज़माने में
बारहा इम्तिहान देता है
पंख अपनी जगह पे वाज़िब हैं
हौसला भी उड़ान देता है
जितने मगरूर आप होते हैं
मौला उतनी ढलान देता है
बीती बातों को वो भुला के मुझे
आज फिर से जुबान देता है
तेरे बदले में किस तरह ले लूँ
वो तो सारा जहान देता है

संपर्क : गली-2, चन्द्र विहार कॉलोनी (नगला डालचन्द),
क्वारसी बाईपास, अलीगढ़- 202002, मो. 09258779744

अशोक मिजाज

ग़ज़ल

(1)

बाग में नागफनी का भी शजर लगता है,
खूबसूरत हो अगर ऐब हुनर लगता है।
कितनी चीजों की कमी अब भी नज़र आती है,
जब भी देखूँ तो अधूरा-सा ये घर लगता है।
अब घरों में ही दुकानों की सजावट है यहाँ,
अब किसे फ़िक्र कि बाजार किधर लगता है।
मुद्दतों पहले कोई हादसा गुजरा था यहाँ,
अब तलक उसका फ़िजाओं में असर लगता है।
कोई हल्के से भी छू ले तो ये रिसता है 'मिजाज',
भर न पायेगा कभी ज़ख्मे-जिगर लगता है

(2)

थोड़ी सी आग उसके भी सीने में डाल दे
मुझको भुलाने वाले को मेरा ख्याल दे
कुछ फायदा न होगा न माने तो रो के देख
दो चार बूँद और समन्दर में डाल दे
आवाज देवे देख चली आयेगी बहार
खामोशियों को बोलते लफ़्ज़ों में ढाल दे
हल ढूँढ़ने में अपनी सभी उम्र पूँक दें
इन पीढ़ियों को ऐसे न जलते सवाल दे
उस ज़ख्म के लहू से मैं लिखता हूँ हर ग़ज़ल
ऐसा न हो कि कोई वो खंजर निकाल दे
अपना सफ़र 'मिजाज' ज़ियादा तवील है
क्रदमों को अपने और हवाओं की चाल दे

(3)

पहुँचे कभी न प्यार की ऊँचाइयों में हम
क्रद नापने में रह गये परछाइयों में हम
बचपन हमारा आज भी जिंदा है दोस्तों
छोटे हैं अपने घर में सभी भाइयों में हम
देखी जहाँ भी आग तो बूंदे हैं आग में
शामिल हुये कभी न तमाशाइयों में हम
देखा है जब से आपको खुद की खबर नहीं
शामिल हैं कब से आपके शौदाइयों में हम
महफ़िल में उनको शौक से सुनते हैं सब 'मिजाज'
ग़ज़लें तो रोज कहते थे तन्हाइयों में हम

(4)

एक मुद्दत से मेरी आँख में ठहरा पानी
घर बना ले न कहीं दिल में ग़मों का पानी
दिल से निकली हुई आहें भी बनेंगी बादल
एक दिन टूट वे बरसेगा ये जमता पानी
मेरे अशकों की रवानी का असर तो होगा
पत्थरों को तो भिगोता है ज़रा सा पानी
क्रतरे क्रतरे की जरूरत है अभी गुलशन को
और सड़कों पे बहा करता है बेजा पानी
अपने महलों के दरीचों से न देखा तुम ने
मेरे मिट्टी के घरों पे बरसता पानी
जो मेरे शेर किनारों से सुना करते हैं
वो नहीं जानते सागर में है कितना पानी

संपर्क : एच/40, शांति विहार कॉलोनी, मकरोनिया, सागर (म.प्र.), मो. 09926346785

राज कुमारी
शोध-छात्रा, हिंदी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रतिकार

किया है मैंने प्रतिकार
तुम्हारे मानदण्डों का
सत्ता तुम्हारी बौखला गयी
मेरे एक कदम से।
बेड़ियों से बंधी मैं
अपना संघर्ष टटोलती रही,
सर्वदा से ही मूक मैं
प्रश्नों को आँसुओं से धार देती रही,
आज, मेरे विचार
मेरे स्वप्न,
मेरी स्मृतियाँ
मेरे अनुभव,
सिर्फ मेरे ही होंगे
नहीं चाहिए
वह आडम्ब्रों का ढाँचा
जो मेरे अस्तित्व पर ही
प्रश्नचिह्न लगाता है।
डरो, सत्ताधारियों डरो,
अपने वर्चस्व के हिलने पर,
और तुम्हें डरना भी चाहिए
क्योंकि,
तुम्हें वापस जो कर रही हूँ
तुम्हारे बंधन,
तुम्हारे मापदण्ड,
तुम्हारी इच्छा,
तुम्हारा दासत्व
अब कह दो,
अपने अहं को
आक्रोश के तीखे स्वरो की
दस्तक सुनने की आदत डाल लें।..

संपर्क :

मो. 9026041889

दो चेहरे

(नया खून, 21 जून 1957 में प्रकाशित)

गजानन माधव मुक्तिबोध

शाम का सुनहला केसरिया प्रकाश जंगल में धीरे-धीरे बैंगनी होने लगा। क्षितिज के पास के वृक्षों में खोयी हुई मस्जिद की ऊँची मीनारों में से एक पर बैंगनी और दूसरे पर नारंगी रंग छाया हुआ था। खुले फैले मैदान के बीच-बीच कहीं-कहीं घने वृक्षों में से लम्बी-लम्बी प्रकाश छायाएँ लटकती-सी दिखायी दे रही थी।

एक वृक्ष की घनी शांत छाया के घेरे में चढ़र डाले दाढ़ीधारी अधेड़ मुसलमान नमाज़ पढ़ रहा था। उसका व्यक्तित्व रोबदार था और वह शाही खानदान का मालूम होता था। कभी-कभी वह दोनों हथेलियाँ आगे कर खुदा से कुछ माँगता, उसके होंठ बुदबुदाने लगते। उसके चेहरे पर भक्ति के दयनीय नम्र भाव फैलते रहते।

कभी-कभी वह नमाज़ के दौरान में उठ खड़ा होता और हाथ में हाथ फँसाकर ध्यान में मग्न हो जाता। फिर वह नीचे बैठता, ललाट से भूमि स्पर्श करता। तब उसका नितंब-पार्श्व ऊपर उठ जाता और वह कुछ क्षणों के लिए ध्यान में खो जाता।

ऐसे ही किसी क्षण में जब उसका नितंब-पार्श्व ऊपर उठा हुआ और ललाट भूमि से लगा हुआ था, उसे एकदम भान हुआ कि किसी ने उसके उठे हुए पिछले भाग पर ठोकर मार दी है। ठोकर सीधे पीछे से नहीं वरन् एक बाजू से लगी और दूसरे बाजू से घिसड़ती हुई निकल गयी।

उसका ध्यान टूटा और वह गौर से देखने लगा कि किसने उसे इतनी बेमुरव्वती से ठोकर मारी।

उसको दिखायी दिया कि लगभग पचास गज के फासले पर एक नौजवान एक लड़की के साथ बातचीत करता हुआ आगे बढ़ा जा रहा था। दिखायी दे रहा था लड़की का आधा चेहरा खूबसूरत-सा। और उसका रंगीन आँचल हवा में फड़फड़ा रहा था।

अधेड़ मुसलमान ने भी हैं सिकोड़कर जब उन दोनों को देखा तो ताड़ गया कि वे एक प्रेमी-प्रेमिका हैं। इस ख्याल से वह और ज्यादा उत्तेजित हुआ और उसी क्षोभ में

उसने चीखकर पुकारा, “अबे ओ!... इधर आओ!”

पुकार सुनकर वे दोनों ठहर गये और पीछे मुड़कर उन्होंने दूर एक तमतमाया रोबदार चेहरा देखा। भय, आतंक तथा विघ्न की आशंका से ग्रस्त होकर वे क्षण भर खड़े रहे, फिर लौट पड़े।

अधेड़ मुसलमान ने दोनों को सिर से पैर तक देखा और तेजी से कहा, “क्यों बे! देखकर नहीं चलता!!”

दोनों के चेहरे पर निर्दोष, निरीह भाव था। उनके लेखे इस व्यर्थ के आरोप से उनकी सूरत फीकी पड़ गयी। किंतु गौर से वे अधेड़ मुसलमान के चेहरे को देखने लगे कि क्या सचमुच उनके किसी तौर-तरीके से उस व्यक्ति को चोट पहुँची है। नौजवान ने अगवानी करते हुए कहा, “माफ कीजिए, क्या हमारे हाथ से कोई खता हुई!” अब उस व्यक्ति का शाही चेहरा और भी चिढ़ गया। उसने चिड़-चिड़ाकर कहा, “जानते हो! कौन हूँ मैं?”

नौजवान और उसकी प्रेमिका आश्चर्य और आतंक से घबराकर सिर्फ चुप रहे। और व्यथित भाव से देखने लगे।

अधेड़ व्यक्ति को उनकी घबराहट देखकर जरा दया आ गयी और उसे अपना नाम कहने में भी हिचकिचाहट हुई। किंतु उन दोनों को और घबरा डालने के उद्देश्य से उसने कहा, “मैं हूँ तुम्हारा शहंशाह अकबर!”

नाम सुनकर उस तरुण-तरुणी के चेहरे पर मानो भय की स्याही पुत गयी!

काटो तो खून नहीं!... उन्होंने शहंशाह के पैर पकड़ लिए और कहा, “हुजूर, जो भी गलती हुई है वह भी अनजाने में हुई है, आप माफ करें!” उनके स्वर में कातरता थी।

अकबर को कहते हुए संकोच तो हुआ लेकिन कहना जरूरी समझा, “मेरे करीब से गुजरते हुए तुमने पीछे से लात जमा दी और फिर भी कहते हो कि मालूम नहीं!”

यह कहकर जब अकबर ने उस नौजवान और उसकी प्रेमिका की तरफ फिर से देखा तो पाया कि उनके चेहरे पर गहरा भोलापन और मासूमियत है। उसे लगा कि वे झूठ नहीं बोल रहे हैं। अकबर उनके चेहरे के भाव को देखता ही रह गया। देखता ही रह गया मानो वहाँ आसमान छाया हुआ हो और उसमें एक मस्जिद का सफेद पवित्र गुम्बज दिखायी दे रहा हो। उसने एकदम कहा, “अच्छा जाओ, भागो! रवाना हो!!”

और तब अकबर ने पश्चिम की तरफ के आसमान की ओर फिर से मुँह करके जब रंगीन धूप को देखा तो उसकी आँखों के सामने वे दोनों मासूम भोले चेहरे फिर से खिल उठे। उसकी अंदर की ढकी-मुदी आवाज ने बंधन तोड़कर कहा कि, “हाँ वे बातों में इतने मशगूल थे, उसके रस में इतने ज्यादा डूबे हुए थे कि उन्हें मालूम ही न हो सका कि रास्ते चलते उन्होंने एक ठोकर मार दी है।”

अकबर ने आँखें मूँद ली। ललाट जमीन पर टेककर खुदा से कहने लगा, “या परवरदिगार, वे दोनों इश्क में इतने डूबे हुए हैं कि वे इस दुनिया में ही नहीं रहे लेकिन, अभागो मैं, तेरी इबादत में होते हुए भी तेरा ध्यान करते हुए भी, दुनिया में जमा रहा, मैं अपने को भूल न सका, खुदा मुझे माफ कर...।”

जब अकबर ने ललाट जमीन से फिर उठाया तो उसकी आँखें गीलेपन में चमक रही थी। लेकिन उसके चेहरे पर संध्या का हल्का केसरी प्रकाश चमक रहा था।

चाथुळ

सिद्धेश

टूटे-फूटे खंडहरों की तरह बिखरे ईंटों पर बिल्लियाँ ऊपर से नीचे छलांग लगाती रहती हैं। रोज सुबह उठने के बाद पहली नजर इन पर पड़ती है। पिछले चार सालों में कुछ नहीं बदला है। बदला है तो यही कि ऊपर वाले एक कमरे की खिड़कियाँ बन्द रहने लगी हैं। एक दरवाजा जो पार्क की तरफ कभी-कभार रौशनी और हवा के लिए खुलता था। वह भी बंद हो गया। कुछ दिन पहले बुढ़िया, जो अस्सी की उम्र तो पार कर ही चुकी थी, रात के किसी प्रहर में चल बसी। नीचे के मकान में रहने वाले तीन प्राणी याने बेटा, पुतोह और दस-बारह साल के पोते बिट्टू, किसी को पता नहीं चला। ऊपर कमरे में रहने वाली बुढ़िया अकेली रहती थी। सुबह होते ही कमरे का दरवाजा खोल देती थी। उसके पति को गुजरे हुए साल पूरा हो ही गया था। पति बीमार चल रहा था। रेलवे में काम करता था। शहर से दूर किसी छोटे स्टेशन का स्टेशन मास्टर था। सरकारी नौकरी थी, अतः विभिन्न जगहों पर उसकी नौकरी के सिलसिले में उसका तबादला होता था। सेवा-निवृत्त होकर सामने वाली जमीन पर नीचे दो कमरे का मकान बना लिया था। बाद में धीरे-धीरे ऊपर एक तल्ले पर एक कमरा जोड़ लिया था। उसी कमरे में दो प्राणी सालों से रह रहे थे। दोनों ही चल बसे याने इस नरक से मुक्त हो गये।

नीचे वाले कमरों से संलग्न थोड़ी-सी खाली जमीन बची थी, उसमें दो-तीन पेड़-पौधे थे, जो सूख गये थे। अब देखने-सँवारने वाला ही नहीं रहा। बेटे को फुरसत कहाँ थी। पुतोहू को लड़ने-झगड़ने से फुरसत नहीं थी। सुबह उठते ही चख-चख शुरू हो जातीं। सुजान चुपचाप सुनता रहता। कभी-कभी वह भी एक-दो शब्द ज़वाब में बोल देता, लेकिन उसकी आवाज़ पत्नी के चिल्लाने की आवाज़ से दब जाती। उसका बेटा बिट्टू जो पाँचवें क्लास में था। वह भी बाप की तरह मन मारकर रहता। वह कभी बाहर-भीतर खड़ा-खड़ा सुनता रहता। अपने बड़े भाई को खोकर भी खुश रहने की कोशिश कर रहा था, मगर माँ-बाप के बीच रोज़-रोज़ के कलह से तंग आ चुका था। भैया की याद कभी आती तो वह उदास हो जाता था। दादा जब तक जीवित थे उनसे पूछता, 'भैया कैसे हठात् गायब हो गये? कौन थे, जो उठा ले गये?'

'पता नहीं'

'उनकी खोज नहीं हुई? तब वे कितने बड़े थे?'

'बहुत कोशिश की खोजने की, कहीं पता नहीं चला। वह तुमसे दो साल बड़ा था। समझदार था।'

'दहू, वे इतने छोटे थे कि लौटकर नहीं आ सके? उनको घर का पता मालूम नहीं था?'

'था बिट्टू। पर उसे तो किसी ने अगुवा कर लिया था। उस चंगुल से छूट नहीं पाया। पुलिस थाने

में, अखबार में सब जगह खबर की थी।-

‘फिर?’

‘बहुत दिनों तक उसके आने की राह देखी, लेकिन कहीं से कोई खबर नहीं मिली। अब तो इसके कई साल बीत गये। पता नहीं, जिंदा है भी या नहीं।’

बिट्टू ने भी मान लिया था कि शायद भैया अब नहीं लौटेंगे। अब तो अकेला ही कभी खाली छत या फिर स्कूल से लौटने के बाद पास वाले पार्क में साथियों के साथ खेलने में शामिल रहता है। पिताजी भी ऑफिस से देर में लौटते हैं। दादा-दादी नहीं रहे। घर सुनसान हो गया था। मकान का पिछला हिस्सा पुराने टूटे-फूटे सामानों से अँटा पड़ा था। तीन तरफ खाली ईंटे पड़ी थीं। शायद सुजान ने सोचा था कि मकान के पीछे की जमीन पर दो कमरे का फ्लैट बनवाकर किराये पर दे देगा। मगर बाप और माँ तो चल बसे। उसकी हिम्मत टूट गयी। ईंटें खरीद कर जो रख ली गयीं थीं, वह सब बिखरी पड़ी रहीं। पत्नी ने साथ नहीं दिया, वह भी साथ छोड़कर चली गयी। अब एकमात्र पुत्र बिट्टू को खोने का डर बना रहता था। पेड़-पौधे की देख-भाल छोड़ दी थी। पीछे का हिस्सा खंडहर में तब्दील हो गया था। टीन की शेड में बिल्लियों ने अपना घर कर लिया था। छोटे-छोटे चार-पाँच बच्चों के साथ धमा-चौकड़ी मची रहती। बिल्ले ने दो-दो शैतान रूई के फाहे की तरह मुलायम बच्चों को लेकर भाग-दौड़ शुरू कर दी थी। कभी-कभी रात को उनके चलने और भागने की आवाज से सुजान परेशान हो जाता। उसकी इच्छा होती कि सुबह उठकर उनको बच्चे समेत पीट-पाटकर भगा दे।

सुबह हुई, तब सुजान ने उठकर पीछे वाली ड्योढ़ी की तरफ जाकर देखा। सुबह की गुनगुनी धूप खिली थी। बिल्ली के दो बच्चे टीन पर बैठे धूप सेंक रहे थे। उसने मुँह से ‘हट-हट...’ की आवाज कर भगाने की कोशिश की। मगर वे दोनों वहाँ से टस से मस नहीं हुए। एक बार नजर उठाकर देखा फिर घुटने में सिर छुपा लिया, जैसे कि कुछ हुआ ही नहीं। सुजान को उसकी अवहेलना अच्छी नहीं लगी। फिर भी दोबारे भगाने की कोशिश नहीं की। बिट्टू को बुलाकर कहा, ‘सीढ़ी पर चढ़कर इन पर एक

बाल्टी पानी डालो तो फिर देखता हूँ, यह भागती हैं या नहीं।’

तभी देखा कि बच्चों की माँ आकर दूध पिलाने लगी थी। उन्हें देखकर एक-दो और बच्चे बाहर निकलकर मौज में धमा-चौकड़ी मचाने लगे थे। सुजान को मन ही मन गुस्सा आ रहा था। उसने बिट्टू को देखा, वह चुपचाप कमरे के भीतर चला गया था।

सुजान को रात में नींद नहीं आ रही थी। वह उठ बैठा। जब से बिमला घर छोड़कर गयी थी, घर भर में सन्नाटा पसर गया था। वह सुबह से शाम तक, रात में भी किसी न किसी बात को लेकर बक-बक करती रहती थी। उसके चले जाने के बाद तो बिट्टू और भी चुप हो गया था। पहले जैसा चंचल नहीं था। अधिकतर समय घर में घुसा रहता। माँ कहां गयी, उसे पता नहीं। सुबह सुजान उठते ही खांसने लगता था, देर तक खांसता, दूसरी तरफ बिमला किसी न किसी बात का बहाना बनाकर चिल्लाती रहती। उसकी चिल्लाहट पूरे मोहल्ले में गूँजती। लोग उसके अभ्यस्त हो गये थे। इसीलिए बिमला कब और कहाँ गयी, किसी को फर्क नहीं पड़ा। सुजान को भी लगता है, उसे भी कोई खास फर्क नहीं पड़ा है। वह अब भी सुबह उठते ही देर तक नल के पास खड़ा खाँसता रहता है। जोर-जोर खखराता हुआ छाती से बलगम निकालकर थूकता रहता है। कई बार ऐसा करते हुए उसकी साँस गले में अटक जाती है तो वह कहीं उखड़ी जमीन में बिखरी ईंटों के ढेर पर बैठकर हाँफने लगता है।

बहुत देर तक खांसने के बाद थोड़ी राहत मिली थी। उसने देखा, टीन के शेड के ऊपर बिल्ला और बिल्ली अपने कोमल मासूम बच्चों के साथ धूप सेंक रहे हैं। वह देर तक उनकी ओर ताकता रहा। नीचे चारों तरफ ईंटों-पत्थरों का ढेर पड़ा था। पिता के जिन्दा रहते उसने सोचा था कि मकान के इस पिछले हिस्से को इन्हीं ईंटों से मिलाकर सीमेंट की दीवार खड़ी कर लेगा। घर की आबरू बची रहेगी और खाली पड़ी जमीन की देख-रेख हो जाएगी। उसने काम शुरू किया था, मगर वह सीढ़ियों तक ही महदूद रह गया था। दीवार खड़ी नहीं कर पाया था कि पिता चल बसे। बाद में माँ भी नहीं रही। सब बिखर गया।

ईंटें बिखरी रह गयीं। अब रोज उन्हें ही ठिकाने लगाना था। कभी इधर की ईंट उधर, फिर दूसरे दिन उधर से इधर। मौका देखकर एक दिन एक प्रोमोटर आया। उसने फिर से सब्ज-बाग दिखाया। वह पहले कई बार आकर देख गया था।

‘अब तो आप राजी हो जाइए। पिताजी भी नहीं रहे। अकेले हैं। बेटा है, वह बड़ा होगा। उसे जमीन नहीं खूबसूरत मकान चाहिए। आप दोनों के लिए दो फ्लैट दे दूंगा।’

‘ठीक है, सोचकर बताऊंगा।’

रात में सुजान लेटे-लेटे सोच रहा था कि इस बात को बिट्टू से कैसे कहें, वह इतना बड़ा हुआ भी नहीं है, उसमें इतनी समझदारी कहाँ से आयेगी कि वह कोई निर्णय ले पाने में सक्षम हो। फिर सोचा, उसे बताने की जरूरत क्या है? बिट्टू अभी छोटा है। सुजान पड़ा-पड़ा दीवार की तरफ टकटकी लगाये था कि उसकी नजर दीवार के कोने में घात लगाये एक छिपकली पर गयी। किसी फतिंगे को दबोचने के फिराक में थी। वह बहुत देर तक उसे देखता रहा। वह टस से मस नहीं हुई थी। उसने सोचा, कल सुबह उठकर यह सारी बातें बिट्टू को बतायेगा। कल के बारे में किसे पता है, कब-क्या हो जाये? उसके अलावा अब रह कौन गया है, जिसे बताएगा।

सुबह उठने के बाद उसने देखा, ऊपर वाले कमरे की बाहरी दीवार का पलस्तर कई जगहों पर उखड़ कर झूल रहा है। माँ और पिता के चल बसने के बाद दरवाजा और

खिड़कियाँ जिस तरह बंद थीं, वैसे ही हैं। प्रोमोटर फिर आया था।

‘क्या सोचा आपने?’

‘हाँ, पिछले हिस्से की जमीन पर फ्लैट खड़ी कर सकते हैं।’

‘आपने अपने बेटे से पूछा है?’

‘हाँ।’

‘मगर फ्लैट तैयार करने के लिए पूरी जमीन चाहिए। याने पिछले हिस्से के साथ सामने वाला हिस्सा भी।’

‘यह कैसे हो सकता है?’

‘पूरी पुरानी बिल्डिंग तोड़नी पड़ेगी।’

सुजान सकते में आ गया। उसने सोचा नहीं था, ऐसा भी होगा। उसने बिट्टू से इस बारे में कोई बात नहीं की थी। झूठ कहा था, कि बात हो गयी है। बिट्टू के सामने आ जाने पर सुजान ने सीधे बात की, ‘ये प्रोमोटर हैं। पूरी जमीन पर मकान बनाना चाहते हैं। हमें दो फ्लैट देंगे। तुम क्या कहते हो?’

पहले तो बिट्टू ने कोई जवाब नहीं दिया।

‘दो नहीं। तीन चाहिए।’

‘तीन क्यों? अभी तो हम दो ही हैं।’ सुजान ने बेटे की तरफ ताका।

‘एक भैया के लिए। पता नहीं, कब आ जाये।’

सुजान को मानो एक चाबुक-सा लगा। इतने दिनों तक जब बड़ा लड़का नहीं लौटा तो अब क्या आएगा? उसने कुछ नहीं कहा। प्रोमोटर लौट गया।

संपर्क :

1/17, आदर्श पल्ली, पो.- रिजेन्ट एस्टेट
कोलकाता- 700092, मो. 09830859660

चकोह

सुरेश कांटक

हाय री जिंदगी! तू अभी मुझे कौन-कौन से दिन दिखाओगी!

जमा पूँजी तीन बीघे खेत! इसी में रात-दिन तकथइया नृत्य। इधर ढँका तो उधर बेपर्द, उधर ढँका तो इधर बेपर्द। नग्नता ढँके नहीं ढँकती। न भर पेट भोजन, न तन भर वस्त्र। क्या है जीवन का सुख? रहस्य ही बना रहा। कोढ़ में खाज कि जोरू भी साथ छोड़ गई। बिना जोरू की जिंदगी भी जिंदगी है! अब मन की बात भी कहूँ तो किस से कहूँ? साँप-छुछुंदर की हालत है। बेटा-बेटी सयाने हो चले। अपनी-अपनी मौज में मग्न। क्या जानेंगे पिता के मन का संताप।

सोचते-सोचते रमेसर का मस्तिष्क फटने लगा।

अभी रात के दो बजे थे। बाहर घनघोर अँधेरा फैला था। हर तरफ झिंगुरों की झनझनाहट गूँज रही थी। और इसी वक्त नींद काफूर हो गई। करें तो क्या करें। जायें तो कहाँ जायें। न नींद आये न सवेरा हो। एक दिन की बात नहीं; रोज की यही हालत है। आधी रात में ही नींद चिड़ियाँ फुर्र हो जाती है। फिर लगी रहती है टकटकी। सोचते रहो दुनिया भर की बातें। मथते रहो मन की मथनी में। कभी खेत-बघार की बात। कभी बाल-बच्चों की बात। कभी देह-नेह की चिंता। कभी पत्नी की कठोरता। उसकी याद में आते सौ सौ सपने। उम्र ही क्या है उसकी? महज पैतीस-छत्तीस। इसी उम्र में जीवन साथी को छोड़ गई। सुख शांति का बदरकहू दिन भी छिन गया। तारे टिमटिमाने लगे भरी दोपहरी में।

क्या करें, अब? दिन काटे नहीं कटते। दिन का समय तो खेती-बारी की उलझनों में गुजर जाता है, मगर रात काटे नहीं कटती। खपरैले छप्पर में सरसराता रहता है संशय विषधर। पहाड़ जैसी जिंदगी लगने लगी है भयावह। कैसे पालूँ परिवार का पेट? कुचल जाती है सोच की सारी सारी संभावनायें। बिखर जाते हैं उड़ती चिड़िया के फरफराते पंख।

रमेसर गोता लगाते रहे चिंतन के चिकोह में।

क्या कहा था मैंने तुमसे? कुछ भी तो नहीं। किस बात का बुरा मान गई तू? जिंदगी की फुलवारी एकाएक उजाड़ कर गई! किसी बाबु-बबुआन की पत्नी तो थी नहीं। न साहब ओहदेदार की घरवाली थी। तू तो एक गरीब किसान की पत्नी थी। ऐसी छुई-मुई क्यों हो गई? गरीबी से ऐसे ऊबा जाता है भला! भूख से इस तरह टूटता है आदमी! भर पेट नहीं, आधा पेट तो मिल ही जाता था न, रूखा-सूखा। तर-तर चपातियों के सपने क्यों पालती थी मन में? जबकि बचपन से जवानी तक बीता था

इसी बँट्टे में। मैं अपनी खेती-बारी देखूँ या तुम्हारे मन की गाँठ खोलता रहूँ?

मुझे खेत में खाद देना था। फसल की सिंचाई करनी थी। गेहूँ की लहलहाती खेती माँग रही थी अपनी खुराक। खाद-पानी। अगल-बगल के खेत वाले मुझसे पहले ही खेत की माँग पूरी कर चुके थे। उनकी फसल ठाठे मार रही थी। मेरी फसल कुहुँकनी शुरू हुई थी। हर पल निहार रही थी हजार-हजार उदास आँखों से मुझे। मानो पूछ रही हो- हमारा क्या होगा? कोढ़िया की खेती की तरह कुम्हला जायें या हमारा भी तन-मन लहरेगा! हम पर भी ध्यान दीजिये। अगल-बगल देखिए। पछुआ उखाड़ देगी हमें जड़ से, तब सोचकर क्या कीजियेगा? हाथ मलते रह जाइएगा। जागिये अब भी। बचा लीजिये हमें। हम आप की जिंदगी की धरोहर हैं। चिड़िया चुग जायेगी तो पछताकर क्या कीजियेगा। दुख बिलखता रह जायेगा, सुख सपना हो जायेगा। अगल-बगल वाले ताने देंगे। बना था राम और ईश्वर। ले लिया भर मुँह माटी। हो गया दिवाला!

क्या करता मैं? धरती का दुख-सितम सुनता कि अपना दिन-दशा देखता! सिर पर सवार था महाजन का पहाड़ जैसा कर्ज। वह भी देख रहा था गेहूँ फसल की राह। कब गेहूँ कटे और निगल जाऊँ खलिहान में ही पूरी की पूरी उपज। पहाड़ रूपी राक्षस ऋण बोरा जैसा मुँह बाये खड़ा इंतजार में था। निगल जाने के लिए सारे सपने, सारी की सारी उम्मीदें।

क्या तुम्हें नहीं सोचना चाहिए था, मेरी इन मजबूरियों पर? इतनी सारी दिक्कतें, और पास में कौड़ी-कानी नहीं। मित्रों-दोस्तों के आगे हाथ फैलाया-मेरी मदद करो भाई। मेरी फसल बर्बाद हो जायेगी। खाद-पानी के बिना मिट्टी में मिल जायेगी, मेरी पूरी मिहनत। मगर कौन सुनता मेरी बात। सबकी दाढ़ी में आग लगी थी, बुझा रहे थे अपनी दाढ़ी की आग!

किसी ने बाजार का रोना रोया। किसी ने महंगाई की मार का हवाला दिया। हाथ चमका दिया-नहीं भइया, हाथ खाली है। पेट में आग लगी है। बेटा अवारा हो गया, नशे का शिकार। किस पर करूँ सिंगार पुरुष मोर आन्हर। खाद का दाम दुगना हो गया। डीजल ने पाँचवी बार उड़ान भरी

है। नहीं सकूँगा। छोड़ दूँगा खेती मैं। कैसे करूँ आप की मदद?

अब मैं क्या करता? तुमने तो नहीं सोचा न मेरे बारे में। मैं भी तो तुम्हारी ही तरह आधा पेट खाता हूँ न। अर्द्ध नग्न रहता हूँ न। फिर क्यों टूट गई इतनी जल्दी? मेरे बारे में क्यों नहीं सोचा। चली गई छोड़कर इस चकोह में। किस के सिर को फोड़ता मैं? थका-हारा तुम्हारे पास आया था। तू मुँह फुलाये बैठी थी। नज़र पड़ते ही मुँह फेर ली। फिर भी थैथर बना मैं। अपनी व्यथा-बेचैनी कहना चाहा तुम से। ताकि कोई राहत मिले। दहकती आग को सान्तवना की मधुर ठंढ़ मिले। मगर तूने व्यंग्योक्ति का तीर मार दिया। तड़पते पखेरू पर फेंक दिया बड़ा सा चट्टान का टुकड़ा।

“मुझसे बात मत करे कोई। अपना बोझ स्वयं समहाले। मुझे कौड़ी कानी गिनकर नहीं दिया है किसी ने। मुझ से बुरा कोई नहीं होगा।”

क्या यही है एक भली अर्द्धांगिणी का व्यवहार? देवकुर गया तो दूना दुख! माँग के लिए गया तो कोख भी खोया। छः मन पर नौ मन और आ गिरा।

“मिन्नत करती हार गई, साड़ी चिथड़ा-चिथड़ा हुआ है। पेबन्द साटते उँगली पिरा गई। होली आने वाला है। नई चुनरी ला दो। मगर कान बहरा है। सुनाई नहीं पड़ती। बच्चों के तन पर सही सलामत वस्तर नहीं। शर्म के मारे स्कूल नहीं जाते। मगर आँख से दिखता नहीं कुछ भी। सयानी लड़की का तन-वदन झाँकता है चिरकुट को छेदकर। आँख फूटी हुई है। आये हैं मुझ से तोड़ा माँगने। मैं ही खाद-पानी ओर खेत-बच्चार की जिम्मेवारी लेकर बैटूँ! हूँह!”

आँखें भी बह चली तुम्हारी। चूने लगा तिपुना।” ऐसे मर्द से राड़ रहना अच्छा। भाग्य फूटा था मेरा। दरिद्र के घर आ गई। अगुआ का बेटा मर जाय। झौंक दिया मनसारी में। जिनगी का साध नहीं पूरा। जी करता है मुँह करखी लगा लूँ। बाल-बच्चों के साथ जहर खा लूँ। अब और सहा नहीं जाता यह दुख। दुरागमन की रात से आज तलक सुख-शौक नहीं मिला, इस मर्द से। सोते जागते हाय खेत! हाय खेत! लगा रहता है। उगे से बिसरने तक। भोर से गधबेर तक खेत चढ़ा रहता है कपार पर। फिर भी उजियाता

नहीं कुछ। खेती हूँड़ी हगती तो पता नहीं और क्या होता।”

तू ने तो अपनी मन की भड़ास निकाल ली। मेरी समस्या मुँह बाये खड़ी रही। मैं नौकरी-चाकरी तो नहीं करता न! न दूसरा रोजी-रोजगार है कोई। बपौती के नाम पर तीन बीघा खेत। इसी से पोसना है पेट। बाप ने कर्ज-गुलाम लेकर पढ़ाया-लिखाया। अंत में कर्ज का बोझ छोड़कर मरा। बहुत दिनों तक छिछियाता रहा मैं भी, काम की खोज में। नहीं मिला कोई कायदे का काम तो मैं क्या करता? दो बार साथियों के साथ भाग कर गया। कंपनी में काम किया। पन्द्रह-पन्द्रह घंटे हाड़तोड़ कर खटा। चार-पाँच हजार की दिहाड़ी मिली। क्या खाता और क्या बचाता? ऊपर से गारी-बात! एक-एक कोठरी में दस-दस की ठेंसा-ठेंसी। जी भर पैर पसारने की जगह नहीं। तीन साथी थे गाँव के। दो बीमार पड़ गये। दवा के पैसे भी नहीं दिया कंपनी वालों ने। मरने से बचे। दिहाड़ी का पैस छोड़ जान बचाने के लिए घर भागे। तब से जाने का नाम नहीं लिया। तू तो सब जानती थी। कोई बात छुपाया था तुम से? फिर भी छोड़ गई। पिजड़े में फँसे चूहे की हालत है मेरी। जिधर जाता हूँ, खोभनी तैयार है, खोभने के लिए। तड़पता है इस किनारे से उस किनारे तक। तुम ही बताओ, अब क्या करता मैं? ओप्फ हो!

दुखी मन निढाल हो गये रमेसर। खिड़की से झाँककर देखा, पौ फटा या नहीं छप्पर की ओर निहारा, रोशनी झाँकती है या नहीं इस अँधेरी कोठरी में। मगर कहीं से कोई उजास झाँकती हुई नहीं दिखी। अँधेरे का डंका बज रहा था हर तरफ। पहले बैल बधिया रहता था, दरवाजे पर। चारा-पानी और कुड़ी-छपाटी के लिए गड़ासी खटखटाता था घंटे-दो-घंटे, दीये की टेम्ही उकसाकर। कट जाता था जगरम का समय। बैल-बधिया गीधों की तरह बिला गये गाँव से। टैक्टर के आते ही बिदाई हो गई बैलों की। अगर उठा कसाई का ठेहा।

रमेसर फिर मुड़मुड़ा गये लेवा-गुदरा में। सोच का समुंदर फिर ठोंटे मारने लगा। सोचा था, अपना दुख-दर्द सुनाउगा तो पत्नी का दिल पसीजेगा। द्रवित मन सकून देगा अथाह-असीम बीहड़ में। कुछ रखी होगी तो देगी निकाल कर। गेहूँ नहीं पटेगा तो हवा हो जायेगा। कुछ भी हाथ नहीं

आयेगा। यही हाल हुआ था धान के समय। धान जैसे ही रेड़ियाया, रोग पकड़ लिया। एक तरफ मुरकी दूसरी ओर दखिना ललियाने लगा धान का खेत किनारे किनारे। बीचो बीच भी। हथिया नक्षत्र भी धोखा दे गया। हियाव टूट गया। न पैसा, जुटा न दवा का छिड़काव हुआ। हथिया भी दगा दाग दे गया दिल पर। करता भी क्या?

कैसे समझाता पत्नी को, कि जो दुख तू दुरागमन की रात से सह रही हो, वह दुख जन्म से ही भोग रहा हूँ मैं। बाबू भी इसी भँवर में डूब मरे। और उनके बाबू भी। कई पीढ़ियाँ बीत गईं। चाँदनी का दर्शन नहीं हुआ। अमावश ठहाके लगाता रहा।

बेटी की इज्जत ढकना जरूरी था। मुर्दे पर जैसे छः मन वैसे नौ मन। परमीन के आगे फिर हथजोरी की। एक मुश्त कर्ज और लिया। बहुत चिरौरी मिन्नत के बाद पाँच सौ रुपये सैकड़े सूद की दर से कर्ज देने को तैयार हुए।

तू तब भी कोहनाई हुई नाराज बैठी थी। भर मुँह बोलती नहीं थी। अब मर्द क्या करें? अपनी जान दे दे। जान देने से भी बात बनती तब न? ऊपर का इन्द्र बज्र गिरा ही रहा था। नीचे वाले इन्द्र भी लंबोदर बनने की होड़ में उनसे दाहिने थे।

मानता हूँ, तू गलत नहीं थी। तुम्हारा कहना सही था। सुख-दुख के दिनों में पति-पत्नी एक-दूसरे का साथ न दें तो जिंदगी की गाड़ी चलेगी भी कैसे? छोटी-छोटी बातों के लिए एक दूसरे से अलग हो जाना कहाँ की समझदारी है? जहाँ रात होती है, वहीं दिन भी होता है। जहाँ दुख होता है, वहीं सुख भी होता है। किंतु मैं करूँ भी तो क्या? यह दुख तो अपने जनम का दुख है। मेहनत करते जिंदगी गुजर गई। पसीना सूखा नहीं जिंदगी भर। फिर भी सुख के दिन नसीब नहीं हुए। क्या है इसका कारण? कभी सोचा तुमने? समझी इस बात को?

तू कहती थी, अब भूख सही नहीं जाती।

मैं कहता था थोड़े दिन इंतजार कर लो।

तू कहती थी, अब और नहीं रहूँगी तुम्हारे साथ।

मैं कहता था बच्चों की जिंदगी बरबाद हो जायेगी। घर-परिवार टूट-बिखर जायेगा। वर्षों काट लिया इस दुख को। अब और दस या पन्द्रह वर्ष। इससे अधिक तो जीता

नहीं है किसान। या उसकी पत्नी। शरीर असमय टूट जाता है। भयंकर रोग चपेट लेते हैं। दवा-उपचार के पैसे नहीं होते। परलोक सिधार जाते हैं। मगर तुने कहाँ सुनी मेरी बात ? मेरी भावनाओं को नहीं दिया कोई तरजीह। चिल्लाती रही भूख-भूख। नून-भात, साग-भात से भरता नहीं था तुम्हारा पेट। काँकर खाकर भेंटी तीत कर दिया। बाल-बच्चों का भी ध्यान नहीं रखा। परिवार टूटने के कगार पर है। मुझ अकेले के वश में रहेंगे नहीं। मैं कहीं और, तू कहीं और, ये कहीं और।

हे भगवान! रमेसर का सिर दर्द करने लगा। उठ बैठे बिछावन पर।

मैं भी चाहता तो दूसरी पत्नी खोज लेता। बहुत सारी विधवायें हैं यहाँ। जहर-माहुर खा कर मरे हैं जिनके पति। किसी को बिठा लेता घर में। लोग कहते भी हैं, किसी गरीब की बेटी को सहारा दे दो। देह-नेह तो करेगी। आज के बेटे-बेटियों का क्या ठिकाना! अपने-अपने धुन में रहेंगे। क्यों देखेंगे तुम्हें ?

मैंने सबको नकार दिया। सहूँगा दुख-सितम। मगर सौतेली माँ नहीं लाउंगा बच्चों के लिए। तू ने तो सोचा तक नहीं अपने जन्मायें बच्चों के बारे में। कैसा जमाना आ गया! अपने सुख के लिए बच्चों की भी चिंता नहीं करती आज की औरतें। दुनिया के लहक-चहक में भूल जाती हैं अपना बना-बनाया परिवार। ऐसी हालत में मैं ही हूँ माँ-बाप दोनों इन बच्चों का।

मगर कितना कर पाऊँगा इनके लिए ? फिर वहीं सवाल आकर खड़ा हो जाता है सामने। बेटे को समझा-बुझा दूँगा। मान जायेगा। नहीं मानेगा तो जो जी में आयेगा, करेगा। आल्हर बेटी को कैसे समझाऊँगा ? कुछ शर्म की बातें भी होती हैं बाप के लिए। वह भी कैसे कहेगी लज्जा की बातें मुझसे। पढ़ने-लिखने में माहिर है बेटे से। कहती है, कॉलेज में जाऊँगी। इंजिनियर बनूँगी। तुम्हारे प्यार-दुलार के अभाव में क्या उसके खाब पूरे होंगे ? उसे क्या पता कि गरीब के बेटे-बेटियाँ डाक्टर-इंजिनियर नहीं बन सकते इस देश में। उनका सपना देखना ही फिजूल है यहाँ। तू रहती तो समझाती उसे। किसान की बेटी हो इतने ऊँचे खाब मत पालो।

तू तो खुद अपने खाबों में डूबी थी। अच्छा खाना, अच्छा पहनना और सुख से रहना। महज यही सपने थे तेरे। या और कुछ ? जिसे पूरा करने के लिए तीन-तीन के सपनों को चकनाचूर कर दिया तू ने। कलेजे पर पत्थर रख लिया। निकाल लिया सबका कलेजा। भूल गई नेह-नाता। दफना दिया आदमीयत को। खाक में मिल गई सारी भावनायें। क्या भूख सचमुच निगल जाती है तमाम भावनायें ? तमाम इंसानियत ? अब तक तो सुना था दौलत ही हत्यारी होती है। इंसान को तब्दील कर देती है खूँखार हैवान में।

क्या हैवान सुख पा सकता है कभी ? या उसका सुख हैवानियत ही है। अलग-अलग इंसान का सुख भी अलग-अलग होता है शायद।

जा, तुझे भी सुख नसीब नहीं होगा कभी। ऐसा अभिशाप नहीं दे रहा हूँ मैं तुम्हें। इस नई दुनिया की दयानत देख के कह रहा हूँ मैं। औरत के शिकारी भरे पड़े हैं यहाँ। अपना शिकार बना लेंगे तुम्हें भी। उनका सुख निगल जायेगा तुम्हारे सुख को। तुम भी डँहकोगी, तड़पोगी, जैसे मैं तड़पता हूँ।

कल ही कह रहा था बेटा, 'गाँव के सभी लड़कों के पास मोबाइल है बाबू, मेरे पास नहीं है मोबाइल। मुझे भी चाहिए। वरना नहीं जाऊँगा पढ़ने।

अब तुम्हीं बताओ, कैसे समझाऊँ इसे ? कपड़े-लते के लिए कहता, किताब कौपी के लिए कहता, कलम-स्याही के लिए कहता तो एक बात होती। उसकी चिंता नहीं है इसे। मोबाइल की चिंता है। क्या पढ़ेगा यह ? गाँव के तमाम लड़कों को यही रोग लगा है मानता हूँ, उपयोगी चीज है। मगर ये लौंडे क्या उपयोग करते हैं उसका ? गंदे गीत सुनते हैं। गंदी तस्वीरें देखते हैं। देर रात तक बातें करते रहते हैं लड़कियों से। लड़कियाँ भी रंग गई हैं इसी रंग में। लाज-डर खतम। क्या करें माँ-बाप ? जब जहाँ चाहे चले जाते हैं एक-दूसरे से मिलने। कई लड़कियाँ भाग गई गाँव की। कहाँ गई, किसी को कुछ पता नहीं। यही सब अपने घर में भी होगा। इसलिए जवाब दे दिया बेटे को।

मोबाइल के लिए पैसे नहीं हैं मेरे पास। पढ़ो या मत पढ़ो। खेती के लिए खाद-पानी जुटाना मुश्किल है। तुम्हें

मोबाइल चाहिए।

“ठीक है, मैं खुद खरीद लूँगा।” उसने तत्काल कहा।

कहाँ से खरीदेगा? जानता हूँ चोरी-चुपे अनाज बेचेगा। गलत काम करेगा, पड़ेगा क्या! नाज नखरे और दिखावे में भटक रहा है पूरा समाज अपने लक्ष्य से। पूरा देश बिक रहा है इसी दिखावे में। पॉव तले की जमीन खिसक रही है। किसी को पता नहीं। तू भी इसी हवा में बहक गई हो शायद। बंटाधार हो गया परिवार का। मैं अकेला कैसे सँभालूँ यह सब? किसे सँभालूँ? तू रहती तो अपने बेटा-बेटी पर अंकुश रखती न कम से कम? मुझे तो खेती से फुरसत नहीं। पढ़ने के नाम पर कौन कहाँ जाता है क्या पता। ऐसी बयार चली है कि बिक गया आदमी। बिक गया देश। बिक गई धरती। बिक गई तू भी। उजड़ गया खोंता। आँधी में उड़ रहे हैं लोग आँख मूँदे। बहक गया मन का बेलगाम घोड़ा। तू भी हो गई हत्यारिन। नाभि में कस्तुरी और मृगा दौड़ रहा है खरउरिया में।

अलसाया मल करवट लिया रमेसर ने। मगर चकोह था कि छोड़ने का नाम नहीं लेता था। नाच रहा था रमेसर को अपने आप में लपेटकर।

जहाँ-जहाँ तुम्हारे होने की उम्मीद थी, हर जगह खोज लिया। तू कहीं नहीं मिली तो स्थिर हो गया। मगर अब अकेले दिन कटे तो कैसे? जिऊँ भी कैसे? किसके लिए? खेत-बघार में भी मन नहीं रमता। तुम्हारी सूरत नाचती रहती है आँखों में। तुम्हारी बातें गूँजती रहती है कानों में। घर-बाहर हर जगह। अब गाँव भी वह गाँव नहीं रहा। जहाँ हँस-बोल कर दिन काट लें। उजड़ रहा है गाँव भी। बनिहार-मजूर मिलते नहीं गाँव में। सारे युवक निकल गये दिल्ली, पंजाब, सूरत, गुड़गाँव। बचे-खुचे लगे हैं मनरेगा में। अच्छे भले लोगों की पागलों जैसी हालत है। खेती का काम अच्छा नहीं लगता किसी को। कुकाठ काम है खेती में। उपज से लागत बढ़ती जा रही है। बाजार में लागत भी नहीं निकलती। खेती छोड़ने पर उतारू हैं लोग। मेरा मन भी ऊब गया है। लाचारी में ब्रह्मचारी बना हूँ। दूसरा साधन है नहीं जीने का। बाल-बच्चों का भविष्य दिखाई देता है।

तीन दिन पहले मोहना आया है बाहर से। गाँव आते ही

दौड़ा-दौड़ा आया मेरे पास। कहने लगा हड़बड़ाते हुए-
“रमेसर भइया, भउजी मरी नहीं है। मैंने देखा है उसे अपनी आँखों से।”

“क्या?” मेरा मन तड़प उठा तुम्हें देखने के लिए।

“हाँ भइया, सच कह रहा हूँ। मेरी गाड़ी खुल रही थी, तब तक मेरी नजर पड़ गई भौजी पर। कुछ कर नहीं पाया। चिल्ला भी नहीं पाया। वह मजदूर औरतों की भीड़ में थी।”

“मगर कहाँ? बताओ भी तो।”

“कानपुर में। मुझे बहुत बहुत अफसोस है भइया, जब मेरी गाड़ी रुकी थी, मेरी नजर क्यों नहीं पड़ी उन पर। मैं करता भी क्या? गाड़ी तेज हो गई थी।

मोहना की बात पर विश्वास नहीं हुआ मुझे। फिर भी मन विकल था। सोचा, मुझे रिझाने के लिए कह रहा है। मगर उसकी बातों में इतनी गंभीरता थी कि सच लग रही थी। मेरे होश उड़ गये। कंठ सुख गया। दिल के पंख होते तो उड़ आता तुम्हारे पास। छान मारता पूरा कानपुर शहर। किन मजदूरियों के झुंड में मजदूरी कर रही है तू। घुटने लगा मान। तू बार-बार कहती थी- भूखों मरने से अच्छा है, बाहर जाकर मेहनत मजूरी करना। सचमुच तू ने वही किया क्या? गाँव में मेरी नाक तो कट गई न। रमेसर की जोरू भाग गई। रमेसर हिजड़ा है। किसी से नजर लड़ाई होगी। किसी को दिल में बसाई होगी। कितनों को जवाब दूँ? कितनों से लडूँ-झगडूँ? ओड़ी हो गया ओड़ा का नाम। धज्जियाँ उड़ गई इज्जत की। जब मजूरी ही करना था तो गाँव में ही करती। सबके सामने करती। काम करने में कैसी लाज? यही लाज-शरम भूखों मार रहा है बहुतों को। गाँव-घर में रहती, तो अपना घर भी सम्हालती। बेटा-बेटी को सम्हालती। किसी की मजाल नहीं होती, इज्जत लूटने की। हवा उड़ाने की।

क्या पता तुम्हारी नीयत भी ठीक थी या नहीं। दूसरे मर्दों से गलचौर करने का शौक जगा हो मन में। जवानी में ही कर लेती वह सब। बूढ़ी घोड़ी को लाल लगाम शोभा देता है क्या? नाश दिया जीवन को। हे ईश्वर, छी: छी:। मगर तुम्हारे मन की बात कौन जाने। मन को लगाम कब किसने दिया है? आँखों देखा नहीं, तो किस पर विश्वास

करूँ। ऊहा-पोह में पड़ा है प्राण। क्या झूठ है, क्या सच है? भूख सच है या सुख! सुख है भी क्या? ज्ञानी जन कह गये हैं संतोषम् परमं सुखम्। मगर संतोष कितने से? आधे पेट से? या कुछ और? मन दौड़ता है डाल-डाल।

अब भी लौट आती तू। क्या बिगड़ा है अभी? जो हुआ सो हुआ। मन तो स्थिर हो जाता। फिर सोचते नई तरह से। अपना हवा-पानी और अपनी मिट्टी जो सुख दे सकते हैं, कहाँ मिलेगा दूसरी जगह? या फोन करती, मैं ही आ जाता। साथ-साथ रहते। मजूरी ही करते। क्रोध वश जो भी किया भूल जाते सब। मैंने कुछ कहा भी तो नहीं था तुझे। गाली-फटकार भी तो नहीं की थी। धोखा क्यों दिया तूने? दुख-सितम किस पर नहीं आते! राजा हरिश्चंद्र पर नहीं पड़ा था दुख? कौन परेशान नहीं है गाँव में? मिलजुल कर सोचने-समझने से न मिलता सही निदान। अकेले-अकेले भागते रहने से होता है कभी किसी समस्या का समाधान? मेहनत-मजूरी करने वाले हर जगह परेशान हैं। धोती झारने वाले ऐश में हैं। फिर भी जी रहे हैं लोग, किसी उम्मीद पर ही तो। मेरी दुख देखती है तू? गेहूँ खलिहान में कब आये? कैसे आये? जी धक-धक कर रहा है अभी से। दँवरी होते ही महाजन चढ़ जायेंगे सिर पर। अपनी मेहनत की कमाई चोरी-चुपे ढोना पड़ेगा घर में, वरना सब चला जायेगा उनके घर। तू रहती तो देख-भाल करती। साल भर की खरची के लिए रखती। नादान लड़की कैसे क्या करेगी? अपनी पढ़ाई-लिखाई सँभालेगी

या अनाज!

तुम्हें पता ही नहीं, उसका रोना देख कलेजा फट पड़ता है मेरा। तुम्हारी याद में हमेशा आँखें भरी रहती उसकी। कुहुँकती रहती है दिन-रात, चुपके-चुपके।

चिंतन सागर में गोते लगाते रमेसर के हाथ-पाँव ठंडे हो गये। हिम्मत कर के उठे तो एकाएक ध्यान बाहर की ओर गया।

बाहर सूर्योदय हो गया था। सूरज की किरणें खिड़की की झाँझरों से चुपके-चुपके आ रही थी उनकी कोठरी में। झकझोर रही थी मानो- कह रही हों। क्या सोच रहे हो पड़े-पड़े? उठो, निकलो अँधेरी कोठरी से। चलो खेत पर। धरती चिल्ला-चिल्ला कर बुला रही है तुम्हें। पूरे सिवान पर फैल चुका है प्रकाश। सारे किसान और खेत मजदूर हो गये हैं इकट्ठे। सुनो तो उनकी आवाज़। बातें तो करो मिल जुल कर। हिम्मत क्यों हार गये? हिम्मते मरदा मददे खुदा। सोने वाला सदा खोता है, जगने वाला ही सब कुछ पाता है। जागो! नींद त्यागो! निकलो चकोह से।

रमेसर झटपट उठ खड़े हो गये। झाँझोड़ दिया अलसाये मन को।

खूब जोर की जम्हाई ली। चल दिये सिवान की ओर पल भर बाद।

घर से बाहर पाँव रखते ही देखा नीम के पेड़ पर उजास फैला हुआ है। चिड़िया चहक रही हैं, उड़ान भरने के लिए, नीले निरभ्र आकाश में।

संपर्क :

कांट (ब्रह्मपुर), बक्सर-802112 (बिहार)

मो. 09931837620

यिदिश कहानी

अजन्मी

अनुवादक: इंदुप्रकाश कानूनगो

लेखक: आइजक बेशविस सिंगर

इसाक बेशविस सिंगर पोलैंड में जन्में एक अमेरिकी लेखक थे। आपको साहित्य आंदोलन में अग्रणी स्थान प्राप्त है। सिंगर की शिक्षा वारसा के धार्मिक विद्यालय में हुई थी तथा इनकी रचनाओं में दार्शनिकता की गहराई है। इनका पहला उपन्यास 'सटान इन गोरे' 1953 में प्रकाशित हुआ। इन्हें 1978 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इनकी मृत्यु 24 जुलाई, 1991 में हुई।

सब कुछ इतना गुपचुप हुआ कि रेब एल्जोकुम की लड़कियों तक को आखिरी क्षण तक पता नहीं चला कि उनके वालिद और उनकी माँ ब्लीमेली, के दरम्यान क्या घटा। सहसा अनोखी खबर फैली: वयोवृद्ध युगल तलाक ले रहे हैं। पचहत्तर वर्षीय रेब एल्जोकुम अपने अंतिम वर्ष इजराइल की धरती में बिताते हुए माउंट ऑफ ओलिव्य पर दफनाया जाना चाहते हैं। जबकि ब्लीमेली अपनी लड़कियों, दामादों, अपने नाते पोतो और उनके बच्चों, उपस्करों से युक्त अपने लम्बे-चौड़े अपार्टमेन्ट को त्यागना नहीं चाहती थी। खाबिंद और खानम ने हरकत को एकदम गुपचुप अंजाम देने की योजना बनायी, कि जिसके अनंतर सारी दौलत ब्लीमेली के अधीन होगी; रेब एल्जोकुम : सिर्फ अपने निजी वस्त्र, जेरूसलेम में प्रायः अनुपलब्ध होने के अंदेश के सबब कतिपय दुर्लभ पुस्तकें और इतनी काफी रकम कि अगर नब्बे की उम्र तक जिये तब भी कम न पड़े : अपने पास रख लिया।

तलाक की कार्यवाही हमारे घर संपन्न हुई। दूध के समान श्वेत दाढ़ी, चौड़ा माथा, सफेद भौं, नीली आँखें, लाल त्वचा से भरे चेहरे वाला रेब एल्जोकुम चीन से चाय आयात कर बेचता था, उसने कुछ इमारतें भी खरीद रखीं थीं। उसकी ख्याति किसी विद्वान व्यक्ति के रूप में थी; वह एलेक्जेन्ड्रो के रबी का अंतरंग मित्र था। उधर ब्लीमेली पैत्रिक परंपरा के तहत विख्यात मानव प्रेमी रेब सेमुवल ज्विन्कोवर की पोती थी।

रेब एल्जोकुम की पाँच लड़कियाँ थीं— सभी विवाहित, कोई भी लड़की आधुनिक खयालात से बिगड़ी हुई नहीं थी। बेशक रेब एल्जोकुम और उसकी खानम को लड़का न होने पर अफसोस इसलिए रहा कि उनकी मृत्यु के बाद कादिश का पाठ नहीं हो पायेगा, लेकिन तोराह और भले काम तो कादिश से भी बेहतर हैं ही। रेब एल्जोकुम येशीबाओं (छात्रों) की मदद करता; हर वर्ष एलेक्जेन्ड्रो के रबी को एक हजार रूबल दान के लिए देता।

जिस वक्त क्लर्क तलाक के कागजाद तैयार कर रहा था और गवाह अपने दस्तखत के लिए जरूरी विशिष्ट हिब्रू लिपि का अभ्यास कर रहे थे, उस वक्त रेब एल्जोकुम किसी हासिदिक पुस्तक के पन्ने पलट रहा था। वह पुरानी हासिदिक आकार की ऊँचा मुकुट लगी रेशमी टोपी पहना था। यदा

कदा बंडी के जेब से स्वर्ण साँचे में कसी घड़ी निकाल वक्त देखता। कुछ ही दिन पूर्व मेरे पिता से उन्होंने कहा, “मैंने जरूरत से ज्यादा व्यापार कर लिया। अपने अंतिम वर्ष तोराह और प्रार्थना में बिताना चाहता हूँ। अगर मैं इजराइल की धरती पर अभी चला जाऊँ, मेरी अस्थियों को— कि जब मसीहा आए—अधोतल की यात्रा करते हुए वहाँ नहीं पहुँचना होगा। मैं पवित्र वायु में साँस लेना चाहता हूँ।”

“तुम सुखी आदमी हो, एल्जोकुम,” मेरे पिता ने कहा। “मेरे ख्याल से तुम पापमोचन के लिए जी रहे हो।”

“सब कुछ भगवान की ही कृपा पर निर्भर है।”

मेरे पिता ने अचरज दर्शाया कि आखिर क्यों, जबकि खाविंद और खानम प्रत्येक सत्तर की आयु पार कर चुके हैं, और अब तलाक चाहते हैं। लेकिन रेब एल्जोकुम ने जवाब दिया, “ब्लीमेली मुझसे छोटी है। अकेली स्त्री असहाय हो जाती है। अगर वह फिर से शादी करना चाहे तो मैं उसके आड़े नहीं आना चाहता।”

“ओह!”

यह कोई आसान बात तो नहीं थी कि भरा पूरा परिवार, भले दोस्त, एलेक्जेन्ड्रो के रबी को छोड़ समुद्रों को उलाँघ किसी ऐसे देश में जाया जाये जो तुर्कों के आधिपत्य में है, लेकिन कोई आह उसके मुँह नहीं निकली। एलेक्जेन्ड्रो के हासिद खामोशी में यकीन रखते आये। किसी बेंच पर बैठी रिबन लगी सूती टोपी और पुरानी फैशन का चोंगा पहनी नाटी, गोल मटोल ब्लीमेले मलमल के रूमाल से आँसू पोंछ रही थी। उसका पीताभ चेहरा मुझे यूँ लगा मानो मृत्तिका के टुकड़े परस्पर चिपका दिए गए हों। उसने नारी कौम के पुरातन और उदास किसी तथ्य की पुष्टि करता सिर झकझोरा। मैंने उसे अपनी माँ से यह कहते सुना, “मेरी प्यारी मोहतरमा, ऐसी इच्छा होती है तत्क्षण मर जाऊँ।”

“प्रभु निश्चित रूप से तुम दोनों को जन्नत में पुनः मिला देगा,” मेरी माँ ने उसे ढाँढस बँधाया। अब मेरे पिता की बैठक में सबकुछ कानून के अनुसार चला। पिता ने बड़े से किसी ग्रन्थ में आँखें गड़ा रेब एल्जोकुम से मध्यम पुरुष एक वचन में कहा, “ध्यान से सुन तू, एलीएजेअर

जाल्मन के लड़के एल्जोकुम। इस तलाक को नकारने के लिए क्या तेरी जबान से कोई लफ्ज कभी निकला है?

“नहीं।”

“क्या तू अपने नाम के, उसके नाम से और कानून के नाम के खातिर नथान मेअर की पुत्री, तेरी बीवी ब्लीमेले को तलाक देना चाहता है?

“हाँ।”

जब मेरे पिता ने ब्लीमेले से कहा मेज के निकट आ हाथों की अंजुलि बनाओ ताकि रेब एल्जोकुम तलाक के कागजात उनमें रख दे, उस क्षण वृद्धा स्त्री थरथराने लगी। मेरी माँ और किसी अन्य स्त्री ने उसे अपने पैरों को जमा कर खड़े करने में सहायता की। ब्लीमेले के झुर्रियाँ भरे हाथों में रेब एल्जोकुम द्वारा कागजात रखे जाने के बाद मेरे पिता ने ऐसे मामलात में हमेशा कही जाती बात, दोहराया, “तुम दोनों की एक ही छत तले रहने की इजाजत खत्म होती है। अगर स्त्री पुनर्विवाह करना चाहती है, तो उसे नब्बे दिन की प्रतीक्षा करनी होगी।

एक नौकरानी और ब्लीमेले की कनिष्ठ पुत्री उसे किसी डॉक्सी में बिठा कर घर ले गये। रेब एल्जोकुम अपने किसी पूर्ववर्ती साथी— एलेक्जेन्ड्रोव रबी के अनुनायी— के घर चला गया। कतिपय दिन बीते रेब एल्जोकुम इजराइल की धरती की ओर रवाना हो गया। गली के कुछ एक अन्य लड़कों के संग मैं दो डॉस्कियों पर लादे जा रहे उसके असबाब का लदान देखने जा दौड़ा। रेब एल्जोकुम के साथ रेलगाड़ी पर सवार होने के लिए रबी विशेष तौर से एलेक्जेन्ड्रो से आया। पूरी गली हासिद समुदाय से पटी पड़ी थी। ब्लीमेले बीमार पड़ गयी थी। लड़कियाँ पिता से बेहद खफा हो गयीं थीं; सिर्फ दामाद और नाती—पोते ही विदा के क्षण वहाँ पहुँचे थे। पहली डॉक्सी में रेब एल्जोकुम, रबी, और दो कर्मचारी बैठे। उनके पीछे हासिद समुदाय के लोगों से ठसाठस भरी डॉस्कियों का जुलूस चला। युवजन हासिदीय गीत गा रहे थे। हम लड़के भी विएना स्टेशन तक दौड़े।

कई हफ्ते बीत गये; एल्जोकुम बाबत् कोई खबर नहीं सुनायी दी। मेरे पिता ने बताया कि वह शायद पवित्र धरती पर जा पहुँचा है। वह रेलगाड़ी से रूमानिया गया। जहाँ

उसे जाफ्फा के लिए किसी जहाज पर सवार होना था। ब्लीमेले पुनः तंदुरुस्त हो गई थी। मैंने उसे हमारे घर के दूसरी ओर बनी पावन पवित्र कसाई खाने (कोशर बूचर शोप) में प्रायः आते देखा है। वह ठुमक कर चलती जबकि टोकनी उठायी नौकरानी उसका अनुसरण करती चलती थी।

इसी दिन मेरे पिता को रेब ऐल्जोकुम का खत मिला। उसने कई एक यिदिश लफ्जों से युक्त हिब्रू में लिखा था कि, खुदा का शुक्र है, वह जेरूसलेम में मिआ शोरिम के अंचल में आ बसा है। वह 'कराहती दीवार' ('वेलिंग वॉल') पर प्रतिदिन प्रार्थना करता है। उसने राशेल की और अन्य अनेक पवित्र कब्रों के दर्शन कर लिए हैं। जेरूसलेम रबियों, विद्वानों, हासिदों से भरा पड़ा है। बेशक गरीबजन तंगी झेलते हैं, लेकिन धन कमाने के लिए सब कुछ उपलब्ध है। वहाँ एलेक्जेन्ड्रो रबी के ज्यादा अनुयायी नहीं हैं, तथापि जितने भी आये हैं परस्पर मिले जुले रहते हैं।

कुछ एक हफ्तों बाद हमें जेरूसलेम से एक पुलिंदा मिला। वह रेब ऐल्जोकुम द्वारा भेजा गया कोई तोहफा था। भीतर, काष्ठ जिल्द में कसी कोई प्रार्थना पुस्तक थी जिसके मुख पृष्ठ पर 'कराहती दीवार' का और पृष्ठ-पृष्ठ पर मेचपेलाह की गुफा के चित्र उत्कीर्णित थे। उसे मेरे पिता ने मुझे दिया। मैंने उसे नाक तक ऊँचा किया; मेरी कल्पना के अनंतर उसमें से नोहा की नौका के काष्ठ, लौंग, लोभान गोंद तथा नाना भाँति मसालों की महक उभरी कि जिनका जिक्र पेंटाट्यूष में आया है।

कुछ और समय बीतने के बाद मैं रेब ऐल्जोकुम को प्रायः भूल गया। किसी शाम जीने पर पिता के दौड़ते कदम- प्रायः इस बात के संकेत थे कि उन्होंने स्टडी हाउस में कोई दिलचस्प खबर सुनी- होगी। बाहर हो रहे हिमपात के अनंतर गिरे हिमकणों से उनकी लाल दाढ़ी सफेद हो गयी थी। उनकी मलमली हैट और लंबा चोगा भी श्वेत धारियों से पट गया था। माँ ने उन्हें अपने जूतों को पैर-पोश पर साफ करने के लिए सचेत किया। लालटेन की रोशनी के प्रतिबिम्ब में उनकी नीली आँखें असीम आसमानी लगीं। वह बोले, "क्या तुम यकीन करोगी?— रेब ऐल्जोकुम ने जेरूसलेम में विवाह रचा लिया।" रोष

से भर गयी।

माँ रोष से भर उठी। 'पुरुष लोग ऐसे ही होते हैं।' उसने किसी कुमारी को खोज लिया। लगता है मानो वह अभी भी अपनी मृत्यु के पश्चात कादिश का पाठक चाहता है।"

"हुँह, दाना वयोवृद्धा के बनिस्वत किसी छोकरी को तरजीह देना!" माँ ने पिता के वचनों को सुधारा। जब कभी वह गुस्सा होतीं उनके विग अपने आप बिखर जाते। मैंने अक्सर अपनी माँ के विग को सजीव चीज माना। कमजोरी की वजह से प्रायः पीले पड़े हुए उसके पोपले गाल लाल पड़ गये थे। मेरी माँ हमेशा आशंकित रहती आयी थी कि वे अपरिपक्व उम्र में ही चल बसेंगी और यह कि पिता किसी युवा स्त्री को उसके स्थान पर ला बसाएँगे। माँ ने तो उसकी हुलिया का विवरण तक बता दिया था। वह नाटी, गोल-मटोल, गुलाबी गाल वाली और मीठी मीठी मुस्कान भरी स्त्री होगी। माँ की ऐसी धारणा रहती आयी थी कि पिता की पसंद ऐसी ही है। अब वह बोल पड़ी, "मैं मान नहीं सकती कि वह पवित्र धरती की तलाश में वहाँ गया होगा। ब्लीमेले को तलाक देने का यही बहाना होगा। ईश्वर का डर नहीं, सिर्फ वासना! कपटी!"

"चूँकि अब वे तलाकशुदा हैं और उसका कोई पुत्र नहीं है, तब इसमें क्या हर्ज है?" पिता ने पूछ लिया। "कहावत है कि, 'सुबह अपने बीज बोओ, और शाम को भरपूर फसल पाओ'" जिसका तालमुद ऐसा अर्थ निकालती है कि विवाह वृद्धावस्था का भी और युवावस्था का भी - दोनों ही का गुण हो सकता है।" मुझे तालमुद का कथन ज्ञात है," माँ ने टोक दिया। "सच तो यह है कि स्त्रियाँ खाविंदों के प्रति वफादार होती हैं लेकिन पुरुष निर्मम हैं। अपनी पत्नी के, अपने बच्चों के, और अपने बच्चों के बच्चों के साथ पचास वर्ष बिताने के बाद उसने किसी विचित्र छोकरी को ब्याह लिया। परन्तु आखिर छोकरी ने उसके साथ कैसे ब्याह रख लिया? शायद बुढ़े के मरने का इंतज़ार कर रही होगी ताकि उसका पैसा पा जाये।"

मेरे पिता ने कंधे बिचकाये। वे माँ का आक्रोश, या यूँ कहें कि प्रेम और किसी विरासत के बाबत बात को नहीं समझ पाये। उनके लिए वह कुछ ज्यादा ही व्यावहारिक लगी। वह अखबारों को और उनमें प्रकाशित धारावाहिक

विधर्मी उपन्यासों को पढ़ती। मेरे पिता की पवित्र पुस्तकों में प्रेम का कभी कोई जिक्र नहीं था। और फिर विरासत बाबत, मोजेजी कानून के मुताबिक, लड़कों को उत्तराधिकार मिलता, पत्नी को नहीं। कुछ पल बीते पिता सांध्यकालीन अध्ययन के लिए अपने कक्ष में चले गये। उनके स्वभाव में इस तरह की बातों पर चिंतन के लिए जगह नहीं थी।

चूँकि वयोवृद्ध बच्चे घर पर नहीं थे, माँ मुझसे बोली: “किसी को भी अन्य का अहित करने की इजाजत नहीं है। जब ईश्वर ही ने पुरुषों और स्त्रियों को रचा तब बराबरी होनी ही चाहिए। और फिर तुम भी पुरुष हो, जब बड़े होकर तुम भी और लोगों से भिन्न नहीं रहोगे। इस तरह का पाखंड मेरा मन दुखाता है। वो रेब एल्जोकुम संतक के मानिंद बनता था। जब मैंने सुना उसने अपना सारा धन ब्लीमेले को दे पवित्र धरती पर रहने की ठानी तब मेरे मन में उनके प्रति असीम श्रद्धा उपजी थी। लेकिन अब मेरा उस पर से विश्वास उठ गया। अब जरा बताओ अगर मैं लोप हो गयी तो तुम्हारे पिता क्या करेंगे? शोक के निर्धारित तीस दिन बिताने के तत्क्षण बाद किसी अन्य को गले लगा लेंगे। उनके लिए मैं कुछ ज्यादा ही दुबली-पतली और बड़बोली हूँ। वे तो चमचम पसंद करते हैं जबकि मैं चरपरी मिर्ची हूँ। मैं पिता पर गयी हूँ जबकि तुम्हारे पिता उनकी माँ पर, कि जो मुस्कानों ही मुस्कानों से भरी और खूब भली स्त्री थी। भगवान मेरी ऐसी बातों के लिए क्षमा करें। अगर मैं मरने ही जा रही हूँ तो....”

“ऐसा क्यों बोलती हो माँ!”

“इसमें क्या हर्ज है, कोई भी हमेशा-हमेशा के लिए जीवित नहीं रहता। एक बार दफना दी गयी तो फिर क्या परवाह कि वो क्या करते हैं? जोड़ी बिठाने वालों को क्या अकल? वे बेहद बेतुके जोड़ बैठते हैं। मेरे बाबत् उन्हें बस यही पता था कि मैं बिलगोरे रबी की बेटी हूँ और तुम्हारा पिता तोमाषो रबी का लड़का है। सच तो यह है कि दोनों सास ससुर भी मेल नहीं खाते थे। मेरा पिता शेर था जबकि तुम्हारे पिता का पिता मेमना। पूरे दिन अटारी में बैठा कवाला पढ़ता रहता। हफ्तों-हफ्तों उसके मुँह कोई शब्द नहीं निकलता। अगर तुम्हारे पिता में कोई अकल होती तो हम यहाँ क्रोषमालाँ स्ट्रीट ही में फँसे नहीं रहते।

अन्य रबी कितने महत्वाकांक्षी हैं? उन्होंने अपना कारोबार बेहद बढ़ा रखा है। जब तुम्हारे पिता से कहा गया कि रूसी सीखना होगा और गवर्नर द्वारा निर्धारित परीक्षण पास करना होगा तो वह चिल्ला पड़े, “पूरी जिनदगी किसी गवर्नर के पास नहीं जाऊँगा।” इसीलिए तुम ये फटे जूते पहने हो।”

“फटे नहीं हैं।”

“थिगले लगे तो हैं।” बहरहाल किसी को इस तरह बोलने की इजाजत नहीं है। इस संसार में मेरी किस्मत खोटी है। और, बहुत करके, आने वाले संसार में कोई नहीं जगह पा सकूँगी।”

“मम्मी जब बड़ा होऊँगा तो मैं बहुत सारे पैसे दूँगा!” मैं पुरजोर बोला।

माँ ने व्यंग भरी मुस्कान बिखेरी। “तुम्हें इतना धन कहाँ मिलेगा?”

“मैं कोई खजाना खोजूँगा।”

“हूँ, आखिर अपने बाप ही के बेटे हो न। बहुत हुआ।”

माँ ने अखबार उठाया। कुछ पलों, पहले पन्ने पर बड़े अक्षरों में प्रधानमंत्री स्टोलीपिन और एन्टी-सेमाइट प्यूरिशकेविच (जिसने रूसी गाँवों से यहूदियों को खदेड़ा था) बाबत् पढ़ा। फिर स्थानीय खबरें पढ़ने लगी। उसकी आँखें पैनी और उदास हो चलीं। किसी पृष्ठ पर ट्रामों के नीचे जा दबे लोगों की, हत्याओं की, खुदकुशियों की, छतों से नीचे जा गिरे कारीगरों की खबरें होतीं। कहीं दोहराती सुर्खियों में: आदमी-सा-जानवर, छपा हुआ था जिसमें एक जैसी खबर किसी पहरेदार बाबत् थी जो धुत्त पिता घर पहुँच अपनी ही लड़की से बलात्कार कर बैठा था। मुझे ठीक से मालूम नहीं था उसका क्या मतलब होगा, लेकिन इतना समझता था कि बहुत ज्यादा सवाल पूछना उचित नहीं है।

किसी शाम की जब माँ कोई हिब्रू पुस्तक पढ़ रही थी, हमारे पड़ोसी उर्फ दर्जी की बीबी जेलडा भीतर आ बोली, “मैडम आपने खबर पढ़ी?”

“क्या हो गया?”

“ब्लीमेले ने, हाँ उसी रेब एल्जोकुम की भूतपूर्व बीबी

ने ब्याह कर लिया।”

“मेरी माँ की आँखें विडम्बना से जा भरीं। सच में? किसके साथ?”

“सूखे-मेवे के दुकानदार रेब शशाया पेल्टेस के साथ, जिसकी बीवी अभी कुछ ही महीनों पूर्व मरी होगी।”

“सच कह रही हो...?”

“परसों ही उनका विवाह हुआ है। उसने तो दुकान पर बैठना शुरू कर दिया है।”

“अगर वह कर सकता है तो यह क्यों नहीं? मैं इसे दोष नहीं दूँगी।”

“जेरूसलेम में रेब ऐल्जोकुम की नई बीवी गर्भवती है। रेब के दोस्तों को यहाँ कोई खत मिला है। वे दोनों, हो सकता है कि, दर्जन भर बच्चे पैदा कर लें।”

“इससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ेगा।”

“ओह, मैडम, संसार को यह क्या हो गया है? मेरी माँ सत्ताईस की आयु में ही बेवा हो गयी थी लेकिन पुनर्विवाह का कोई ख्याल उसके दिमाग में कभी नहीं आया। जब कभी कोई सुझाव लेकर आया उसके पास एक ही जवाब था: ‘अगर करना ही होगा तो स्वर्ग में अपने ही खाबिंद के साथ करूँगी...।’

“दुनियाँ में कई तरह के लोग होते हैं।”

“पचास बरस किसी खाबिंद के साथ रहने के बाद फिर किसी अजनबी से जोड़ी बिठा नये सिरे से कैसे शुरू कर सकते हो? रेब ऐल्जोकुम तो बड़ा साफ सुथरा आदमी था। रेब शशाया तो बड़ा गंदा आदमी है, कंजूस भी। उसने जरूर ब्लीमेले का धन लूटने के लिए ब्याह किया होगा।”

“उसकी उमर में पसंद के लिए अड़ना संभव नहीं हो सकता,” मेरी माँ बोली।

“उसे यह शादी करने की जरूरत क्या थी? मैंने तो सुना कि उसकी लड़कियाँ मन मार कर उनके साथ रह रहीं हैं।”

“दोनों स्त्रियाँ, अपने सिर हिला-हिला बातें करती गयीं। जेल्ला कतिपय ऐसी बातों का सुराग देती गयी जो

मेरी जेहन में नहीं उतर पायीं। बंद उंगलियों से अपना मुँह थपथपा वह बोली, “इस बाबत मैं तो चुप ही रहूँगी।” मेरी माँ ने सिर घुड़काया। “खाबिंद और क्या बीवी होते हैं?” उसने पूछा। “अजनबी। वे अजनबी की तरह ही पैदा होते हैं और अजनबी की तरह ही मरते हैं।”

“तब सान्निध्य में कौन है?” जेल्ला ने पूछा। “बच्चे बड़े होकर उन्हीं की राह चलते हैं।”

“मेरी माँ ने कनखियों से मुझे देखा, “जो मर्जी आये उन्हें करने दो वह हमारी दुनियाँ नहीं है।”

अगले दिन कुछ खा-पीकर मैं रेब शशाया की सूखे मेवे की दुकान पर ब्लीमेले को देखने गया।

तख्ते के पीछे खड़ी वह किसी ग्राहक को धागे के गुच्छे दिखा रही थी। सामान्य दैनंदिन पोशाक पहनी वह बगैर रिबन लगी टोपी सिर पर फँसायी थी। यों लगी मानों सदा ही से वहाँ तैनात हो। वह ग्राहक के साथ अपने पोपले मुँह ये बोली। किसी तिजोरी के समक्ष एक ऊँची तिपाई पर बैठे रेब शशाया की कभी श्वेत रही दाढ़ी अब तम्बाकू से भरी करी हुई थी। खोपड़ी पर टिकी उसकी टोपी पर धब्बे लगे थे और उसका स्लेटी कोट जगह-जगह फटा हुआ था। अपनी कमजोर आँखों के निकट ला ला वह नोट गिन रहा था। उसकी भौं दो बुरुशों समान उभरी हुई थीं। मेरे मन में रेब शशाया, ब्लीमेले, अपनी गर्भवती पत्नी के साथ जेरूसलेम में बसे हुए रेब ऐल्जोकुम के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई। सारे वयोवृद्ध झूठे हैं, मैं मन ही मन सोचने लगा। मुझे शशाया की पत्नी, डेबोराह इट्टा, की याद आयी कि जिससे मैं बटन, सुईयाँ, कॉटन खरीदता था। वह अब कहाँ है? क्या उसे मालूम चल गया कि उसकी जगह ब्लीमेले ने ले ली है? नहीं, उसे नहीं मालूम होगा। वह तो स्वर्ग में जा बसी है। सहसा मैंने तय किया जब माँ मरे, यूँ तो भगवान ऐसा न करे, और अगर मेरा पिता उस गुलाबी गाल वाली, गोल मटोल स्त्री को ब्याहने जाये, तब तो मैं घर से भाग कवालिस्ट बन एकान्तवासी हो जाऊँगा।

लखनऊ विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय संगोष्ठी

दिनांक 23 सितम्बर 2014 को लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के मालवीय सभागार में प्रख्यात आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय जी के 74वें जन्म दिवस पर उनके आलोचना कर्म पर आधारित 'मैनेजर पाण्डेय का आलोचना संघर्ष' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी और 'पुस्तक चर्चा और काव्य पाठ' का आयोजन किया गया। उनकी पुस्तक 'उपन्यास और लोकतंत्र' पर वीरेन्द्र यादव ने प्रो. पाण्डेय को सर्वोदयी चिंतक और उनकी आलोचना को मुठभेड़ी कहा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. प्रणय कृष्ण ने उनकी पुस्तक "भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा" पर बात करते हुए आलोचक से अपेक्षाओं, देश और राष्ट्र की अवधारणा, संगम संस्कृति तथा समकालीन परिप्रेक्ष्य में पाण्डेय जी की आलोचना की प्रासंगिकता पर अपने विचार व्यक्त किए। दिल्ली के गोपाल प्रधान ने पाण्डेय जी की पुस्तक 'आलोचना में सहमति और असहमति' पर बात करते हुए उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना पर प्रकाश डाला। लखनऊ की रजनी गुप्त ने उनकी चौथी पुस्तक 'संवाद और परिसंवाद' पर चर्चा करते हुए बौद्धिक मध्यवर्ग की दुविधा पर टिप्पणी करते हुए साहित्य को मनुष्य की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति कहा। बनारस से आये रामाज्ञा शशिधर ने पुस्तक 'हिंदी कविता: अतीत और वर्तमान' पर चर्चा करते हुए कहा कि पाण्डेय जी की आलोचना आज के उत्तरों को प्रश्नों के अंधेरे से निकालती है।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र में प्रो. मैनेजर पाण्डेय के सम्मान में प्रसिद्ध दलित साहित्यकार ओम प्रकाश वाल्मीकि को समर्पित काव्य गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता लखनऊ के वरिष्ठ साहित्यकार नरेश सक्सेना ने की। इस अवसर पर कात्यायनी, चंद्रेश्वर, हरिओम, मालविका, अनिल त्रिपाठी, सत्यवान ने अपनी कविताओं का पाठ किया। कार्यक्रम का आयोजन रविकांत, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा किया गया। कार्यक्रम में मुख्य अतिथि के रूप में प्रो. मैनेजर पाण्डेय तथा अध्यक्ष वरिष्ठ दलित साहित्यकार प्रो. कालीचरण स्नेही मौजूद रहे।

प्रस्तुति - रविकांत

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में 'अंधेरे में' पर एकल व्याख्यान

हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय में 26 सितम्बर 2014 गजानन माधव मुक्तिबोध की कालजयी रचना 'अंधेरे में' के पचास वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में हिंदी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय का 'अंधेरे में' कविता पर केंद्रित एकल व्याख्यान का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो. महेंद्रनाथ राय, प्रमुख कला संकाय ने की। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने व्याख्यान की शुरुआत चार्ल्स डिकेन के चर्चित उपन्यास 'ए टेल ऑफ टू सिटीज' के आरंभिक हिस्से को उद्धृत करते हुए की। उन्होंने उस समय के फ्रांस का उपन्यास में वर्णित चित्र कुछ यूँ प्रस्तुत किया-

कुछ लोगों के लिए/ यह वसंत का समय है।/ और कुछ लोगों के लिए / ठिठुरने वाली सर्दी का।/ कुछ लोग सब कुछ सुना रहे हैं / कुछ लोग सब कुछ सुन रहे हैं।/ कुछ लोग सीधे स्वर्ग जा रहे हैं/ कुछ लोग नरक में जा रहे हैं।

उन्होंने कहा, “मेरा ख्याल है कि फ्रांस की जगह हिंदुस्तान रख दें तो यह आज हिंदुस्तान के बारे में है, पर फ्रांस और हिंदुस्तान में यह फर्क तो है ही कि जब ये हो रहा था उसके ठीक बाद फ्रांस की राज्य क्रांति हुई, मुझे हिंदुस्तान के आगे पचास सालों में किसी क्रांति की संभावना नहीं दिखती।” उन्होंने ‘अंधेरे में’ के पूरा शीर्षक की ओर इशारा करते हुए कहा, “‘आशंका के द्वीप : अंधेरे में’- मैं शीर्षक को ध्यान में इसलिए लाना चाहता हूँ कि अंधेरे में ही आशंकाएँ पैदा होती हैं, और जब पैदा होती हैं तो उनका हल भी होता है। शेक्सपियर कहता है, “अंधेरे में बुराइयों का विकास होता है या बुराइयाँ फैलती हैं” कोई कारण तो होगा कि मुक्तिबोध ने ‘अंधेरे में’ जैसी कविता लिखी। उनके व्याख्यान के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु हैं, उन्हीं के शब्दों में-

- यह अपने समय की अंधेरे की कविता है और महत्वपूर्ण कविता इसलिए है कि आज के समय के अंधेरे में और जब तक अंधेरा बढ़ेगा, उसके बारे में है।
- बड़ी कविताओं की प्रासंगिकता आलोचक नहीं, इतिहास पैदा करता है। इस कविता को इतिहास ने प्रासंगिक बनाया है।
- ‘चाँद का मुँह टेढ़ा है’ की कोई कविता ऐसी नहीं है जिसमें अंधेरा न हो।
- इसका अध्ययन समय के साथ जोड़कर कीजिए। यह जनचरित्र कविता है। यथा विस्तृत प्रतिमाएँ।
- जब यह लिखी गई तो संभावना की कविता थी, आज यह वास्तविकता की कविता है।
- इसे समग्र कविता कह सकते हैं। यह एक राजनीतिक कविता भी है। स्वतंत्रता-संग्राम से जुड़ी।
- विरुद्धों का सामंजस्य- यथार्थ और मिथक भी है। मध्य वर्ग की आलोचना भी है।
- वास्तविकता के रूपांतरण की प्रक्रिया में सभ्यता- समीक्षा वाली कविता।

स्वागत विभागाध्यक्ष प्रो. बलिराज पाण्डेय और संचालन डॉ. रामाज्ञा राय ने किया।

प्रस्तुति- नम्रता गुप्ता

कथा-शिविर : दमोह (11-12 अक्टूबर, 2014)

प्रगतिशील लेखक संघ इकाई, दमोह द्वारा आयोजित दो दिवसीय कथा-शिविर (11-12 अक्टूबर, 2014) का उद्घाटन वरिष्ठ कथाकार रमाकांत श्रीवास्तव ने किया। इस कथा-शिविर में नये कथाकारों के लिए कहानी कार्यशाला का भी आयोजन किया गया था। रमाकांत जी ने अपने वक्तव्य में कहानी को गोरिल्ला लड़ाई की तरह बताते हुए समाज पर केंद्रित विमर्श एवं मूल्यों के विघटन की तरफ संकेत किया। उन्होंने सामाजिक यथार्थ एवं सत्यान्वेषण को कहानी की जरूरत बताया। अगले चरण में कथाकार सुबोध कुमार श्रीवास्तव ने स्पष्ट किया कि दमोह में उनके कथा लेखन की जड़ है। यहाँ कथा का अपना इतिहास है। आज समाज हाशिये पर पहुँचने की स्थिति में है। ऐसे हालत में कहानीकार का दायित्व बनता है कि वे अपनी कहानियों के जरिये विसंगतियों के साथ निराकरण को भी सामने लायें क्योंकि कहानी अपने समय का ऐतिहासिक दस्तावेज होती है। इस विमर्श में नवकथा लेखक दिनेश भट्ट, अनिल अयान, संजीव माथुर, दीपा भट्ट, अनुपम दहिया, अक्षय जैन एवं अमर सिंह ने कई अहम सवाल उठाये। दमोह प्रलेस इकाई-अध्यक्ष सुसंस्कृति परिहार ने प्रथम यथार्थवादी कहानी ‘टोकरी भर मिट्टी’ के रचनाकार माधव प्रसाद सप्रे की धरती पर रचनाकारों का स्वागत किया। प्रलेस के जिला अध्यक्ष सत्मोहन वर्मा ने कथा परम्परा पर अपने विचार रखते हुए कार्यशाला को जरूरी बताया।

कथा-शिविर के दूसरे दिन अंकु चौरसिया ने कार्यशाला में लिखित कहानी ‘सपनों की उड़ान’ का पाठ किया। दीपा भट्ट, अक्षय जैन, उमेश दास साहनी, अनुपम दाहिया, अनिल अयान, अरबाज खान, पुरुषोत्तम रजक, आभा भारती,

ओजन्द्र तिवारी आदि ने भी कहानी का पाठ किया।

समापन सत्र में रचनाओं पर प्रतिक्रिया देते हुए कथाकार त्रयी ने लेखकों को संभावनाशील बताया। रमाकांत जी ने सुझाव दिया कि चमकदार शिल्प और नकली आधुनिकता कहानी को अपंग बना देती है। सुबोध श्रीवास्तव ने कहा कि नव रचनाकार ध्यान रखें कि वे कहानी लिखकर सामाजिक कर्तव्य का निर्वहन कर रहे हैं।

प्रस्तुति- सुसंस्कृति परिहार

राष्ट्रीय संगोष्ठी: हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

‘मूक जनों की वाणी: भारतीय दलित साहित्य’ विषय पर गत 19 और 20 नवम्बर को कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में राष्ट्रीय-संगोष्ठी आयोजित की गई। संगोष्ठी के पहले दिन प्रथम सत्र में विभागाध्यक्ष डॉ. सोमा बन्धोपाध्याय ने अपने स्वागत भाषण में कहा कि ‘दलित जाति नहीं एक श्रेणी है, दलित साहित्य का मूल हेतु जातिवाद को तोड़ना है।’ मुख्य अतिथि मोहनदास नेमिशराय ने कहा कि ‘साहित्य केवल ऐश्वर्य नहीं, अश्लील भाषा के व्यवहार के लिए नहीं और ना ही विलास एवं मनोरंजन के लिए है। वे कहते हैं कि साहित्य का निर्माण दलित एवं उत्पीड़ित की आवाज है। समाज की सड़ी-गली परम्पराओं को ध्वस्त कर सभी वर्ग के लोगों को नेतृत्व करने का अवसर मिलना चाहिए।’ मुख्य वक्ता, भूतपूर्व सचिव, साहित्य अकादमी डॉ. रामकुमार मुखोपाध्याय ने विभाजन का आधार सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों को स्वीकार करते हुये विभिन्न भाषाओं के लेखकों और कवियों की रचनाओं पर प्रकाश डाला। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो. अमरनाथ शर्मा ने कहा कि ‘दलित की वाणी सदियों से दबी हुई ज्वालामुखी है, जिसके फटने से पुरानी जड़ परम्पराओं का ध्वंस हुआ है तो नई प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं का निर्माण भी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जो भी उत्पीड़न, व्यथा एवं शोषण व्यंजित करेगा वह दलित साहित्य कहलायेगा।

दूसरे दिन प्रथम सत्र में वर्द्धमान विश्वविद्यालय के प्रो. विश्वबंधु भट्टाचार्य ने बंगला साहित्य में दलित लेखन पर चर्चा करते हुए जन्मना, जातीय स्थिति को स्वीकार न कर उत्पीड़न एवं विश्वविद्यालय के प्रो. उदयनाथ साहु ने दलितों की वाणी पर प्रकाश डाला। हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि ‘दलित जनेऊ की माँग नहीं करता वरन् वह नौकरी की माँग करता है। दलित को लोकतंत्र के संदर्भ में देखा जाना उचित है न कि जाति के संदर्भ में।’

द्वितीय सत्र में रवीन्द्र भारती के हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. सुब्रत लाहिड़ी ने कहा कि शिक्षा चेतना को जागृत करती है और चेतना क्रांति का आधार बनती है जिससे समाज में आमूलचूल परिवर्तन घटित होता है। इस संगोष्ठी में प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय की विभागाध्यक्ष प्रो. तनुजा मजूमदार, योगेश चंद्र चौधरी महाविद्यालय की विभागाध्यक्ष डॉ. सुनंदा राय चौधरी, विद्यासागर कॉलेज से डॉ. सत्या उपाध्याय ने अपने वक्तव्यों को प्रस्तुत किया। इस सत्र की अध्यक्षता कर रहे डॉ. अरुण होता ने कहा कि जिसके भीतर और बाहर अंगारे दहकता हो और जो उसकी पीड़ा को अनुभव करता हो, वही दलित है। सत्र का संचालन डॉ. गीता दूबे ने किया। शोध-सत्र में शोधार्थियों ने आलेख पाठ किया एवं हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्व विद्यालय की प्रो. राजश्री शुक्ला ने अध्यक्षता और सत्र का संचालन डॉ. विवेक सिंह ने किया।

प्रस्तुति : परमजीत कुमार पंडित

‘लिरिकल होना बाधा नहीं प्रगतिशीलता में’ शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार जैसे गंभीर प्रसंगों पर केंद्रित पत्रिका ‘अभिव्यंजना’ का नया अंक मेरे हाथ लगी है नये नाम से- ‘मुक्तांचल’। इसे मुक्तांचल का पहला अंक कहें या फिर अभिव्यंजना का 5वाँ अंक। ऐसा पंजीयन की औपचारिकताओं के कारण हो जाता है।

संपादकीय धार-दार है- “हर बात में कुछ अजीब सी लगने वाली चीज़ हमें अधिक खींचती है क्योंकि तमाशा उसी से बनता है। आज ज़माना तमाशा का है, नुमाइशों का है, धमाकों का है। प्रपंच की भाषा हावी होती जा रही है। ऐसा भाषा जो केवल ज़हर छोड़ती है, धुँआँ फैलाती है- संशय से ग्रस्त संवेदनाहीन परिवेश खड़ा कर देती है।” क्या हम इस परिवेश को शिद्धत से पहचानना चाहते हैं? बहुतों के पास इसके लिए फुर्सत नहीं है आज।

कृष्णदत्त पालीवाल ने अपने आलेख ‘कवि कर्म में तप और ताप का नया पाठ’ में भवानी भाई की कविता की व्यापक और विश्वसनीय परीक्षण किया है। ‘गीत काव्य- रचना और अभिग्रहण’ में रवि रंजन फिर से याद दिलाते हैं- कविता का लिरिकल होना राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता या प्रतिबद्धता के आड़े नहीं आता। वस्तुतः कविता की काव्यात्मकता को लिरिक से अलग कर कतई नहीं देखा जा सकता। बिलकुल मार्के की बात है। जो इसे नहीं मानते उनकी कविताओं पर मक्खी भी भिनभिनाने की हिम्मत नहीं जुटा पाती।

व्यासमणि त्रिपाठी ने मुक्तिबोध की क्रांतिकारी कविताओं को अपने तई देखा-परखा है - ‘अंगारी चेतना के क्रांतिकारी कारीगर’ में। रामदरश मिश्र जैसे प्रतिष्ठित और वरिष्ठ कवि के उत्तरवर्ती काव्य-कर्म की रोचक पड़ताल पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु ने यहाँ की है। मधुरेश जैसे कथा-आलोचक को पढ़ना सच्चे अर्थों में कहानी को समझना होता है। वे भारतीय समाज के बरक्स अल्पसंख्यक समाज की बारीकी पर यहाँ गंभीर विमर्श कर रहे हैं, जिसे नकारना भूल होगी।

114 पृष्ठों में बहुत सारी और पठनीय सामग्री के साथ संपादकीय टीम को बधाई कि इस त्रैमासिक लघुपत्रिका में शिवकुमार अर्चन, सुधीर रंजन सिंह, काली प्रसाद जायसवाल, डॉ. मंजुला चतुर्वेदी की कविता को भी खास तौर पर प्रकाशित किया गया है। साहित्य के गंभीर पाठकों और लेखकों के लिए ऐसी पत्रिका का सदैव स्वागत ही होता है। हर अंक अपनी छाप छोड़ेगा।

जय प्रकाश मानस

आपके द्वारा प्रेषित ‘मुक्तांचल’ का प्रथम अंक प्राप्त हुआ। संपादक महोदय ने अपने संपादकीय आलेख में समकालीन समय में राजभाषा हिंदी से संबंधित न सिर्फ ज्वलंत समस्याओं को उठाया बल्कि उसका सकारात्मक समाधान भी दिया, जो कि सराहनीय है। संपादक मंडली से अनुरोध है कि वे एक विशेष अंक ‘भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय भाषाओं की स्थिति’ पर भी प्रकाशित करें। पत्रिका में चयनित सभी आलेख ज्ञानवर्धक हैं। पत्रिका प्रकाशन निस्संदेह एक श्रमसाध्य कार्य है, इस कार्य को इतनी सादगी से संपूर्ण करने हेतु संपादक मंडली को हार्दिक बधाइयाँ।

नगेन्द्र कुमार सिंह, राजभाषा अधिकारी,

आपके द्वारा वसुंधरा, गाजियाबाद, के पते पर भेजी गई ‘मुक्तांचल’ पत्रिका की प्रति (तनिक विलम्ब से) मिली। बहुत-बहुत धन्यवाद! पत्रिका बहुत स्तरीय बनी है भविष्य में और भी प्रगति करे, यही कामना है। क्या यह ‘अभिव्यंजना’ का नया अवतार है?

शेखर जोशी

मुझे लगातार ‘अभिव्यंजना’ पत्रिका मिलती रही थी और अब ‘मुक्तांचल’ बहुत श्रम-परिश्रम से अंक निकाला जा रहा है। यह देखकर अच्छा लगा। मुक्तांचल में प्रकाशित कहानी ‘गिखोर’ अद्भुत कहानी है। यह सौभाग्य की बात है कि यह कहानी पढ़ने के लिए मिली। अन्य रचनाएँ भी अच्छी हैं।

शर्मिला बोहरा जालान

‘अभिव्यंजना’ का अंक-3 (जनवरी-मार्च, 2014) एवं अंक-4 (अप्रैल-जून, 2014) को पढ़ा। अंक मिलते ही आपसे मोबाइल पर बात की। कई बार कुछ कहने का मन बना पर कुछ कह न सका। 1976-78 के दौर की पत्रिका का पुनर्प्रकाशन कर आपने सराहनीय कर्म किया है। साधुवाद!

केदारनाथ सिंह एवं राजकुमार कुम्भज की कविताएँ क्रमशः रोटी एवं मुझे माफ करो मैं कवि हूँ- एक सशक्त अभिव्यक्ति है। ज्ञानप्रकाश पाण्डेय का आलेख: हिन्दी गज़ल अतीत से वर्तमान तक ज्ञानवर्धक है।

अंक-4 में प्रकाशित ओम भारती की कविता ‘सच के लिए’ एवं चेतना वर्मा की कविता ‘पीली साड़ी पहनकर’ अच्छी लगी।

साथ ही, मुक्तांचल का अंक-1 (जुलाई-सितम्बर, 2014) पढ़ा। काली प्रसाद जायसवाल की कविताएँ ‘सीख’, ‘पिता से मुलाकात’ एवं ‘तुम्हारे नहीं रहने पर’ मन को बहुत ही उद्बलित की।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता ‘कुआनो नदी के पार’ एवं नवारूण भट्टाचार्य की कविता ‘कविता के संबंध में कविता’ बहुत ही मर्मस्पर्शी है।

उमेश पंडित ‘उत्पल’,

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन :

176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

प्रतिश्रुति प्रकाशन :

7ए, बैटिक स्ट्रीट (लाल बाजार- गणेशचंद्र एवेन्यू के मध्य), कोलकाता- 700001

मानव प्रकाशन :

131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी :

2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी :

रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार

प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने, अशोक राजपथ

पुस्तकालय :

सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

विद्यार्थी मंच का घोषणापत्र

पढ़ना हमें संवेदनशील बनाता है, लिखना हमें संप्रेषण की क्षमता प्रदान करता है। पढ़ने-लिखने का चलन आधुनिक युग की देन है। हमारे देश में नवजागरण के विकास के साथ पढ़ने की संस्कृति का जोरदार स्वागत हुआ— पढ़ने में निष्णात व्यक्ति ही समाज में सम्मान का अधिकारी माना जाता था। सम्मानित व्यक्ति 'अपने' को अथवा उस 'निजत्व' को प्राप्त करता था जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करता था, किन्तु तब पढ़ना एक संस्कृति थी अब पढ़ना एक प्रौद्योगिकी है। कभी हमारे संस्कार में दृष्टिकोण का महत्त्व था— दर्शन का निर्धारण करना हमें विरासत से प्राप्त था परंतु आज उपभोक्तावाद की आँधी में हम जीवन-मूल्य से विलग होकर बाजार में खड़े हो गये हैं— ललक और लिप्सा हमें विक्षिप्त-सा कर रही है। ऐसे समय में अन्य ज्ञानानुशासनो की भाँति ही हिन्दी का भी, पठन-पाठन एवं अध्ययन-अध्यापन से जुड़ा एक वृहद समाज है। वर्ष दर-वर्ष एक बड़ी जमात भाषा एवं साहित्य की डिग्रियों से लैस होकर सशस्त्र सेनानी की तरह जिन्दगी की दौड़ में निकलती है— यह एक सुखद संकेत है, परंतु बेचैनी तब बहुत बढ़ जाती है जब साहित्य को सूचना की कोटि तक ही सीमित कर दिया जाता है। 'विद्यार्थी' शब्द अपने व्यापक कलेवर में अध्ययन एवं अध्यापन दोनों को समवेत रूप से समेटे हुए है। वर्तमान समय में इस शब्द ने अपने अर्थ-गाम्भीर्य को खो दिया है क्योंकि यह शब्द अपने सीमित अर्थ में छत्र होने का बोध कराने लगा है। अस्तु, 'विद्यार्थी' शब्द की व्यापकता को अंगीकार करते हुए आवश्यकता है कि हम एकजुट होकर पढ़ने-पढ़ाने की संस्कृति को विकसित करें। इसलिए विद्यार्थी मंच के निम्नलिखित संकल्पों को कार्यान्वित करने का व्रत लें—

1. साहित्य और भाषा के प्रति लोगों में अभिरुचि उत्पन्न करना।
2. विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम पर विचार विमर्श कर, गवेषणामूलक कार्यों की ओर कर विद्यार्थियों को उन्मुख करना।
3. शोध के क्षेत्र में आई निस्संगता को दूर कर गंभीर विवेचनपरक दृष्टि का विकास करना।
4. साहित्य के पाठक को जागरुक बनाना।
5. वर्तमान समय में साहित्य एवं भाषा के अध्ययन-अध्यापन से जुड़ी जितनी समस्याएँ हैं, उन पर गंभीर चिंतन, विवेचन, विश्लेषण कर समय-समय पर विमर्श स्थापित करना।
6. अध्ययन एवं अध्यापन के क्षेत्र में आई मूल्यहीनता एवं स्तरहीनता के प्रति लोगों में जागरुकता का संचार करना।
7. एक अकादमिक पत्रिका के माध्यम से साहित्यिक क्षेत्र में नवीन अनुसंधान परक सामग्री का प्रकाशन करना।
8. समय-समय पर स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्य-क्रमों को ध्यान में रखकर कार्यशाला और संगोष्ठियों का आयोजन करना।
9. विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद कार्य को विकसित करना।
10. साहित्यिक धरोहर का पुनर्मूल्यांकन एवं प्रकाशन करना।
11. सर्जनात्मक साहित्य के सर्जन एवं संचार को प्रोत्साहित करना।

अर्चना-पांडेय-

महासचिव

विद्यार्थी मंच

इस पार तक...

कवि मुक्तिबोध के निधन पर

तुम्हारी मृत्यु में
प्रतिबिम्बित है हम सबकी मृत्यु
कवि कहीं अकेला मरता है!
सूरज के साथ-साथ एक बहुत बड़ा संसार
डूब जाता है
फिर एक नये दिन को जन्म देने के लिए।
पथराती पुतलियों में
लड़खड़ाता अँधेरा
एक नये लोक का द्वार खोलता है
और उठने की शक्ति खोने से पहले
हर हाथ भविष्य को आगे ढकेल जाता है।
तुम्हारे हाथों से जुड़े हैं असंख्य हाथ
वे निष्प्राण कैसे हो सकते हैं!
बनी बनायी लीकों पर न चलनेवाले की
यात्रा का अन्त
पूर्ण विराम में कहाँ होता है!
जाते जाते भी उसकी साँस
किसी एकान्त ढाल को हिलाकर उसमें
फूल खिलता जाती है

और कहीं दुर्गम भूमि पर
एक पगडण्डी बन जाती है
जहाँ हम उसकी आत्मा को खोजते हैं।
तुम थे
हम सबके अधिक तेजस रूप
अधिक प्रखर आकृति,
तुम्हारा टूटना
हम सबके आकारों का टूटना है।
नहीं... नहीं
जीवित हैं हम सब अभी भी,
और हम सबमें जीवित हो तुम।
ये लहरें जाने कहाँ से आती हैं
जो हमारी पसलियों पर
अपने को तोड़ती चली जाती हैं,
हमें निरन्तर गढ़ती जाती हैं
तुम्हारे अनुरूप
एक ऐसी मृत्यु में
जो जीवन से दिव्य है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC, Dtd: 18/07/2014

अनन्द कुमार मिन्हा

प्रकाशक : अनन्द कुमार मिन्हा द्वारा विद्यार्थी नं. 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन, सलकिया हावड़ा-6 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित

मुद्रक: शिक्षण, 50, साराराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता 700 009

संपादक : डॉ. भीरा मिन्हा